गुरु नानक वाणी में प्रतिबिम्बित वैदिक धर्म और दर्शन का स्वरूप

VEDIC RELIGION AND PHILOSOPHY AS REFLECTED IN THE GURU NĀNAKA BĀṆĪ

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ की

डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता :

गुरमीत सिंह

विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत व भारत-भारती अनुशीलन संस्थान

पंजाब विश्वविद्यालय

होशियारपुर (पंजाब)

1987

भूमिका

ता मै कहिआ कहणु जा तुझै कहाइआ ।।

- वडहंस म॰१, छंत, गु॰ना॰र॰ 326

यह मेरा सौभाग्य रहा है कि मेरा पालन-पोषण ऐसे वातावरण में हुआ जहाँ प्रत्येक कार्य में धर्म को प्राथमिकता दी जाती है । फलतः अत्यल्पायु से ही गुरद्वारा जाना तथा गुरबाणी का पाठ करना शुरू कर दिया था । एम॰ए॰ तक पहुँचते-पहुँचते मुझे तीन-चार बार आदि ग्रन्थ का पाठ करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । इसके अतिरिक्त प्रतिदिन सायंकाल गुरद्वारा जाकर गुरबाणी का पाठ करना मेरा नित्य-कर्म बन गया । एम॰ए॰ के पाठ्यक्रम में जब उपनिषद् एवं वेद के कुछ सूक्त पढ़े तो मुझे अहसास हुआ कि वेदों में जो विचारधारा पाई जाती है, उसी तरह की विचारधारा गुरबाणी में भी पाई जाती है । आसा राग की वार में एक महत्त्वपूर्ण श्लोक है -

भै विचि पवणु वहै सद वाउ । भै विचि चालहि लख दरीआउ ।।
भै विचि अगनि कढै वेगारि । भै विचि धरती दबी भारि ।।
भै विचि इंदु फिरै सिर भारि । भै विचि राजा धरम दुआरु ।।
भै विचि सूरजु भै विचि चंदु । कोह करोड़ी चलत न अंतु ।।

- आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 278

इससे असाधारण साम्य रखने वाले मन्त्र कठोपनिषद् तथा तैत्तिरीयोपनिषद् में पाए जाते हैं -

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।। - कठो॰ 2·3·3

तथा - भीषास्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः ।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति ।। - तै॰उ॰2·8

ऋग्वेद का नासदीय सूक्त पढ़ने के पश्चात् मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मारू राग में गुरू नानक का "अरबद नरबद" वाला "सोलहा" मानो इसी सूक्त की व्याख्या करता है । धीरे-धीरे इस भाव-साम्य के प्रति मेरी जिज्ञासा में वृद्धि होने लगी । गुरबाणी में पुनः-पुनः प्रयुक्त वेद शब्द ने मेरी जिज्ञासा को और भी प्रबल कर दिया । प्रस्तुत शोध-कार्य इसी जिज्ञासा का परिणाम है ।

वेद विश्ववाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ-रत्न तथा जगत् को विश्व-बन्धुत्व की उदात्त भावना का उपदेश देने वाली भारतीय संस्कृति के प्राण हैं । इन्हें भारतीय धर्म एवं दर्शन का मूल-स्रोत होने का गौरव प्राप्त है । भारतीय धर्म में जो जीवन-शक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका मूल कारण वेद ही हैं । वेद अक्षय विचारों के मानसरोवर हैं । धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का यह सर्वश्रेष्ठ साधन हैं । इन में वह ज्ञान निहित है जो मानव को श्रेय और प्रेय, दोनों की प्राप्ति करवाता है । इसलिए अद्य-पर्यन्त भारत में जितने भी धर्मों का विकास हुआ उन्होंने किसी न किसी रूप में वेदों से अपना सम्बन्ध अवश्य जोड़ा है । जो वेद को नहीं मानता भारतीय परम्परा उसे नास्तिक पुकारती आई है ।

यहाँ मानव-जीवन में जब भी कोई विसंगतियाँ आईं, जब भी लोगों ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को विस्मृत किया, तब किसी न किसी महापुरुष का जन्म हुआ जिसने वेद-ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान-तिमिर को दूर किया । मध्यकाल में मुस्लिम राज्य की स्थापना के पश्चात् हिन्दु समाज में अनेक विकृतियाँ आ गईं जिनको दूर करने के लिए अनेक सन्त-महात्मा सामने आए। इसी परम्परा में तपःपूत वैदिक ऋषियों की चरण-रज से रंजित पंजाब की पावन भूमि (ननकाना साहिब, वर्तमान पाकिस्तान) पर गुरू नानक देव ने जन्म लिया ।

गुरू नानक देव के प्रादुर्भाव के समय भारत की अवस्था बहुत दयनीय थी । विदेशी आक्रमणकारियों के अत्याचार से लोग अति पीड़ित थे । दूसरी ओर हिन्दु समाज में मिथ्याचार, धार्मिक संकीर्णता, अन्धविश्वास एवं बाह्याचार

की प्रधानता थी । ऐसे समय में गुरु नानक ने धर्म के विकृत रूप एवं पाखण्ड को दूर करने के लिए लोगों को सही मार्ग दिखाया । उन्होंने अपनी वाणी में वैदिक धर्म एवं दर्शन के प्रति अपार श्रद्धा व्यक्त की ।

गुरु नानक की जीवनी एवं व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो ज्ञान जन्मसाखियों एवं अन्य उपलब्ध स्रोतों से प्राप्त होता है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने अधिक से अधिक दो वर्ष (सात से नौ वर्ष की आयु) तक देशीय भाषाओं का अध्ययन किया ।[1] इस से अनुमान लाया जा सकता है कि गुरु नानक ने वेदों का विधिवत अध्ययन नहीं किया था । इससे कुछ विद्वान् निष्कर्ष निकालते हैं कि उन्हें वेदों का ज्ञान नहीं था । परन्तु गुरु नानक वाणी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे वेदों के ज्ञाता थे । वेदी कुल में उत्पन्न गुरु नानक को सम्भवत: यह ज्ञान भारतीय संस्कारों के द्वारा दाय-भाग के रूप में प्राप्त हुआ था । अपने जीवनकाल में उन्होंने ऋषि-मुनियों से अनेक गोष्ठियां भी की थीं, इसलिए उनसे भी गुरु नानक को वेद सम्बन्धि ज्ञान प्राप्त हुआ होगा । इस विषय में तीसरी सम्भावना यह है कि वैदिक ऋषियों की भान्ति उन्हें भी वेद-सम्मत दार्शनिक तत्त्वों का ज्ञान समाधि की अवस्था में हुआ होगा । अस्तु यह ज्ञान उन्हें कहीं से भी प्राप्त हुआ हो उन्होंने गम्भीर चिंतन एवं मौलिक प्रतिभा के बल पर इसको नया रूप दे दिया । उन्होंने दर्शन जैसे गूढ़ एवं नीरस विषय को लोक-भाषा तथा लोक-शैली में प्रस्तुत कर उसे सरल, सरस, सुबोध एवं जनसाधारण-गम्य बना दिया । उनके मानवतावादी एवं लोक-कल्याणोन्मुखी दृष्टिकोण ने लोगों के अन्त:करण पर गहरा प्रभाव डाला जिस से जनसाधारण तीव्रगति से उनका अनुयायी बनता गया ।

वैदिक धर्म एवं दर्शन का जो रूप गुरु नानक वाणी में प्रतिबिम्बित हुआ है, उसको प्रस्तुत करना प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है । वैदिक

---

1. गुरु नानक : व्यक्तित्व कृतित्व और चिंतन, डा॰ रत्न सिंह जग्गी, पृ॰ 110-11॰

धर्म एवं दर्शन के उपर पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने अनेक कार्य किए हैं । उनके ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं । किन्तु गुरु नानक वाणी में वैदिक धर्म एवं दर्शन का जो स्वरूप है उस पर स्वतन्त्र रूप से अभी तक कोई कार्य नहीं हुआ । उसका मुख्य कारण यह रहा है कि गुरबाणी गुरमुखी में लिपिबद्ध होने के कारण संस्कृत के विद्वानों का ध्यान उधर नहीं गया । गुरु नानक की सम्पूर्ण प्रामाणिक वाणी आदि ग्रन्थ में संकलित है जिसे सिक्खमत का पंथक ग्रन्थ मानकर उस पर किसी प्रकार का समालोचनात्मक अध्ययन करने के प्रति विद्वज्जनों ने उदासीनता दिखाई है । पिछले कुछ दशकों से लेकर हिन्दी तथा पंजाबी में गुरु नानक वाणी के उपर कई शोध-कार्य हुए हैं, किन्तु वेद तथा संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण इन विद्वानों द्वारा गुरु नानक वाणी में प्रतिबिम्बित वैदिक धर्म एवं दर्शन का अध्ययन नहीं किया गया । फलस्वरूप इस दृष्टि से अब तक कुछ शोध-पत्रों के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं हुआ इस विषय में जो शोध-पत्र प्रकाशित हुए हैं उनमें 1969 में पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला से प्रकाशित खोज-पत्रिका में डा॰ धर्मेन्द्र कुमार गुप्त का "भारती चिंतन धारा अते गुरु नानक", नाम का शोध-पत्र प्रकाशित हुआ था । इसमें विद्वान् लेखक ने गुरु नानक की विचारधारा के कुछ दार्शनिक तत्त्वों पर प्रकाश डाला है । उन्होंने गुरु नानक की विचारधारा के बीज वैदिक साहित्य में खोज निकाले हैं किन्तु खोज-पत्र होने के कारण उनका यह प्रयास बहुत सीमित तथा संक्षिप्त है ।

गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर से "The Journal of Sikh Studies" Vol.VI No.I, Feb.1979 में डा॰ बी॰बी॰ चौबे का एक शोध-पत्र प्रकाशित हुआ " God of Mula Mantra and the Veda: A Comparative Study", इसमें विद्वान् लेखक ने मूलमन्त्र के एक-एक शब्द को लेकर उसकी विस्तृत व्याख्या की है । वेद तथा उपनिषदों के प्रमाण देकर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि मूलमन्त्र और वेदों में असाधारण साम्य है, परन्तु मूल मन्त्र में केवल ब्रह्म के स्वरूप का ही चित्रण हुआ है । इसलिए धर्म एवं दर्शन के शेष तत्त्व प्रस्तुत शोध-पत्र की सीमा में न आ सके । सत्य तो यह है कि गुरु नानक वाणी में प्रतिबिम्बित वैदिक धर्म और दर्शन

के स्वरूप के सम्बन्ध में अभी तक समुचित अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई थी । इसी आवश्यकता की पूर्ति की दिशा में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में निकाले गए सभी निष्कर्ष साम्प्रदायिकता से मुक्त तटस्थ अनुसन्धान के परिणाम हैं । पंजाब की वर्तमान अवस्था को देखते हुए, जबकि राजनीतिक अज्ञानतावश लोग अपनी परम्परा को भूलते जा रहे हैं, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सही वातावरण तैयार करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा । शोध-प्रबन्ध की भाषा को यथासम्भव सरल रखने का यत्न किया गया है ताकि जनसाधारण भी इससे लाभान्वित हो सकें । हमारा विश्वास है कि पंजाब-वासियों में पड़ती हुई दरार को पाटने में इस कार्य की अपनी उपयोगिता होगी ।

गुरु नानक देव जी की वही वाणी प्रामाणिक मानी जाती है जो उनके नाम से आदि ग्रन्थ में अंकित है । इसलिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उनकी उसी वाणी का ही अध्ययन किया गया है । आदि ग्रन्थ में संकलित गुरु नानक की सम्पूर्ण वाणी को डा॰ रत्न सिंह जग्गी ने सम्पादित कर "गुरु नानक रचनावली" के नाम से भाषा विभाग पंजाब, पटियाला से देवनागरी में प्रकाशित करवाया है । इसलिए आदि ग्रन्थ के साथ-साथ हमने इसे भी आधार-ग्रन्थ के रूप में ग्रहण किया है । संस्कृत-जगत् के अधिकांश विद्वान् गुरमुखी लिपि में लिखित गुरु नानक वाणी की पाठ्य सामग्री से परिचित नहीं हैं, इसलिए टिप्पणी में लगभग सभी उद्धरणों को मूलरूप में प्रस्तुत कर दिया है ।

विषय की दृष्टि से भूमिका और उपसंहार के अतिरिक्त प्रस्तावित शोध-प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय में गुरु नानक के प्रादुर्भाव के समय भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक अवस्था का अध्ययन किया गया है । इस अवस्था को सुधारने में गुरु नानक तथा उन से पूर्ववर्ती सन्तों के योगदान का विश्लेषण किया गया है । द्वितीय अध्याय में गुरु नानक वाणी में प्रयुक्त वेद शब्द पर विचार किया गया है । इसके अतिरिक्त

वेदों का कर्त्ता, वेदों की संख्या, गुरु नानक की दृष्टि में वेदों का महत्त्व तथा वेदों के पाठ के विषय में विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में धर्म का स्वरूप एवं विविध तत्त्वों का विवेचन है। गुरु नानक वाणी के आधार पर वैदिक देववाद एवं यज्ञवाद का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आचारधर्म एवं वर्णाश्रमधर्म के प्राचीन सिद्धान्तों का गुरु नानक वाणी से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में मृत्यु और परलोक, स्वर्ग और नरक, कर्म-विपाक एवं पुनर्जन्म सम्बन्धी विषयों का विश्लेषण किया गया है। पाँचवें अध्याय में वेदों के आलोक में गुरु नानक वाणी के दर्शन-पक्ष का विश्लेषणात्मक अध्ययन कर यह सिद्ध किया गया है कि इन विषयों के सम्बन्ध में गुरु नानक वैदिक विचारधारा के अनुगामी हैं। षष्ठ अध्याय में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए देखा गया है कि इस विषय में गुरु नानक की अनुभूति संहिताओं की अपेक्षा उपनिषदों के अधिक समीप है। ओम् की महिमा एवं ईश्वर-कृपा की धारणा के मूल का वेदों तथा उपनिषदों में अन्वेषण कर इसका व्यापक विश्लेषण किया गया है। अन्त में उन ग्रन्थों की सूची दी गई है जिन से आलोक प्राप्त कर मैं अपना कार्य सम्पन्न करने में समर्थ हुआ।

जिन व्यक्तियों की प्रेरणा एवं सहायता के बिना इस शोध-प्रबन्ध का लिखना सम्भव नहीं था उनके प्रति आभार प्रकट करना मेरा परमावश्यक कर्तव्य है। इस शोध-प्रबन्ध के निर्देशक, श्रद्धेय गुरूवर डा॰ बी॰बी॰ चौबे जी ने विषय-चयन से लेकर कार्य की समाप्ति-पर्यन्त मुझे मार्ग-दर्शन करवाया, प्रेरक प्रोत्साहन दिया तथा मेरी भूलों का परिमार्जन कर मुझे इस योग्य बनाया कि मैं इस कार्य को समाप्त करने में समर्थ हो सका हूँ। उनकी सहृदयता एवं उदारता सदैव मेरा पथ-प्रदर्शन करती रही है। इसके लिए मैं उनका अत्यन्ताभारी हूँ। उनके चरण-कमलों में हार्दिक श्रद्धा के सुमन अर्पित करता हुआ उनसे सदैव आशीर्वाद की आकांक्षा करता हूँ।

संस्थान के संचालक महोदय से मुझे सदा प्रेरणा एवं सहयोग प्राप्त होता रहा है। विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग ने 700 रुपये तथा अखिल भारतीय आर्य धर्म सेवा संघ, दिल्ली ने 500 रुपये की सहायता प्रदान कर

मेरी आर्थिक कठिनाईयों को कम किया । विश्वेश्वरानन्द संस्थान के प्राध्यापकों, पुस्तकालय के सदस्यों तथा प्रशासन वर्ग से मुझे जो सहायय प्राप्त हुआ उसके लिए मैं उनका आभारी हूं ।

शोध प्रबन्ध के सम्बन्ध में माननीय डा॰ मुनीश्वर देव जी से सदा ही उचित सहयोग एवं आवश्यक निर्देश प्राप्त होते रहे हैं । डा॰ गिरीश चन्द्र ओझा एवं डा॰ त्रिलोचन सिंह विन्द्रा जी से मुझे विशेष सहयोग प्राप्त हुआ । सन्त सेवा सिंह जी (रामपुर खेड़ा, ज़िला होशयारपुर) से मुझे आवश्यक निर्देश एवं सौहार्दपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है।उन्होंने गुरु नानक वाणी से सम्बन्धि मेरी अनेक शंकाओं का समाधान किया जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूं ।

परमादरणीय गुरु, प्रो॰ सुरेन्द्र कुमार शर्मा (कार्यवाहक प्रिंसीपल, जे॰सी॰डी॰ए॰वी॰ कालेज, दसूहा) सदा ही मेरे प्रेरणा स्रोत रहे हैं । शोध-प्रबन्ध के अतिरिक्त भी अब-पर्यन्त मैं अपने जीवन में जो कुछ भी कर पाया हूं, उन्हीं की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन का फल है ।

इस शोध-प्रबन्ध की पूर्णता का वास्तविक श्रेय मेरे परिवार के सदस्यों को जाता है जिनकी प्रेरणा एवं स्नेह के अभाव में इस कार्य को सम्पन्न करना सरल नहीं था । इस सम्बन्ध में अपनी अनुजा कुलवन्द कौर का विशेष रूप से आभारी हूं ।

इसके अतिरिक्त मैं डा॰ पी॰एस॰ राणा, श्री के॰एस॰ मन्हास एवं उन सभी मित्रों एवं सहयोगियों का अनुगृहीत हूं जिन्होंने इस कार्य में मुझे सहयोग दिया । इस शोध-प्रबन्ध के लेखन में उन सभी ग्रन्थों से सहायता ली है जिनका सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची में उल्लेख है । मैं उन सभी विद्वानों का ऋणी हूं । श्री श्रीकान्त भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने सुन्दर एवं कुशल ढंग से इस शोध-प्रबन्ध को टंकित किया ।

गुरमीत सिंह

(गुरमीत सिंह)

- - - - - -

विषय-सूची

		पृष्ठ
भूमिका		एक से सात
संक्षेप-सूची		i-ii
प्रथम अध्याय -	गुरु नानक के प्रादुर्भाव के समय भारत की अवस्था	1-60
	पश्चिमी भारत पर विदेशियों के निरन्तर आक्रमण	1
	1.1 गुरु नानक-पूर्व भारत की सामाजिक अवस्था	8
	वर्ण व्यवस्था	11
	वर्ण व्यवस्था के विषय में गुरु नानक का दृष्टिकोण	12
	आश्रम व्यवस्था	13
	आश्रम व्यवस्था के विषय में गुरु नानक का दृष्टिकोण	13
	नारी की दशा	15
	नारी : गुरु नानक की दृष्टि में	16
	श्राद्ध	17
	श्राद्ध के विषय में गुरु नानक का दृष्टिकोण	17
	सूतक	18
	गुरु नानक की दृष्टि में सामाजिक रीति-रिवाज़ों का औचित्य	20
	1.2 सांस्कृतिक अवस्था	21
	रास आदि स्वांगों के प्रति गुरु नानक का दृष्टिकोण	27
	गुरु नानक का दृष्टिकोण	30
	गुरु नानक की शिक्षा विषयक दृष्टि	33
	1.3 राजनीतिक अवस्था	36
	गुरु नानक की दृष्टि में बाबर के आक्रमण कालीन स्थिति का वर्णन	41
	गुरु नानक पर तत्कालीन स्थिति का प्रभाव	42

		पृष्ठ
	1•4 गुरु नानक पूर्व सन्तों का योगदान	44
	शंकराचार्य	46
	रामानुज	46
	स्वामी रामानन्द	46
	भक्त नामदेव	47
	भक्त त्रिलोचन	49
	गुरु रविदास	49
	महाप्रभु चैतन्य	51
	गोरखनाथ	52
	महात्मा कबीर	53
द्वितीय अध्याय -	गुरु नानक और वेद	61-88
	2•1 गुरु नानक वाणी में प्रयुक्त वेद शब्द	61
	2•2 वेदों का कर्त्ता	65
	2•3 वेदों की संख्या	68
	2•4 वेदों का महत्त्व	75
	2•5 वेदों का पाठ	83
तृतीय अध्याय -	वैदिक धर्म और गुरु नानक वाणी	89-183
	3•1 धर्म का स्वरूप	89
	3•2 धर्म के विविध तत्त्व	98
	सत्य	99
	श्रद्धा	105
	तेप	107
	शौच	109
	धी	115
	अहिंसा	119
	यज्ञोपवीत (जनेउ)	124
	अशौच (सूतक)	129
	श्राद्ध	131
	तीर्थ	137
	तीर्थों की संख्या	140
	धर्म तीर्थ	141
	आत्मा तीर्थ	141
	गुरु तीर्थ	142
	हरि-नाम तीर्थ	143

		पृष्ठ
3·3	देववाद का स्वरूप	143
3·4	यज्ञवाद	151
3·5	आचार धर्म	155
	ऋत	157
	सत्यं वद	158
	धर्माचरण	158
	पाप न करना	159
3·6	वर्णाश्रम धर्म	161
	आश्रम धर्म	168
	ब्रह्मचर्य	170
	गृहस्थाश्रम	171
	देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, ब्रह्मयज्ञ	174
	वानप्रस्थाश्रम	176
	संन्यासाश्रम	178
चतुर्थ अध्याय -	वैदिक परलोकवाद और गुरु नानक वाणी	184-232
4·1	मृत्यु और परलोक	184
	परलोक	190
4·2	स्वर्ग और नरक	195
	नरक	200
4·3	कर्म-विपाक	205
	नित्य-कर्म	209
	नैमित्तिक-कर्म	209
	काम्य-कर्म	210
	गुरु नानक वाणी में कर्म-विपाक	211
	शारीरिक कर्म, मानसिक कर्म	214
	कर्म-काण्डीय कर्म	214
	अहं-युक्त कर्म या मनहठ कर्म	215
	त्रिगुणात्मक कर्म	215
	हरि-कीर्ति कर्म	215
	आध्यात्मिक कर्म	216
	हुक्म-रजाई कर्म	217
	परमात्मा का हुक्म	217
	कर्मों की गणना	218
	कर्म-बन्धन तोड़ा जा सकता है	219
4·4	पुनर्जन्म	221

पंचम अध्याय - वैदिक दर्शन और गुरु नानक वाणी

5•1 दर्शन का अर्थ
5•2 वैदिक दर्शन का स्वरूप
5•3 सृष्टिवाद
सृष्टि-रचना से पूर्व की अवस्था
ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति 248
परमात्मा के हुक्म से सृष्टि की उत्पत्ति 252
सृष्टि-प्रक्रिया 255
सृष्टि रचना का समय 260
सृष्टि अनन्त है 261
सृष्टि का अन्त 264
5•4 माया 266
5•5 जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध 277
5•6 मोक्ष का स्वरूप 285
जीवन्मुक्त 293
गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित मोक्ष का स्वरूप 295
5•7 मोक्ष-प्राप्ति के साधन 300
कर्म से मोक्ष 301
योग द्वारा मोक्ष 304
ज्ञान मार्ग 308
गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित मोक्ष के साधन 312

षष्ठ अध्याय - ब्रह्म का स्वरूप और गुरु नानक वाणी 322-378

6•1 गुरु नानक वाणी में ब्रह्म का स्वरूप 322
गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप 327
।{एक} 327
ओंकार 330
सतिनामु 334
करता {कर्त्ता} 336
पुरखु {पुरुष} 337
निरभउ {निर्भय} 345
निरवैर {निर्वैर} 348

पृष्ठ

	अकालमूरति (अकालमूर्ति)	349
	अजूनी (अयोनि)	351
	सैभं (स्वयंभू, स्वयंभव, स्वयंभा)	353
	सर्वशक्तिमान	356
	दाता	358
	निरंकार (निराकार)	360
	निर्गुण	361
	सगुण	366
6·2	ओम् की महिमा	369
6·3	ईश्वर-कृपा	373

उपसंहार 379-386

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची 387-399

= = = = = =

संक्षेप-सूची

अथर्ववेद	अथर्व॰
अनुवादक	अनु॰
असटपदी (अष्टपदी)	अस॰
आदि ग्रन्थ	आ॰ग्र॰
ईशोपनिषद्	ईशो॰
ऋग्वेद	ऋ॰
ऐतरेयोपनिषद्	ऐ॰उ॰
ऐतरेय ब्राह्मण	ऐ॰ब्रा॰
कठोपनिषद्	कठो॰
केनोपनिषद्	केनो॰
गुरु नानक रचनावली	गु॰ना॰र॰
छान्दोग्योपनिषद्	छान्दो॰
जैमिनीय ब्राह्मण	जै॰ब्रा॰
ताण्ड्य ब्राह्मण	ता॰ब्रा॰
तैत्तिरीयोपनिषद्	तै॰उ॰
तैत्तिरीय ब्राह्मण	तै॰ब्रा॰
तैत्तिरीय संहिता	तै॰सं॰
निरुक्त	निरु॰
प्रश्नोपनिषद्	प्रश्नो॰
पृष्ठ, Page	पृ॰, p॰
बृहदारण्यकोपनिषद्	बृहद्॰
मनुस्मृति	मनु॰
महला (प्रत्येक गुरु की क्रमसंख्या का द्योतक शब्द)	म॰
माण्डूक्योपनिषद्	माण्डू॰
मुण्डकोपनिषद्	मुण्ड॰
मुद्गलोपनिषद्	मु॰उ॰

यजुर्वेद	यजु॰
शतपथ ब्राह्मण	शत॰ब्रा॰
श्वेताश्वतरोपनिषद्	श्वेता॰
सम्पादक	संपा॰
सोलहा	सो॰

= = = = = =

प्रथम अध्याय

गुरु नानक के प्रादुर्भाव के समय भारत की अवस्था

पश्चिमी भारत पर विदेशियों के निरन्तर आक्रमण

आदिकाल से ही भारत एक समृद्ध और वैभवशाली देश रहा है। इसके वैभव को देखकर ही इसे "सोने की चिड़िया" कहा जाता था। इसकी समृद्धि को देखकर विदेशी हमेशा इसकी ओर ललचाई दृष्टि से देखते रहे। इसी कारण प्राचीन काल से इस देश पर विदेशी आक्रमण होते रहे हैं। सर्वप्रथम सिकन्दर (327 से 325 ई॰ पूर्व)[1] ने भारत पर आक्रमण किया। उसके आक्रमण के समय भारतवर्ष में पोरस जैसे महान् शूरवीर राजा थे जिन्होंने डट कर उसका विरोध किया। यद्यपि छोटे-छोटे राज्यों में बंटे होने के कारण तथा आपसी मत-भेद के कारण कुछ ने तो सिकन्दर के साथ सन्धि कर ली, किन्तु कई राजा सिकन्दर के सामने डटे रहे। इन में सर्वप्रथम अस्सकेनोई (Assakenoi) जाति के लोगों ने सिकन्दर का सामना किया। इन के पास एक बहुत सुदृढ़ दुर्ग था जिसने सिकन्दर की सेना को चक्र में डाल दिया था। सिकन्दर ने दुर्ग के बाहर से ही उन लोगों को दुर्ग छोड़ कर चले जाने को कहा और उन पर आक्रमण न करने का वचन दिया, परन्तु दुर्ग छोड़ने पर अपने वचन के विरुद्ध उन पर आक्रमण कर दिया। इस प्रकार सिकन्दर ने धोखे से उन को मारना चाहा, परन्तु उन थोड़े से वीरों ने सिकन्दर की सेना को मुँह तोड़ उत्तर दिया। यहाँ तक कि सिपाहियों की मृत्यु होने पर उन के शस्त्र स्त्रियों ने उठा लिए और बहुत निर्भयता के साथ सिकन्दर की सेना का सामना किया, परन्तु सिकन्दर की विशाल सेना को वे पराजित न कर सके। दिओदोरस के कथनानुसार "इन लोगों ने शानदार मृत्यु प्राप्त की जिसके बदले में वे अपयश लेना पसन्द नहीं करते थे।[2] निःसन्देह इस घटना ने सिकन्दर की वीरता एवं सन्धि के सत्कार तथा सन्धिभावना पर कलंक लगा दिया। प्लूटारक के कथनानुसार "यह घटना उसकी सैनिक प्रसिद्धि पर

---

1. भारत का इतिहास, को॰अ॰ अंतोनोवा, पृ. 783 अनु॰ नरेश वेदी
2. प्राचीन भारत का इतिहास, आर॰एस॰ त्रिपाठी, पृ. 96 से उद्धृत अनु॰ गुरबचन सिंह।

एक गन्दा धब्बा है ।"[1]

इसके पश्चात् जेहलम के किनारे सिकन्दर का पोरस की सेना से सामना हुआ । उस ने एक तूफानी रात में पोरस की सेना पर धावा बोला । परन्तु पोरस की सेना ने उसे मुंह तोड़ जबाव दिया । दुर्भाग्यवश वर्षा हो गई और दलदल में पोरस के रथ न चल सके, किन्तु पोरस ने फिर भी साहस न छोड़ा । उसके शरीर पर नौ घाव हो गए थे, फिर भी वह शत्रु की सेना का डट कर सामना करता रहा । लेकिन भाग्य ने उसका साथ न दिया । उस के अपने ही हाथी, जिन पर पोरस को गर्व था, पीछे की ओर मुड़ पड़े जिससे पोरस की सेना में भगदड़ मच गई, फलस्वरूप पोरस को सिकन्दर के सैनिकों ने कैद कर लिया । पराजित होने पर भी पोरस के बहादुर योद्धाओं ने सिकन्दर के सैनिकों के मन में एक भय पैदा कर दिया और आगे आने वाले खतरों के प्रति उन्हें सजग कर दिया । जब उन्होंने गङ्गा के दूसरे किनारे गङ्गारिदायियों की वीर जातियों की सैन्य शक्तियों के विषय में सुना तो उन्होंने लड़ने से इन्कार कर दिया । सिकन्दर के सैनिकों ने एकत्र होकर विचार किया, "जिसमें एक सीमा में रहने वाले संयमी आदमी अपनी दशा पर रोए तथा शेष लोगों ने स्पष्ट कह दिया कि वे आगे नहीं बढ़ेंगे चाहे सिकन्दर स्वयं भी उनका नेतृत्व क्यों न करे।"[2] इस विषय में दिओदोरस भी लिखता है कि भारत की सब से बड़ी जाति गङ्गारिदायी थी, जिसके विरुद्ध सिकन्दर ने/उसके हाथियों की संख्या के डर से चढ़ाई न की ।[3] अत: सिकन्दर वहाँ से आगे नहीं बढ़ा तथा अपने देश की ओर लौट पड़ा ।

सिकन्दर के आक्रमण के समय पाटलिपुत्र में मगध राज्य पर नन्द वंश का शासन था । इसके पास विशाल सेना एवं सम्पत्ति थी । परन्तु सिकन्दर के चले जाने पर भारत की राजनीति के आकाश में एक नए सितारे का उदय हुआ, जो मौर्य वंश का प्रथम शासक चन्द्रगुप्त (317-293 ई॰ पूर्व)[4] था ।

---

1. प्राचीन भारत का इतिहास, आर॰एस॰ त्रिपाठी, पृ॰ 96 से उद्धृत ।
2. उपरिवत, पृ॰ 105 से उद्धृत ।
3. उपरिवत, पृ॰ 106 से उद्धृत ।
4. भारत का इतिहास, को॰अ॰ अंतोनोवा, पृ॰783

उस ने नन्द वंशीय राजाओं एवं सिकन्दर द्वारा भारत में छोड़ी गई यूनानी सेनाओं को पराजित कर राज्य सत्ता प्राप्त की । चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद 293 से 268 ई॰ पूर्व तक उस के पुत्र विन्दुसार ने राज्य किया ।[1]

विन्दुसार के पश्चात् सम्राट अशोक (268 से 232 ई॰ पूर्व)[2] ने भारत वर्ष पर एक महान् साम्राज्य की स्थापना की । बाद में इसका बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित कलिंग राज्य के साथ युद्ध हुआ, जिसमें एक लाख से अधिक लोग मारे गए । इस नरसंहार ने अशोक के भीतर छिपे मानव हृदय पर गहरी चोट की तथा उसे हिलाकर रख दिया । जिसके फलस्वरूप उसने न केवल स्वयं ही बुद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया परन्तु दूर दूर तक इसका प्रचार एवं प्रसार किया ।

180 से 68 ई॰ पूर्व तक शुंग वंश का राज्य रहा । 68 से 22 ई॰ पूर्व तक कण्व वंश ने राज्य किया ।[3] ततः प्रथम शताब्दी में कुषाण साम्राज्य की स्थापना हुई । कुषाणों में सबसे शक्तिशाली राजा कनिष्क हुआ । कुषाण साम्राज्य के पतन के बाद भारत में राजनीतिक विखण्डन का एक नया दौर आया जो चौथी शताब्दी के आरम्भ तक चलता रहा । चौथी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य की स्थापना हुई । गुप्तों में चन्द्रगुप्त द्वितीय (380-413 ई॰)[4] जो कि विक्रमादित्य की उपाधि से विभूषित हुआ, सबसे शक्तिशाली राजा हुआ । इस का युग भारत का स्वर्णिम युग था । उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों में स्कन्दगुप्त के राज्यकाल (457 से 460 ई॰)[5] के आसपास हूणों ने भारत पर आक्रमण कर दिया ।

विक्रमादित्य के बाद भारतवर्ष पर हर्षवर्धन (606-647 ई॰)[6] का राज्य ऐसा हुआ जिसने भारत के बहुत बड़े भाग को अपने अधिकार में रखा । फिर भी इसका राज्य मौर्य एवं गुप्त साम्राज्य की अपेक्षा कम ही था ।

---

1. भारत का इतिहास, को॰अ॰ अंतोनोवा, पृ॰783
2. वही
3. वही
4. वही, पृ॰784
5. वही, पृ॰163
6. वही

हर्षवर्धन के पश्चात् भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया जिनमें से मुख्य गुर्जर-प्रतिहार राज्य क्षेत्र में परमारों, चंदेलों, गहलोलों, चौहानों और चालुक्यों के स्वतन्त्र राज्य पैदा हो गए थे। इसी प्रकार पाल राज्य भी कई भागों में विभक्त हो गया था। इसके अतिरिक्त कलचूरी, राष्ट्रकूट, पल्लव, पाण्ड्य, चोल तथा गहड़वालों आदि के अनेकों राज्य स्थापित हो गए थे।[1]

इतना होते हुए भी ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत पर कोई भी सफल विदेशी आक्रमण नहीं हुआ था। जो छोटे-मोटे आक्रमणकारी आए वे भारत में लूट-पाट के पश्चात् चले गए। भारत की संस्कृति पर इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा।

पाँचवीं छठी शताब्दी तक भारत में बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार था। परन्तु छठी शताब्दी के बाद बौद्ध धर्म का पतन एवं हिन्दु धर्म के प्रभुत्व के उत्थान का समय आया। हिन्दु धर्म में सभी संस्कार और देवोपासना होती थी। देवताओं में सर्वाधिक विष्णु और शिव की पूजा होती थी। शिव के साथ-साथ उसकी पत्नी, शक्ति की भी पूजा होती थी। उस समय तन्त्र का भी प्रचार था और वह सर्वाधिक निम्न जातियों और अनार्य कबीलों में था।

छठी से दशम शताब्दी तक समुद्र-तटीय प्रदेशों, विशेषकर बन्दरगाहों में जैन धर्म सब से अधिक प्रचलित था। आठवीं शताब्दी में भक्ति मार्गियों ने इसके विरुद्ध संघर्ष किया। इस प्रकार धीरे-धीरे जैन धर्म का भी प्रचार कम होने लगा।

ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्था पर किसी तरह का भी विदेशी प्रभाव नहीं पड़ा। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही भारत पर उत्तर से मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गए। बारहवीं सदी के अन्त में बड़े-बड़े भारतीय प्रदेशों पर विदेशियों ने अधिकार करना शुरू कर दिया था। परिणाम स्वरूप भारत में सर्वथा नई स्थिति शुरू हो गई।

---

1. भारत का इतिहास, को॰अ॰ अंतोनोवा, पृ॰245-46

यद्यपि भारत पर पहले भी कुछ आक्रमण हो चुके थे, तथापि सर्वप्रथम सफल आक्रमण महमूद गज़नी (998-1030 ई॰) ने किया । इसका प्रथम आक्रमण पंजाब पर था । इसके पश्चात् महमूद ने ठेठ 1026 ई॰ तक हर सर्दियों में भारत पर नियमित रूप से धावे बोले । डा॰ जयशंकर मिश्र के अनुसार "1024 ई॰ में महमूद ने पंजाब को अपने राज्यान्तर्गत कर लिया था और 1021-22 ई॰ से ही पंजाब में सुल्तान महमूद का शासन प्रारम्भ हो गया था ।"[1] अपने इन आक्रमणों में वह मन्दिरों को नष्ट करता, राजाओं की विपुल सम्पदाओं को लूटता और आबादी से हरजाने वसूल करता तथा यह सब कुछ लेकर लौट जाता । महमूद ने सोमनाथ से लेकर पूर्व में गङ्गा की घाटी में कन्नौज तक के विस्तृत क्षेत्र में छापे मारे । इसका वर्णन पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने "शिवराज विजय" नामक अपने गद्य काव्य में किया है । "महमूद प्रजा को लूट कर, मन्दिरों को गिरा कर, प्रतिमाओं को तोड़कर, सैकड़ों लोगों को दास बनाकर, सैकड़ों ऊंटों पर रतनों को लाद कर स्वदेश ले गया । इस प्रकार ज्ञातास्वाद उसने बार-बार बारह बार आकर भारत को लूटा । अपने उन्हीं आक्रमणों में एक बार उसने गुजरात प्रादेश के चूड़ामणि, सोमनाथ तीर्थ को भी धूलि में मिला दिया ।"[2]

महमूद गज़नी के विषय में डा॰ जयशंकर मिश्र लिखते हैं "वह इस्लाम जगत् का महान् योद्धा, सर्वोच्च सेनापति, प्रतिभा सम्पन्न सैन्य संचालक, दृढ़ निश्चयी, अतुलनीय साहसी और कट्टर मुसलमान था ।"[3] "इस्लाम जगत् के लिए महमूद गज़नी संसार का सब से बड़ा योद्धा, मेधावी विजयता, सैन्यसंचालक और युद्ध-दक्ष भले ही हो, किन्तु भारत के लिए वह प्रथम कोटि

1॰ ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ॰ 14

2॰ स च प्रजाः विलुण्ठ्य, मन्दिराणि निपात्य प्रतिमाविभिद्य परशतान् जनांश्च दासीकृत्य, शतशः उण्ट्रेषु रत्नान्यारोप्य स्वदेशमनैषीत् ।
एवं स ज्ञातास्वादः पौनः पुन्येन द्वादशवारमागत्य भारतमलुण्ठत् ।
तस्मिन्नेव च स्वसंरम्भे एकदा गुर्जरदेशचूडायितं सोमनाथतीर्थमपि धूलीचकार ।
- शिवराज विजय, प्रथम निश्वास

3॰ ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ॰69

का लोलुप-लुटेरा और धर्मान्ध आक्रामक था । उसने भारत की सुख-संवृद्धि को आग लगाकर पूर्ण रूप से विनष्ट कर दिया और धन सम्पत्ति की अपार राशि अपने साथ लेजाकर भारत को कङ्गाल बना डाला । उसने अपनी धर्मनिष्ठ बर्बरता और कट्टरता से संस्कृति और सभ्यता की अग्रणी उस महान् हिन्दु जाति को ऐसा आघात पहुंचाया जो अत्यन्त घातक और विपत्तिपूर्ण सिद्ध हुआ ।"[1] संक्षेप में कहा जा सकता है कि "निश्चय ही, अनवरत आक्रमणों ने भारतीय राजनीतिक सामाजिक धार्मिक और आर्थिक स्थिति को पूर्णतः जर्जर कर दिया । देश का समस्त वैभव नष्ट-भ्रष्ट हो गया । भारतीय संस्कृति का जो कुछ भी अवशेष सुल्तान महमूद से बचा उसे परवर्ती मुसलमान आक्रामकों ने समाप्त प्राय कर दिया ।"[2]

इसके पश्चात् मुहम्मद ग़ोरी ने भारत पर आक्रमण किया । एक बार तो उसे पृथ्वीराज चौहान से पराजित होना पड़ा परन्तु अगले वर्ष ही उसने पृथ्वीराज चौहान को पराजित कर भारत के बहुत बड़े भूभाग पर अपना अधिकार कर लिया ।

ग़ोरी के बाद भारत पर गुलाम वंश का राज्य आया । इनके राज्य में भी एक बार जलालुद्दीन ने भारत को लूटा तथा कुछ छुट-पुट आक्रमण मंगोलों ने भी किए परन्तु राज्यसत्तापर गुलाम वंश का ही अधिकार रहा ।

इसके बाद जलालुद्दीन को मारकर दिल्ली के सिंहासन पर उसका दामाद अलाउद्दीन (1296-1316)[3] आरूढ़ हुआ । वह बहुत दृढ़ संकल्प एवं कठोर शासक था । वह लोगों से फसल का आधा भाग लगान के रूप में लेता था । इसने हिन्दुओं का हथियार धारण करना, बढ़िया कपड़े पहनना और घोड़े पर चढ़ना निषिद्ध कर दिया । ये कदम अधिक कट्टर मुसलमानों को सन्तुष्ट करने के लिए किए गए थे ।

इसके पश्चात् 1413[4] ई॰ तक तुगलक वंश ने राज्य किया । उसके

---

1. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ॰77
2. वही, पृ॰78
3. भारत का इतिहास, को॰अ॰ अन्तोनोवा, पृ॰266
4. वही, पृ॰270

साम्राज्य पर तैमूर की सेना ने सबसे बड़ा प्रहार किया । उसके विषय में को॰अ॰ अन्तोनोवा लिखते हैं, "तैमूर ने अपनी सेना के साथ भारतवासीयों को अपनी निर्दयता से आतंकित करने के वास्ते कूच किया । स्थानीय आबादी का कत्लेआम करवाने के पश्चात् वह उनके मुण्डों की मिनारें चुनवा दिया करता था ।" तैमूर ने यह सुनिनिश्चत करने के लिए कि कोई भी भविष्य में उसका विरोध करने का साहस न करे, उत्तरी भागों से बनाए गए लाखों कैदियों को दिल्ली के बाहर बे-रहमी से मरवा डाला । दिल्ली का सुलतान राज्य छोड़कर गुजरात भाग गया । उसकी सेना ने दिल्ली में कई दिन तक अविराम लूट मार की । इसके पश्चात् हज़ारों कैदियों और बहुत सा लूट का माल लेकर तैमूर समरकन्द वापिस चला गया ।[1]

1414 से 1451 तक सैयद वंश ने भारत पर राज्य किया । इस के राज्य में भी वही कुछ होता रहा । लोगों से बलपूर्वक कर एवं लगान लिया जाता था ।

1451 में लोदी वंश के प्रथम राजा बहलोल लोदी ने आलमशाह को सत्ताच्युत कर गद्दी हासिल कर ली । गुरु नानक देव जी के जन्म (1469 ई॰) के समय तक दिल्ली पर उसी का राज्य रहा ।

इतने अधिक विदेशी आक्रमणों तथा चिरकाल से विदेशी शासन के कारण ही गुरु नानक देव जी के प्रादुर्भाव के समय भारत में राजनैतिक अशान्ति, आपसी फूट तथा अत्याचार का बोल-बाला था । देश एक गहरे संकट में डूब रहा था । उस समय समाज में उथल पुथल मची हुई थी तथा समाज में पण्डित और मौलवी लोगों का बोलबाला था । ये धर्म का पोषण नहीं करते थे बल्कि विक्रय करते थे । ये लोगों को धर्म नहीं सिखाते थे परन्तु बाह्य चिन्हों पर स्वयं बल देकर उन्हें चलने के लिए प्रेरणा देकर अधर्मी बनाते थे । उनकी मनोवृत्ति साम्प्रदायिक एवं ढोंगी थी । इन्होंने भगवान् को भुला दिया था और ये लालची स्वार्थी तथा निर्दयी हो गए थे ।

---

1. भारत का इतिहास, को॰अ॰ अन्तोनोवा, पृ॰270-71

इस स्थिति का वर्णन करते हुए श्री लाल सिंह लिखते हैं । जब गुरु नानक देव जी ने जन्म लिया उस समय मानव समाज का ताना-बाना काफी उलझा हुआ था । राजनैतिक क्षेत्र में अत्याचार की प्रधानता थी । धार्मिक क्षेत्र में पाखण्डी अगुवा लूट मचा रहे थे, भातृ-भाव की जातीय अभिमान ने नष्ट भ्रष्ट कर रखा था और नसली तथा लैंगिक भेदभाव स्त्री जाति पर घोर अत्याचार ढा रहे थे ।[1] उस समय लोग मायूस, अशान्त तथा दबे हुए थे । श्री विश्वनाथ तिवाड़ी के शब्दों में "गुरु नानक देव जी का समय तथा समाज राजनैतिक दृष्टि से अशान्ति का युग था । सामाजिक क्षेत्र में अन्धविश्वास, भेष तथा भ्रम था, आर्थिक दृष्टिकोण से मज़बूर, धर्मों में तनाव तथा सभ्यचारिक पड़ाव में मायूसी थी । समाज में गुलामी, गरीबी तथा मजबूरी थी । राजे, राजप्रबन्धक तथा जागीरदार विलासी थे तथा लोग मज़बूर थे ।[2] ऐसी अवस्था को गुरु नानक सहन न कर सके । उन्होंने ऐसे समाज, राजप्रबन्ध एवं धर्म के ठेकेदारों के विरुद्ध आवाज़ उठाई, वे प्रथम संत थे जिन्होंने अत्याचारी शासकों को ललकारा तथा जुल्म और सम्प्रदायिकता के विरुद्ध आवाज़ उठाई ।

(1.1) गुरु नानक पूर्व भारत की सामाजिक अवस्था

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । समाज के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है । मनुष्य की समष्टि को ही समाज कहा जाता है । मनुष्य के व्यवहार से समाज का स्वरूप निर्मित होता है । सामान्यत: यह बात देखने में आई है कि जब भी मनुष्य ने अपने कर्तव्य को नहीं पहचाना, तब समाज अव्यवस्थित हुआ तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन जड़ हुआ । गुरू नानक के प्रादुर्भाव के समय समाज की स्थिति बहुत कुछ वैसी ही थी । इसका वर्णन करते हुए गुरु नानक वाणी में बताया गया है कि उस समय लोगों का आचरण पतित हो गया था । असत्य वादन, उत्कोच लेना तथा दूसरों का हक (हराम)

---

1. विश्वज्योति, नवम्बर 1969 संपा० आचार्य विश्वबन्धु
2. क्रान्तिकारी गुरू नानक, पृ० 119

खाना आम बात थी । यहाँ ही समाप्ति नहीं ऐसे लोग दूसरों को उपदेश देने जाते थे ।[1] उस समय लज्जा और धर्म दूर भाग गए थे तथा चारों ओर असत्य की प्रधानता थी ।[2] सारंग की वार में गुरु नानक तत्कालीन समाज की वास्तविक झांकी प्रस्तुत करते हुए बताते हैं कि "स्त्रियाँ मूर्ख हो गई हैं और पुरुष शिकारी जालिम हो गए हैं । शील, संयम और पवित्रता छोड़कर खाद्य-अखाद्य खाने लग गए हैं । शर्म उठ कर अपने घर चली गई है तथा उसके साथ ही प्रतिष्ठा भी लुप्त हो गई है ।"[3]

गुरु नानक देव जी के प्रादुर्भाव के समय का समाज धर्मों के प्रभाव के कारण मुख्यत: दो भागों में विभक्त था - (1) मुसलमानी समाज, (2) हिन्दु समाज । दूसरे शब्दों में तत्कालीन समाज शासक वर्ग एवं शासित वर्ग में विभक्त था । शासक वर्ग के अन्तर्गत मुसलमान बादशाह एवं मुसलमानी समाज था । शासित वर्ग में हिन्दु समाज ही मुख्य रूप में था । धार्मिक संकीर्णता के कारण दोनों वर्ग ही धर्म की मूलभूत मान्यताओं को भूलकर साम्प्रदायिकता के कूँए में गिर गए थे । इस का प्रभाव सामाजिक संगठन पर पड़ना आवश्यक ही था ।

गुरु नानक देव के समय जहाँ धर्म अधोगति की ओर जा रहा था, वहाँ समाज में वर्ण-संकरता का राज्य था । चारों ओर पाखण्ड, ढोंग तथा बाह्याडम्बर का बोल-बाला था । अन्धविश्वास, कुरीतियाँ तथा सिद्ध-योगियों की कुरूपता एवं भ्रष्टाचार का भैरव नाच हो रहा था । हिन्दु

---

1. कूड़ु बोलि मुरदारु खाइ । अवरी नो समझावणि जाइ ।
   मुठा आपि मुहाए साथै । नानक ऐसा आगू जापै ।।
   - माझ म॰1, वार, गु॰ना॰र॰106
2. सरम धरम का डेरा दूरि ।
   नानक कूड़ रहिआ भरपूरि ।। - आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰300
3. रंना होईआ बोधीआ पुरस होए सईआद ।
   सील संजमु सुच भंनी खाणा खाजु अहाजु ।।
   सरमु गइआ घरि आपणे पति उठि चली नालि ।
   नानक सचा एकु है अवरु न दूजा भालि ।। - सारंग म॰1, वार, गु॰ना॰र॰,692

समाज अनेक जातियों में बंटा हुआ था । हकूमत की ओर से इन के साथ वरताव भी निम्नकोटि के लोगों जैसा किया जाता था ।[1]

लोगों के सामाजिक जीवन का वर्णन करते हुए बाबर ने लिखा है, "लोग सुन्दर और उदार नहीं हैं, उन्हें मैत्री-पूर्ण संगति के, दूसरों से दिल खोलकर मिलने के और घनिष्ट वार्तालाप के गुणों और आकर्षण का कुछ पता नहीं है । इन में कोई प्रतिभा नहीं है, बुद्धि नहीं है, व्यवहार में नम्रता नहीं है, उनके पास न अच्छे घोड़े हैं, न अच्छा मांस है, न अच्छे फल हैं, न वर्फ है, न ठण्डा पानी है । बाज़ारों में अच्छा खाना नहीं है, न रोटी है, न स्नानगृह हैं, न विद्यालय हैं , न बत्ती है न मशालें हैं, यहाँ तक कि मोमबत्ती तक नहीं है । उनके पास गन्दे लोगों का गिरोह है, जिसे वे देवता कहते हैं । उनके किसान और नीचवर्ग के लोग नंगे घूमते हैं । वे कपड़े का एक टुकड़ा लपेटते हैं जिसे वे लंगोटी कहते हैं । उनकी स्त्रियाँ भी लांग पहनती हैं, जिसका एक सिरा वे कमर में बांधती हैं और दूसरे से सिर ढकती हैं ।"[2] "तज़ुके बावरी" में उस ने लिखा है कि हिन्दु माल-विभाग के निम्न स्तर के कर्मचारी, दस्तकार तथा कारीगर कीर्मियों का काम करते थे । वे पूजा पाठ करने के लिए स्वतन्त्र नहीं थे । युद्धों में अधिकतर क्षति हिन्दुओं को उठानी पड़ती थी । कठोरता को सहते-सहते हिन्दु मन कमज़ोर हो गया था । खुदगर्ज़ी के कारण वे स्वाभिमान लगभग खो चुके थे ।[3]

बावर के उपरोक्त विचारों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस समय हिन्दु लोगों को कोई अच्छी नौकरी नहीं प्राप्त थी । वे अधिकतर छोटी-मोटी नौकरी या मेहनत मज़दूरी का काम करते थे, उस पर भी दिन रात उन्हें लूटा जाता था, उन पर तरह-तरह के कर लगाए जाते थे । जैसा कि बावर ने ही लिखा है युद्ध में भी अधिकतर क्षति हिन्दुओं की होती थी । फिर भी उन से अच्छे वस्त्र या रहन-सहन के उच्च-स्तर की उम्मीद कैसे की

---

1. आलोचना, गुरु नानक अंक, आशानन्द वोहरा, पृ॰475
2. किंग बाबर्स मेमोयर्स, पृ॰241
3. गुरु ग्रन्थ साहिब विच संकलित गुरु नानक वाणी विच भारती समाज दा चित्रण, डा॰ देविन्दर दीप, पृष्ठ 305 से उद्धृत ।

जा सकती थी । विदेशी शासकों ने हिन्दुओं के शस्त्र तथा घोड़े आदि रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। हिन्दु देवताओं में भी उनका विश्वास नहीं था तभी तो वे इन्हें "गन्दे लोगों का समूह" कहते हैं । इस प्रकार बाबर के इन विचारों का हमारे लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता ।

गुरु नानक देव जी ने अपनी वाणी में मुसलमानी समाज का भी चित्रण किया है तथा हिन्दु समाज का भी, परन्तु उन्होंने अधिक ध्यान हिन्दु समाज की ओर ही दिया है । मुसलमानी समाज का शासक वर्ग भोग-विलासमयी जीवन व्यतीत कर रहा था । वह समाज वैभव से युक्त एवं अभिमानी था । शासकों का आचरण भ्रष्ट था और समाज में भेद-भाव की भावना थी । समाज में काजी और मुल्लाओं का बोल-बाला था तथा वे शासन की आड़ में इस्लाम का प्रचार एवं प्रसार कर रहे थे ।

हिन्दु समाज की दशा शोचनीय थी । हिन्दु लोगों को सत्ता के बल पर तथा अन्य कई प्रकार के प्रलोभन देकर मुसलमान बनाया जा रहा था । हिन्दु समाज में कई कुरीतियाँ घर कर गई थीं और सामाजिक व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई थी । तत्कालीन समाज के कुछ पक्षों पर हम यहाँ प्रकाश डालेंगे ।

वर्ण व्यवस्था

भारतीय समाज में चार वर्ण माने गए हैं । यद्यपि वर्ण व्यवस्था वैदिक काल से ही चली आ रही थी । परन्तु गुरु नानक देव जी के समय में उस ने अपना वास्तविक रूप और भावना को त्यागकर ऊँच-नीच और भेद-भाव का रूप धारण कर लिया था ।[2] वैदिक काल की कर्म से मानी जाने वाली वर्ण-व्यवस्था अब जन्म से मानी जाने लगी थी । उस समय शूद्र के घर उत्पन्न हुआ मनुष्य सदा शूद्र ही रहता था, भले ही इसके कर्म कितने उच्च और

---

1. साहां सुरति गवाईआ रंग तमासे चाइ ।। - आसा म॰1, आ॰ग्र॰417
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य अध्याय 3॰6 वर्णाश्रम धर्म

पवित्र क्यों न हों । समाज में जाति के बन्धन इतने कड़े हो चुके थे कि सामाजिक उन्नति में बाधा डाल रहे थे । निम्न जाति के लोगों को हीन दृष्टि से देखा जाता था । तत्कालीन समाज में ब्राह्मण लोग अपने को उच्चकुल प्रसूत समझते थे तथा दूसरों को इन्सान तक भी नहीं मानते थे । यह वर्ग इतना कट्टर था कि क्षत्रियों को भी न्यून दृष्टि से देखता था ।[1] शूद्रों का स्पर्श तो क्या साया भी अशोभनीय एवं अपवित्र (भिट्ट) कारक समझा जाता था । जाति-प्रथा में संकीर्णता आ गई थी । उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग के लोगों पर बहुत अत्याचार करते थे । वेद-शास्त्रों के अध्ययन से तो वे वंचित थे ही, उनके लिए मन्दिरों के द्वार भी बन्द हो गए थे । इसी कारण ये लोग इस्लाम की ओर झुकने लगे थे ।

वर्ण व्यवस्था के विषय में गुरु नानक का दृष्टिकोण

गुरु नानक वाणी के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि गुरु नानक वर्ण-व्यवस्था के समर्थक नहीं थे । आसाराग में उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है कि सभी में प्रभु की ज्योति समझो, किसी से उसकी जाति न पूछो क्योंकि परलोक में जाति-भेद-भाव नहीं है ।[2] परमात्मा के दरबार में जाति का कोई ज़ोर नहीं चलता । वहाँ पहुँच कर सभी जीव नए होते हैं ।[3] सच पूछो तो जाति के हाथ में कुछ भी नहीं है, केवल सत्य की ही परीक्षा होती है ।[4] गुरु नानक किसी को उच्च या नीच नहीं समझते थे । उनकी दृष्टि में सभी समान थे ।[5] उन के मतानुसार नीच वह है जिसने अपने मालिक (परमात्मा) को भुला दिया है । उसके नाम स्मरण के बिना सभी नीच हैं ।[6] इस से स्पष्ट

---

1. क्रान्तिकारी गुरु नानक, विश्वनाथ तिवाड़ी, पृ·42
2. जाणहु जोति न पूछहु जाती आगै जाति न है ।। आसा म·1, पदे· गु·ना·र·194
3. अगै जाति न जोरु है औ जीउ नवे ।
   - आसा म·1, वार, गु·ना·र·292
4. जाती दै किआ हथि सचु परखीऐ । माझ म·1, वार, गु·नार·, 144
5. नानक उतमु नीचु न कोइ ।। जपुजी, गु·ना·र· 20
6. खसमु विसारहि ते कमजाति ।
   नानक नावै बाझु सनाति।। आसा म·1, पदे·गु·ना·र· 191

हो जाता है कि गुरु नानक वर्ण-व्यवस्था में आई कुरीतियों के विरोधी थे।

जाति भेद बढ़ जाने के कारण भी हिन्दु लोग इस्लाम को अपनाने लग गए थे। ज्ञानी करतार सिंह के मतानुसार आज इस्लाम में दिखाई पड़ने वाले नाई, छींवे, जुलाहे, मोची, कुम्भकार, बढ़ई एवं मिरासी आदि हिन्दुओं से ही मुसलमान बने हैं। ये सब अरब देश से नहीं आए हैं।[1] इस प्रकार गुरु नानक देव जी ने जातिवाद पर जोरदार प्रहार किया और घोषणा की कि परमात्मा की दृष्टि में सभी समान हैं और वह हमारा सब का पिता है।[2]

आश्रम व्यवस्था

तत्कालीन समाज में आश्रम व्यवस्था भी कहने मात्र को रह गई थी। इस का परित्याग कर लोग बाह्याचार और पाखण्डपूर्ण धर्म में रत हो गए थे। वे आश्रम व्यवस्था के महत्त्व को भूल गए थे। अगर कोई इसे अपनाता भी था तो केवल दिखाने के लिए। गृहास्थाश्रम को, जिसको गुरुनानक ने बहुत महत्त्व प्रदान किया, उस समय आध्यात्मिक उन्नति में बाधक समझा जाता था।

आश्रम व्यवस्था के विषय में गुरुनानक का दृष्टिकोण

गुरुनानक देव जी ने आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत वानप्रस्थ तथा संन्यास का समर्थन नहीं किया। क्योंकि वे जानते थे कि मनमुख किसी जोश अथवा क्षणिक वैराग्य की लहर में आकर, अपना घर त्याग कर नष्ट होते हैं और फिर पेट भरने के लिए दूसरे के घरों की ओर झांकता है। वह अपने गृहस्थ धर्म को नष्ट कर देता हे और सद्गुरु के न मिलने से दुर्बुद्धि के भंवर में फंसा रहता है।[3]

---

1. ।ओंकार फिलासफी, करतार सिंह, पृ॰।।0

2. He (Guru Nanak) made a powerful attack on the sacerdotal classes of both communities and declared that all people were equal in the eyes of God, who, he said was the common father of all.
- Transformation of Sikhism, G. C. Narang, p. 25.

3. मनमुखु लहरि घरु तजि विगूचै अवरा के घर हेरै।
गृह धरमु गवाइ सतिगुरु न भेटै दुरमति घूमन घेरै।।
-मारु म॰।, अस॰गु॰ना॰र॰ 562

बाह्याडम्बरपूर्ण इन की साधना भी व्यर्थ है । इस विषय में गुरू नानक का स्पष्ट कथन है - "योगी, भोगी एवं अन्य वेशभूषा धारण करने वाले किस निमित्त देश-देशान्तरों में भ्रमण करते रहते हैं । वे न गुरु शब्द को पहचानते हैं और न एकरस सारतत्त्व परमात्मा को ही पहचानते हैं । पंडित, पढ़ाने वाले अध्यापक और ज्योतिषी नित्य पुराण पढ़ते हैं किन्तु हृदय स्थित वस्तु एवं घट-घट में अन्तर्हित ब्रह्म को नहीं जानते हैं । कुछ तपस्वी वन में तप करते हैं और तीर्थ स्थानों में निवास करते हैं किन्तु वे तमोगुणी अपने आप को नहीं पहचानते, वे विरक्त किस लिए हुए । कुछ लोग वीर्य की यत्नपूर्वक रक्षा करते हैं, वे यति कहलाते हैं किन्तु गुरु शब्द के बिना वे मुक्त नहीं होते और वे पथभ्रष्ट होकर आते-जाते रहते हैं । कुछ गृहस्थी सेवक गुरु द्वारा प्रदत्त (दी गई) बुद्धि में लगकर साधन सम्पन्न होते हैं और नाम, दान एवं स्नान की "रहनी" को दृढ़ कर हरि की भक्ति में जागते हैं ।"[1]

गुरु नानक ने ऐसे लोगों को इसका वास्तविक रूप समझाया । वास्तविक गृहस्थी वही है जो इन्द्रियों को वश में रख कर पुण्य-दान करता रहता है -

सो गिरही जो निग्रह करै । जप तप संजमु भीखिआ करै ।
पुंनदान का करे सरीरु । तो गिरही गंगा का नीरु ।।[2]

वास्तविक उदासी वही है जो उदासीन होकर धर्म का पालन करता है तथा ब्रह्म को सर्वव्यापक समझता है ।[3] वैरागी वही है जो ब्रह्म को मन की ओर उल्टे और आश्चर्य रूप परमात्मा को दशमद्वार में आरोपित कर दे तथा दिन रात उसी में रत रहकर उसी का रूप हो जाए ।[4] अवधूत वही है जो अहं को नष्ट कर दे, ज्ञान की भिक्षा लेकर परमात्मा के धाम को प्राप्त कर ले ।[5]

---

1. जोगी भोगी कापड़ी··· हरि भगति सु जागे ।
   - आसा म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰248-50
2. रामकली म॰१, वार, गु॰ना॰र॰532
3. सो उदासी जि पाले उदासु ।
   अरध उरध करे निरंजन वासु ।। - रामकली म॰१,वार,गु॰ना॰र॰532
4. सो बैरागी जि उलटे ब्रह्मु । गगन मंडलि महि रोपै धंमु । रामकली म॰१, वार, गु॰ना॰र॰532
5. सो अउधूती जो धूपे आपु । भिखिआ भोजन करे संतापु ।
   अउहठ पटण महि भीखिआ करै । सो अउधूती सिव पुरि चढ़े । -वही

संन्यासी वह है जो सद्गुरु की सेवा करता है ।[1]

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गुरु नानक मनुष्य जीवन को आश्रम-धर्मानुसार चार भागों में विभक्त करने के समर्थक नहीं थे । इसके स्थान पर उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य घर में रहकर सभी कार्य व्यवहार करता हुआ अपने सांसारिक जीवन में एक ऐसी मानसिक रुचि एवं लग्न बनाए कि वह एक अटल तथा एकरस जीवन व्यतीत कर सके ।[2]

नारी की दशा

किसी भी सभ्यता की विशिष्टताओं एवं उसकी सीमा को जानने के लिए नारी की सामाजिक स्थिति का अध्ययन आवश्यक है । भारतीय समाज में वैदिक काल में नारी को बहुत सम्मान प्राप्त था तथा स्मृतियों में भी "यत्र नार्यस्तु पूज्यने रमन्ते तत्र देवता"[3] कह कर उसे आदरपूर्ण स्थान प्रदान किया गया । किन्तु मध्य युग में, विशेषत: मुसलमानों के शासनकाल में नारी की स्थिति पतनोन्मुख रही । विशेषत: भारतीय नारी के ऊपर उस समय बहुत अत्याचार हुआ । मोक्ष प्राप्ति के लिए बाधक मानकर उसे वेद शास्त्रों के अध्ययन से वंचित कर दिया गया । मध्ययुगीन सन्तों ने भी नारी की दशा को सुधारने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया बल्कि उन की निन्दा ही की । मध्ययुगीन सन्तों की दृष्टि में वह हेय समझी जाने लगी तथा उसे "नारी नरक का मूल" कहा गया । इस सम्बन्ध में डा॰ रत्न सिंह जग्गी लिखते हैं कि "मध्ययुग के लगभग सभी धर्म साधकों की वाणियों में नारी-निंदा का स्वर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में मिल जाता है ।"[4]

---

1. सो संनिआसी जो सतिगुर सेवै विचहु आप गवाए ।
   छादन भोजन की आस न करई अचिंत मिलै सो पाइ ।
   - मारू म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰562
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य अध्याय 3॰6, वर्णाश्रम धर्म ।
3. मनु॰ 3॰56
4. गुरु नानक व्यक्तित्व, कृतित्व और चिंतन, डा॰ रत्न सिंह जग्गी, पृ॰665

गुरु नानक देव के आविर्भाव के समय नारी की दशा अत्यन्त दयनीय थी । उसे भोग विलास की वस्तु तथा हेय समझा जाता था । उसे केवल कामपूर्ति का साधन समझा जाता था ।[1] वह मनुष्य का खिलौना बनकर रह गई थी । योगियों ने स्त्री-घृणा को चोटी पर पहुँचा दिया । वे इसे मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग में विघ्न समझते थे और इसे विष की पोटली समझते थे । इस प्रकार समाज का आधा अंग बिल्कुल समाप्त हो गया था । वैदिक युग में नारी को जो सम्मान प्राप्त था वह समाप्त हो गया था ।

नारी-- गुरु नानक की दृष्टि में

गुरु नानक ने नारी के प्रति उपर्युक्त भावना का घोर विरोध किया तथा उसे समाज में उचित स्थान दिलाने का सफल प्रयत्न किया । उन्होंने समाज में नारी के गौरव का तर्कपूर्ण समर्थन किया -

भंडि जंमीऐ भंडि निमीऐ भंडि मंगण वीआहु ।
भंडहु होवै दोसती भंडहु चलै राहु ।।
भंड मूआ भंडु भालीऐ भंडि होवै बंधानु ।
सो किउ मंदा आखीऐ जितु जंमहि राजानु ।।[2]

अर्थात् "स्त्री से ही पुरुष उत्पन्न होता है और स्त्री द्वारा ही गर्भ में धारण किया जाता है । स्त्री से मंगनी होती है और उसी से विवाह । स्त्री से मित्रता होती है, उसी से सृष्टि का क्रम चलता है । एक स्त्री के मर जाने पर दूसरी ढूंढने लग जाते हैं । स्त्री से ही सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं । फिर हम उस स्त्री को बुरा क्यों कहें जिस ने सम्राटों को जन्म दिया ।" स्त्री से ही स्त्री उत्पत्ति होती है । जगत् में कोई भी जीव स्त्री के विना उत्पन्न नहीं होता । केवल परमात्मा ही है जो स्त्री गर्भ में नहीं आता ।[3]

---

1. इसतरी पुरखै जां निसि मेला ओथै मंधु कमाही ।
-मतार म॰१, वार, गु॰ना॰र॰, 738

2. आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰, 306

3. भंडहु ही भंडु ऊपजै भंडै बाझु न कोई ।
नानक भंडै बाहरा एको साचा सोइ ।। - आसा म॰१, वार गु॰ना॰र॰ 309

तत्कालीन समाज में विधवा की स्थिति तो अत्यन्त शोचनीय थी । पति की मृत्यु की ज़िम्मेदारी उस पर डाली जाती थी जिस से वह घर में सभी के द्वारा घृणा की दृष्टि से देखी जाती थी । दूसरी शादी की उसे अनुमति न थी । वह या तो पति के साथ चिखा में जल जाती या सिर मुंडवा कर घर के छोटे-मोटे कार्य करती । किसी खुशी के समागम में उस का जाना अपशकुन समझा जाता था । ऐसी स्थिति से तंग आकर कुछ तो वेश्या-वृत्ति अपना लेती थीं । इस का चित्रण गुरु नानक वाणी में इस प्रकार हुआ है -

जिउ तन विधवा पर कउ देई ।
कामि दामि चितु पर वसि सेई ।। गउड़ी म॰।, आ॰ग्र॰226

ऐसी अवस्था में गुरु नानक ने "सो किउ मंदा आखीऐ जितु जमहि राजानु" का महान् क्रान्तिकारी संदेश दिया और नारी को समाज में गौरवमयी स्थान प्रदान किया । क्योंकि वे जानते थे कि मानव के आधे अंग की उपेक्षा करने से समाज उन्नति नहीं कर सकता और न समाज का कल्याण ही हो सकता है । इस प्रकार गुरु नानक की नारी के प्रति दृष्टि वैदिक परम्परा के अनुरूप ही है ।

श्राद्ध

श्राद्ध का शाब्दिक अर्थ है श्रद्धा पूर्वक किया हुआ कर्म । यह धर्म पर आधारित एक सामाजिक प्रथा है जिस में पूर्वजों के निमित्त दान किया जाता है । यह मृतक संबधियों की दिवङ्गत आत्माओं के सम्मान में अनुष्ठेय संस्कार है । यह तीन प्रकार का होता है । भाई कान्ह सिंह नाभा इसे चार प्रकार का मानते हैं - नित्य, पार्वण, काम्य एवं महालय ।[1]

श्राद्ध के विषय में गुरु नानक का दृष्टिकोण

गुरु नानक वाणी में कहीं पर भी श्राद्ध करने का अनुमोदन नहीं किया

---

1. महान कोश॰, भाई कान्ह सिंह नाभा पृ॰ 169

गया । श्राद्ध में दान-पुण्य तथा कौओं को बलि दी जाती है । इस के विरोध में गुरु नानक कहते हैं कि जीव तो इस संसार से चला गया है किन्तु मनमुख उस के पीछे पत्तलों पर कौए बुलाते हैं ।[1] ऐसा विश्वास है कि पितरों के निमित्त जो दान किया जाता है, उन्हें वही प्राप्त होता है, किन्तु गुरु नानक का मत है कि मनुष्य को सबकुछ उसके कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होना है ।"[2] गुरु नानक के समय यह संस्कार बहुत आवश्यक समझा जाने लगा था । उसे सम्पूर्ण करने के लिए यदि उचित ढंग से धन न प्राप्त हो तो लोग अनुचित ढंग से धन प्राप्त कर यह संस्कार करते थे । गुरु नानक कहते हैं कि आगे जाकर यदि चुराई हुई वस्तु पहचान ली जाती है तो व्यर्थ में पितरों को भी चोर घोषित कर दिया जाएगा और दलालों (पुरोहितों) के हाथ काटे जाएँगे -[3]

जे मोहा का घरु मुहै घरु मुहि पितरी देइ ।।
अगै वसतु सिआणीऐ पितरी चोर करेइ ।।
वढीअहि हथि दलाल के मुलफी एह करेइ ।।
नानक अगै सो मिलै जि खटे घाले देइ ।।

- रागु आसा वार, गु॰ना॰र॰ 302

सूतक[4] -

जन्म और मरणावसर पर होने वाले अशौच को सूतक कहते हैं । वास्तव में इन अवसरों पर जो अशुद्धि हो जाती है उसी को सूतक कहते हैं । इसकी जितने दिन तक की अवधि होती है वह वर्णानुसार अलग-अलग है । जैसे ब्राह्मण की बारह दिन, क्षत्रीय की तेरह दिन, वैश्य की सत्रह दिन और

1॰ आइआ गइआ मुइआ नाउ । पिछै पतलि सदिहु काव ।
नानक मनमुखि अंधु पिआरु । बहु गुरु डूबा संसारु ।। -माझ म॰१,वार, गु॰ना॰र॰,102

2॰ मंदा चंगा आपणा आपे ही कीता पावणा । -आसा म॰१,वार,गु॰ना॰र॰ 296
नानक अगै सो मिलै जि खटे घाले देइ ।। - आसा म॰१,वार,गु॰ना॰र॰, 302

3॰ द्रष्टव्य अध्याय 3॰2 धर्म के विविध तत्त्व

4॰ द्रष्टव्य अध्याय 3॰2 धर्म के विविध तत्त्व

शूद्र की तीस दिन ।[1] इस का विरोध करते हुए गुरु नानक कहते हैं कि सूतक मानना न तो उचित है और न युक्ति युक्त । क्योंकि यदि जन्म और मृत्यु से सूतक होता है तो सभी स्थानों पर सूतक होता है । क्योंकि गोबर और लकड़ी में कीड़े होते हैं, अन्न के दाने भी जीवों के बिना नहीं हैं । सर्वप्रथम जल ही जीवन है जिस से सारी वनस्पति और जीव हरे-भरे रहते हैं । इन का प्रयोग प्रतिदिन होता रहता है । अतएव सूतक किस प्रकार उतारा जा सकता है । इस से तो हमारी पाकशाला ही सूतक युक्त रहती है ।[2] गुरु नानक देव जी इन को सूतक नहीं मानते । वे कहते हैं कि यदि सूतक मानना ही है तो उस का वास्तविक स्वरूप ये है - "मन का सूतक लोभ है, जिह्वा का सूतक असत्य-वादन है, आँखों का सूतक परधन है और परायी स्त्री का रूप देखना है, कानों का सूतक दूसरे की निन्दा सुनना है ।[3] वास्तविक सूतक तृष्णा की अग्नि है जो समस्त जगत् को भक्षण कर रही है ।[4] गुरु नानक का मत है कि परमात्मा के नाम के बिना सब सूतक ही है ।[5] आसा राग की वार में सूतक के विषय में अपने मत को स्थापित करते हुए गुरु नानक बताते हैं कि सूतक तो केवल भ्रम मात्र है और यह द्वैतभाव में फँसे हुए मायासक्त व्यक्ति को लगता है । जन्म-मृत्यु, आना-जाना यह सब ईश्वरीय इच्छानुसार होता है । खान-पान भी उसी के अधीन है और पवित्र है । जो इस वास्तविकता को समझ लेता है उसे सूतक नहीं लगता ।[6]

---

1. गुरमत प्रभाकर, भाई कान्ह सिंह, पृ. 107
2. रागु आसा वार, गु॰ना॰र॰ 302-4
3. आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 304
4. सूतकु अगनि भरवै जगु खाइ । आसा म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰ 232
5. बिन नावै सूतकि जगि छोति । - आसा म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰232
6. सभो सूतक भरमु है दूजे लगै जाइ ।
   जंमणु मरणा हुकमु है भाणै आवै जाइ ।।
   खाणा पीणा पवित्रु है दितोनु रिजकु सबाहि ।
   नानक जिन्ही गुरमुखि बुझिआ तिन्हा सूतकु नाहि ।।
   - आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 304

इसके अतिरिक्त समाज में और कई संस्कार किए जाते थे । ये संस्कार बच्चे के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त चलते रहते थे । इन में यज्ञोपवीत पहनना एक प्रमुख संस्कार था । गुरु नानक ने धागे के यज्ञोपवीत के स्थान पर दया की कपास, संतोष का सूत्र, यतित्व की गाँठ और सतित्व के बाट से तैयार किए जनेऊ को पहनने का आदेश दिया । इस प्रकार का यज्ञोपवीत न टूटता है, न गन्दा होता है और न ही जलता है । वे मनुष्य धन्य हैं जिन्होंने इस प्रकार का यज्ञोपवीत धारण किया है ।[1]

गुरु नानक देव के प्रादुर्भाव के समय गुलामों की प्रथा भी थी । अमीर लोग गुलाम खरीद लेते थे तथा उन का व्यापार भी चलता था ।

मुल खरीदी लाला गोला मेरा नाउ सभागा ।[2]
मा लाली पिउ लाला मेरा हउ लाले का जाइआ ।।
लाली नाचै लाला गावै भाति करउ तेरी राइआ ।।[3]

गुरु नानक की दृष्टि में सामाजिक रीति-रिवाज़ों का औचित्य

इस प्रकार गुरु जी ने जातिगत अहंकार, पाखण्डपूर्ण आश्रम व्यवस्था, बाह्याचारयुक्त श्राद्ध एवं सूतक आदि का खण्डन किया तथा लांछित एवं तिरस्कृत नारी को समाज में गौरवपूर्ण स्थान दिलाया । इस सम्बन्ध में डा॰ धर्मपाल मैनी लिखते हैं - "गुरु नानक ने जातिगत कट्टरता एवं धार्मिक साम्प्रदायिकता में फंसी जनता को मानवता का पाठ पढ़ाया । समाज में अनादृत एवं गर्हित नारी को गौरवशाली एवं समादृत बनाया । गृहस्थ में अविश्वासी योगिओं और सन्यासियों को गृहस्थ का महत्त्व

1॰ दइआ कपाह संतोखु सूतु जतु गंढी सतु वटु ।
एहु जनेऊ जीअ का हई त पाँडे घतु ।
न एहु तुटै न मलु लगै ना एहु जलै न जाइ ।
धंनु सु माणस नानका जो गलि चले पाइ ।। - आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 298

2॰ मारू म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰, 544

3॰ मारू म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 544

बताकर समाज में गृहस्थ जीवन की प्रतिष्ठा स्थापित की । सच्चाई और ईमानदारी की कमाई को ही उचित ठहराया । वस्तुत: उन्होंने उस समय के भारतीय समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया एवं समाज एक बार फिर उठ खड़ा हुआ ।[1]

(1.2) सांस्कृतिक अवस्था

गुरु नानक देव के पादुर्भाव के समय की सामाजिक स्थिति जान लेने के उपरान्त अब हम तत्कालीन सांस्कृतिक अवस्था का अध्ययन करेंगे । क्योंकि सांस्कृतिक अवस्था को जाने बिना तत्कालीन समाज में जीवन के आदर्श मूल्यों का अंकन नहीं किया जा सकता । संस्कृति, जिसका विस्तार क्षेत्र व्यष्टि न होकर समष्टि है, समाज की वह स्थिति है जिसमें लोग जीवन के आदर्श मूल्यों को पहचानते हैं और उनका व्यवहार सुसंस्कृत होता है । दूसरे शब्दों में जीवन-यापन के ढंग को ही संस्कृति कहते हैं । डा॰ वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार "संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है । हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है -- जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है ।[2]" संस्कृति से अभिप्राय ऐसे विश्वासों, हावभाव एवं जीवन-व्यवहारों के समूह से है जो व्यक्ति या समाज को प्रफुल्लित करता है तथा जिस से एक सभ्यता दूसरी सभ्यता से भिन्न दिखाई पड़ती है ।[3] श्री हरिन्द्र नाथ दत्त ने लोगों के भीतरी गुण (genius) तथा बाह्य रूप को संस्कृति माना है ।[4] रवीन्द्र नाथ टैगोर मानसिक जीवन के स्वरूप को संस्कृति कहते हैं ।[5] संस्कृति किसी समाज की जीवन पद्धति है, जिसमें उसकी शिल्प कला, विश्वास और मान्यताएं,

---

1. मध्ययुगीन निर्गुण चेतना, डा॰ धर्मपाल मैनी, पृ॰114
2. कल्पवृक्ष, पृ॰26
3. "गुरुग्रन्थ साहिब विच संकलित गुरु नानक वाणी विच भारती समाज दा चित्रण", डा॰ दविन्दर दीप, पृ॰12
4. Towards the Universal Man, p.209.
5. Indian Culture, p.4.

संचित ज्ञान और वे मूल्य भी आ जाते हैं, जिसके लिए उस समाज के सदस्य जीते हैं । इस के अलावा उस की विकसित कलाएं, पारिवारिक जीवन, सन्तान पालन, विवाह और प्रणय की प्रथा, शिक्षा, व्यवसाय और प्रशासन - अर्थात् उसकी शेष समूची विरासत भी जो उसके सदस्यों को उपलब्ध है या हो सकती है, उस के अन्तर्गत आ जाती है ।[1]

भारत धर्म-प्रधान देश रहा है । वहाँ अनेकों धर्म विकसित हुए । परन्तु गुरु नानक देव के आविर्भाव के समय समाज की धार्मिक स्थिति ऐसी थी जिस में धर्म का सही रूप प्रकट नहीं था । समाज में जो धर्म प्रचलित था उसको अधर्म कहना ही उचित है । धार्मिक नेताओं की कथनी एवं करनी में विरोध था । नेता आप अज्ञानता में थे और लोगों को कुमार्ग पर ला रहे थे । वे मनुष्यता को मिलाने के स्थान पर अलग करने में तुले हुए थे ।[2] उस समय न तो योग की विधि रह गई थी न सात्विक जीवन का ढंग किसी को आता था । जगत् के इष्ट स्थान भ्रष्ट हो गए थे और सारा संसार डूब रहा था ।[3] कहने को तो उस समय बहुत से धार्मिक विश्वास प्रचलित थे जो अपने-अपने ढंग से परमात्मा को प्राप्त करना चाहते थे । कुछ लोग जंगल में जाकर मौन धारण करते थे कुछ तुषार और वर्फ सहन कर हिम सदृश शीतल जल में तप करते थे । कुछ शरीर पर भस्म लगाते थे, कुछ विकट एवं विकराल जटाओं को धारण करके अपने कुल का नाश करते थे । कुछ अहोरात्र नग्न घूमते रहते थे तथा अपनी नींद कभी नहीं सोते थे । कुछ अपने अंगों को आंच देकर अपने आप को विनष्ट करते थे ।[4] धर्म का वास्तविक रूप लोग भूल गए थे । बाह्याचार एवं भेष शिखर पर था । धर्म के मूल तत्त्वों की अपेक्षा चिह्नों की मानता अधिक थी । जो धार्मिक चिह्न मनुष्य को धर्म की शरण में ले जाने के लिए बने थे, वही चिह्न मनुष्य को धर्म से दूर ले जाने लग गए

---

1. अमेरिका की संस्कृति, ब्रैडफोर्ड स्मिथ, अनु॰ कृष्ण चन्द्र ।
2. Evolution of Khalsa, I. Banerjee, Vol.I, p.99.
3. कातु नाही जोगु नाही नाही सत का ढबु ।
   पानसट जग भरिसट होए डूबता इव जगु । धनासरी म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 372
4. इक वणखंडि वैसहि····अंगु आपु विगोवही ।।
   - मलार म॰१, वार, गु॰ना॰र॰724

संन्यासी पाखण्डी हो गए थे । वे गेरु घोलकर वस्त्र रंग लेते थे । ये मायाधारी संन्यासी कपड़ों को फाड़ कर कंथा और झोली बना लेते थे । इस प्रकार भिखारी का भेष बनाकर घर-घर में भीख मांगते तथा लोगों को उपदेश देते थे ।[1] कुछ लोग मूंड मुंडा लेते थे, कुछ जटाएं और कुछ लम्बी चोटी रखते थे । तीर्थाटन कर अभिमान से मौन धारण कर लेते थे । लोगों को दिखाने के लिए पाठ पढ़ते थे, परन्तु मुंह से झूठ बोलकर नष्ट होते थे । कापड़ी सम्प्रदाय के लोग हाथ में कमण्डल ले लेते थे ताकि लोग उन्हें विरक्त समझें । उनके मन में तृष्णा रहती थी । अपनी स्त्री को तो वे छोड़ चुके होते, किन्तु कामातुर होने के कारण पर-नारी का चिंतन करते ।[2] कोई शास्त्र तथा वेद को नहीं मानता था ।[3] अपने-अपने स्वार्थ की ही पूजा होती थी ।

इस प्रकार लोग चिह्नों तथा ब्राह्माडम्बरों में फँस कर धर्म को भूल रहे थे । हिन्दू लोग भय से तथा मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए भी कुरान इत्यादि पढ़ने लग गए थे । अत्याचारी मुस्लिम शासकों ने गाय तथा ब्राह्मणों को कर लगा दिया था । ब्राह्मण लोगों ने धोती तिलक और जपमाला धारणा की हुई थी, किन्तु धान्य मलेच्छों का खाते थे । वे अन्दर छिप कर पूजा करते थे तथा बाहर मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए इस्लामी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे एवं तुर्कों जैसे वस्त्र पहनते थे । गुरु नानक उन के इस व्यवहार को पाखण्डपूर्ण कहते हैं[4] ।

उस समय धर्म विशेष प्रकार के रहन सहन तथा खान-पान तक ही

---

1. घोली गेरु रंगु चड़ाइआ ·····। - मारु म॰।, अस॰ गुं॰ना॰र॰562
2. मारु म॰।, अस॰गु॰ना॰र॰ 562
3. सासतु वेद न मानै कोइ ।
   आपो आपै पूजा होइ । - रामकली म्॰।, गु॰ना॰र॰ 530
4. गउ बिराहमण कउ करु लावहु गोबरि तरणु न जाई ।
   धोती टिका तै जपमाली धानु मलेछां खाई ।।
   अंतरि पूजा पड़हि कतेबा संजमु तुरका भाई ।
   छोडीअले पांखडा ।। आसा म॰।, वार, गु॰ना॰र॰ 300

सीमित हो गया था । इस में केवल बाह्य प्रदर्शन ही प्रधान था ।[1] लोग कुत्ते के मुँह वाले हो गए थे । उन का खाद्य पदार्थ मुर्दे का मांस था उत्कोच था । झूठ बोलना कुत्ते की तरह भूंकना था । धर्म सम्बन्धि विचार समाप्त हो गए थे तथा लोग अपने जीवनकाल में ही प्रतिष्ठा खो बैठे थे ।[2] बौधिक एवं मानसिक पतन के कारण लोगों का धार्मिक जीवन भ्रष्ट हो गया था । धर्म तो मानों अपने पंखों पर उड़ गया था ।[3]

किसी धर्म से सम्बन्धित रीति-रिवाज़, पूजा-पाठ की विधियां तथा संस्कार उस धर्म का शरीर अथवा बाहरी रूप होते हैं । धर्म के अनुयायी इन विधियों को जीवन-प्रवाह में ढाल कर अपने सभ्याचार का अटूट अंग बना लेते हैं । यदि ये विधियाँ "फोकट" (नि:सार) निश्चयों तथा अन्धविश्वास पर आधारित हों तथा लोगों पर आर्थिक दबाव का कारण बनें तो समाज के सशक्त विकास के लिए बाधक हो जाती हैं ।[4] गुरु नानक के समय धर्म कुछ ऐसी ही रीतियों, संस्कारों तथा पूजा-पाठ की विधियों का ही हास्यापद समूह बन गया था । यह मूल भारतीय दर्शन प्रवाह से टूट गया था और इसे पूरा करने के लिए किसी आध्यात्मिक चिंतन की आवश्यकता नहीं रह गई थी । सत्य तो यह है कि धर्म का मूल स्रोत धार्मिक अंधविश्वासों, सामाजिक रुढ़ियों, जनता की अन्यमनस्कता तथा धर्म के ठेकेदारों तथा पुरोहितों के व्यक्तिगत स्वार्थों[5] के कारण शुष्क हो गया था । धर्मग्व्यर्थ के प्रदर्शन में ही सिमट कर रह गया था । गुरु नानक वाणी में इस का चित्रण इस प्रकार हुआ है -

---

1. Transformation of Sikhism, G.C. Narang, p. 27.

2. कलि होई कुते मुही खाजु होआ मुरदारु ।
कूड़ बोलि बोलि भउकणा चूका धरमु बीचारु ।।
जिन जीवंदिआ पति नहीं मुइआ मंदी सोइ ।।-सारंग म॰१, वार॰ गु॰ना॰र॰ 692

3. कलि काती राजे कसाई धरमु पंख कर उडरिआ ।। -माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰122

4. लोक तत्त ते गुरु नानक बाणी, डा॰ सोहिन्दर सिंह बेदी, पृ॰47

5. The springs of true religion has been choked up by weeds of umerring ceremonial, debasing superstitious, the selfishness of priests and indifference of the people. - Transformation of Sikhism, G.C. Narang, p. 20.

पढ़ि पुस्तक संधिआ बादं ।।
सिलपूजसि बगुल समाधं ।
मुखिझूठ विभूखण सारं ।।
त्रैपाल तिहाल विचारं ।।[1]

तात्पर्य यह है कि पण्डित लोग मात्र प्रदर्शन के लिए वेद आदि धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे, सन्ध्या करते थे और परस्पर विवाद करते थे । वे तीन पदों वाली गायत्री का दिन के तीन कालों में विचार करते । गले में माला और ललाट का तिलक लगाते परन्तु पत्थर की मूर्ति की पूजा करते । बगुले की भान्ति झूठी समाधि लगाते, मुख से झूठ बोल कर लोहे के आभूखण को स्वर्ण का बताते ।

प्राचीन जड़ पूजा का प्रभाव अभी तक भी लोगों पर था । जहाँ तक कि लोग वृक्षों की भी पूजा करते थे । परन्तु गुरु नानक ने वृक्ष पूजा की एक नई विधि बताई । "जीव हृदय में कर्म का एक ऐसा वृक्ष उगाए जिस की शाखाएँ हरि के सिमरन की हों, फूल धर्म एवं फल ज्ञान हो, प्रभु में सदैव लीन रहना जिसके पत्ते हों, मन में से अहं को निकाल कर "निमाणे" बन कर रहना जिसकी घनी छाया हो ।"[2]

इसके अतिरिक्त विभिन्न देवताओं तथा उन की मूर्त्तियों की भी पूजा होती थी । प्रत्येक गांव, शहर एवं घर के अपने देव थे । घर में उनकी मूर्तियां होती थीं जिन की लोग पूजा करते थे । इसके विरोध में गुरु नानक देव ने कहा कि, "हिन्दु पूर्णत: भूले हुए हैं और कुमार्ग पर जा रहे हैं । नारद के कथनानुसार पूजा करते हैं । वे मुग्ध, गंवार पत्थरों की मूर्तियों की पूजा करते हैं । रे भाई जब ये पत्थर की मूर्तियां स्वयं डूब जाती हैं तो तुम्हें भवसागर से कैसे पार उतारेंगी ।"[3]

---

1. आसा; म॰१, वार, गु॰ना॰ 296
2. करम पेडु साखा हरी, धरम फुलु फलु गिआनु ।।
पत परापति छाव घणी चूका मन अभिमानु ।। -बसंत म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 652
3. हिन्दु मूले भूले अखुटी जांही ।।
नारदि कहिआ सि पूज करांहि ।।
पाथरु ले पूजहि मुगध गवार ।।
ओहि जा आप डुबे तुम कहा तरणहारु ।। - विहागड़ा म॰१, गु॰ना॰र॰322

तत्कालीन समाज में कर्म-काण्ड का भी बोलबाला था । मध्ययुगीन लगभग सभी सन्तों ने इस का वर्णन किया है । गुरु नानक ने भी कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के कर्मों पर प्रकाश डाला है । "उस समय पण्डित (ब्राह्मण) लोग ललाट पर टीका लगाते तथा धोती पहनते । वे हाथ में छुरी लिए हुए जगत् के लिए कसाई के समान थे । नीले वस्त्र पहनकर तुर्क हाकिमों के दरबार में मान्यता प्राप्त करते, वे म्लेच्छों से धान्य प्राप्त करते और फिर भी पुराणों को पूजते । उन का भोजन वह बकरा होता जो मुसलमानों द्वारा कलमा पढ़ कर हलाल किया गया होता परन्तु वे अपने को पवित्र समझते । चौका देकर लकीर खींच देते । इस में वे झूठे आकर बैठ जाते और कहते मत छुओ, मत छुओ नहीं तो हमारा अन्न अपवित्र हो जाएगा । वे अपवित्र शरीर से मलिन कर्म करते और जूठे मन से कुल्ले करते । परन्तु गुरु नानक कहते हैं कि सत्य स्वरूप की आराधना के बिना वास्तविक पवित्रता नहीं प्राप्त की जा सकती ।[1]

उस समय कुछ धार्मिक मण्डलियाँ गांवों में जातीं तथा पौराणिक कथाएँ सुना कर धर्म का प्रचार करतीं । नाटक आदि के द्वारा भी लोगों को धर्म का उपदेश दिया जाता । उस समय सांस्कृतिक जीवन में "रास" भी हुआ करती थी जिसमें श्रीकृष्ण और राधा का स्वांग बनाया जाता । इस रास नृत्य को भी धार्मिक कर्म समझा जाने लगा था । परन्तु गुरु जी ने इसे सांसारिक प्रपंच तथा व्यर्थ-पाखण्ड बताया ।-

"रास में चेले बाजे बजाते हैं और गुरु नाचते हैं । नाचते समय गुरु पैरों को हिलाते और सिर घुमाकर ताल मिलाते और भाव प्रदर्शन करते । पैरों को ताल के साथ पटकने से धूलि उड़ कर उनके सिर के बालों में पड़ती । देखने वाले लोग उसे देख कर हंसते तथा घरों को चले जाते । रोटी के कारण

---

1. मथै टिका तेड़ धोती करवाई ।। ..... सुचि होवै ता सचु पाइऐ ।।34
-आसा॰म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 300

वे ताल पूरते हैं और अपने आप को पृथ्वी पर पछाड़ते है । इस प्रकार वे कभी गोपी-कृष्ण और कभी सीता-राम का स्वांग बनाते हैं ।"[1]

रास आदि स्वांगों के प्रति गुरु नानक की दृष्टि

इस श्लोक के अंत में गुरु नानक ने रासलीला नृत्य का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है । उन्होंने बताया कि यदि घूमने तथा नाचने से मुक्ति प्राप्त हो जाए तो फिर बहुत सी बस्तुएँ जो दिन रात चक्र काटती रहती हैं, उनको मोक्ष प्राप्त हो जाए -

कोलू चरखा चकी चकु । थल वारोले बहुतु अनंतु ।।
लाटू माधाणीआ अनगाह । पंखी भउदिआ लैनि न साह ।।
सूऐ चाड़ि भवाईअहि जंत । नानक भउदिआ गणन न अंत ।
बंधन बंधि भवाए सोई । पइऐ किरति नचै सभु कोई ।।....
नचणु कुदण मन का चाउ । नानक जिन्ह मनि भउ तिन्हा मनि भाउ ।।[2]

गुरु नानक देव के प्रादुर्भाव से पूर्व भारतीय जनता को विदेशी आक्रमणकारियों के हाथों पद्दलित तथा अपमानित होना पड़ा । बौद्ध धर्म की महायान तथा हीनयान शाखाओं ने भारतीय जीवन स्रोत को सुखा डाला था । उच्चकुलप्रसूत लोगों ने समाज को रुग्ण बना डाला था ।[3] भारत में बुद्ध धर्म का प्रचार पर्याप्त मात्रा में था । परन्तु वज्रयानियों ने बुद्ध धर्म को भी आघात देकर गिरा दिया । इन में भी मूर्तिपूजा प्रचलित हो गई तथा यन्त्र-मन्त्र एवं तन्त्रों में विश्वास बढ़ने लगा जिससे बुद्ध धर्म का पतन हो गया ।[4]

बुद्ध धर्म की तरह जैन धर्म का प्रचार भी तत्कालीन समाज में था । इस मत के जन्मदाता महावीर ने अपने धर्म का आधार अहिंसा तथा चारित्रिक एवं सदाचारिक उच्चता को बनाया । गुरु नानक के समय तक इस में भी त्रुटियां

---

1. आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 280
2. आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 280
3. श्री गुरु नानक का सन्देश, मोहन मैत्रेय, पृ॰26
4. क्रान्तिकारी गुरु नानक, विश्वनाथ तिवाड़ी, पृ॰46

आ गई थीं तथा यह भी लोगों का मार्ग-दर्शन नहीं करता था । गुरु नानक इसका चित्रण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं -

"जैनी लोग सिर के बाल नुचवा कर गन्दा पानी पीते हैं और जूठा भोजन मांग-मांग कर खाते हैं । वे अपना मल फैला देते हैं और मुंह से उसकी दुर्गन्ध लेते हैं । पानी देख कर वे शरमाते हैं और भेड़ों की तरह बाल नुचवाते हैं । वे हाथों को राख मलते हैं । अपने मां-बाप के कर्म गंवा देते हैं अतएव इनके कुटम्बी धाड़ें मार कर रोते हैं । वे किसी लोक मर्यादा का पालन नहीं करते । तीर्थ उन्हें पनाह (आश्रय) नहीं देते और वे सदैव ग़म में रहते हैं । वे कमर में प्याले बांधे रहते हैं और हाथ में सूत की बनी मार्जनी रखते हैं । वे आगे पीछे एक पंक्ति में चलते हैं, न वे योगी हैं न जंगम, न काज़ी हैं न मुल्ला । परमात्मा के मारे हुए वे धिक्कारने योग्य अवस्था में घूमते हैं । ये जीव हत्या के भय से ये सब कुछ करते हैं ।"[1]

गुरु नानक देव जी के समय दो ही धर्म मुख्य रूप में माने जाते थे हिन्दु तथा इस्लाम । हिन्दु धर्म में कर्मकाण्ड, भक्ति, देवताओं तथा मूर्तियों की पूजा होती थी । इस्लाम धर्म गुरु नानक देव से बहुत पहले भारत में आ चुका था तथा इसने राजशक्ति एवं धार्मिक विचारधारा के रास्ते भारत में अपना स्थान बना लिया था । परन्तु गुरु नानक देव के समय तक इसमें भी बहुत विकार आ गए थे । गुरु नानक देव ने न केवल कर्मकाण्ड की तीव्र आलोचना की बल्कि इन की जड़ पण्डितों तथा पाधों को भी आड़े हाथ लिया । उन्होंने कहा कि ब्राह्मण, काजी एवं योगी तीनों ही लोगों को घुन की तरह चिपके हुए हैं । "काजी झूठ बोलकर हराम की कमाई खाते हैं, ब्राह्मण जीवों को मार कर (दु:ख देकर) तीर्थों में नहाता है, योगी ज्ञान के बिना अंधा है और मोक्ष की युक्ति नहीं जानता । ये तीनों ही उजाड़ के समान हैं ।"[2]

---

1. सिरु खोहाइ पीअहि····अवरु न कोई रखे ।। -माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰, 132
2. कालु कूड़ बोलि मनु खाइ ।।
   ब्राह्मणु नावै जीवा घाइ ।।
   जोगी जुगति न जाणै अंधु ।।
   तीने ओजाड़े का बंधु ।। - धनासरी म॰१, गु॰ना॰र॰370

गुरु नानक देव के प्रादुर्भाव के समय धर्म की दशा सब से चिन्तनीय थी । हिन्दुओं के धार्मिक कर्म इस्लाम के विरुद्ध होने के कारण मुसलमानों को "कुफर" दिखाई देता था । इस लिए वे मन्दिरों एवं मूर्तियों को तोड़ना तथा मूर्ति-पूजकों को मारना इस्लाम के अनुसार पुण्य समझते थे । इसका वर्णन करते हुए भाई गुरदास लिखते हैं कि ये लोग वास्तविकता को भूले हुए थे और एक ही परमात्मा को राम तथा रहीम के नाम से कहते थे । हिन्दु वेदों को भूल गए थे और मुसलमान कतेबों को । ये लोग लालच में फँस कर आपस में झगड़ते रहते थे ।[1]

मुस्लिम शासक शक्ति के आधार पर हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन करवाते थे । वे लोगों को लालच देते तथा न मानने पर बलात् धर्म परिवर्तन करवाते थे । "जज़ीआ" एवं तीर्थ कर लगा दिए थे तथा नए मन्दिरों पर रोक लगा दी थी । गुरु नानक देव ने इस स्थिति का बहुत मार्मिक चित्रण बसंत राग में किया है -

आदि पुरख कउ अलहु कहीऐ सेखां आई वारी ।
देवल दवतिआ करु लागा ऐसी कीरति चाली ।।
कूजा बांग निवाज मुसला नील रूप बनवारी ।
घरि घरि मीआ सभनां जीआं बोली अवर तुमारी ।[2]

गुरु नानक देव दुखी मन से कहते हैं कि देखो अब आदि पुरख को भी अल्ला कहने लग पड़े हैं क्योंकि अब मुसलमानों की हकूमत आ गई है । इन हाकमों ने देव-मन्दिरों पर भी कर लगा दिया है । अब इस प्रकार की परम्परा चल पड़ी है कि कूजा, बांग, निमाज़ एंव "मुसल्ला" प्रचलित हो गए हैं तथा प्रभु (बनवारी) भी नीले रंग का दिखाई देने लग

---

1. राम रहीम कहाइंदे इक नाम दुइ राह भुलाणे ।
बेद कतेब भुलाइ के मोहे लालच दुनी सैताणे ।
सच्च किनारे रहि गया खहि मरदे ब्राह्मण मउलाणो ।
- वारां भाई गुरदास ।.21।

2. बसंतु म.1, गु.ना.र., 674

गया है ।[1]

गुरु नानक का दृष्टिकोण

गुरु जी ने धर्म में हिन्दु या मुस्लिम का विरोध नहीं किया । उन्होंने कहा कि यदि कोई हिन्दु है तो उसे पक्का हिन्दु होना चाहिए, यदि मुसलमान है तो मुसलमान । उसे बाह्याचारों एवं भेषों को छोड़ कर वास्तविकता को अपनाना चाहिए । मुसलमान को उन्होंने कहा कि दया को मस्जिद, श्रद्धा को चटाई, हक की वैध कमाई को कुरान, उद्यम को सुन्नत एवं शील को रोज़ा बनाओ तभी तुम वास्तविक मुसलमान बन सकते हो। शुभ-करनी को काबा, सचाई को पीर, पवित्र कर्मों को कलमा और नमाज़ बनाओ । जो उस प्रभु को अच्छा लगे उसे तसबीह (माला) बनाओ । प्रभु भी ऐसे मुसलमान की मर्यादा का पालन करता है ।[2]

गुरुनानक देव जी के प्रादुर्भाव के समय ब्राह्मण पथभ्रष्ट हो चुके थे, सन्यासी अपने स्वार्थ के लिए तप करते थे, योगी एवं सिद्ध संसार को मिथ्या मानते थे तथा गृहस्थ को बन्धन, वे परमात्मा को पाने के लिए पर्वतों की गुफाओं में जा बैठे थे । स्वार्थपरता, भोग-विलास, कामवासना संदेह एवं भ्रम ने लोगों के चरित्र को चरम सीमा तक गिरा दिया था । बल्कि गुरु नानक देव ने तो यहाँ तक भी कह दिया है कि उस समय लज्जा और धर्म दोनों ही इस संसार से विदा हो चुके थे और झूठ प्रधान बनकर फिर रहा था । काजियों और ब्राह्मणों की बातें समाप्त हो गई थीं और विवाह भी शैतान करवाता था ।[3]

---

1. बनवारी भगवान् कृष्ण हैं जो पीताम्बर पहनते थे, क्योंकि उस समय पूजा करने वाले नीले वस्त्र पहनते थे तो ऐसा लगता था कि श्रीकृष्ण भी नीले वस्त्र धारण किए हुए हैं ।

2. मिहर मसीति सिदकु मुसला हकु हलालु कुराणु ।।
सरम सुंनति सील रोजा होहु मुसलमाणु ।।
करणी बाबा सचु पीरु कलमा करम निवाज ।।
तसबी सा तिसु भावसी नानक रखै लाज ।। - माझ:म:१, वार,गु:ना:र: 108

3. सरमु धरमु दुइ छपि खड़ोए कूड़ फिरै परधानु वे लालो ।
काजीआ बामणा की गलि थकी अगदु पड़ै सैतानु वे लालो ।।
- रागु तिलंग, गु:ना:र:, 388

भाई गुरदास ने तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया है -"उस समय संन्यासियों के दस सम्प्रदाय थे और योगियों के बारह पंथ । ब्राह्मणों के भी अनेक वर्ग थे । तन्त्र-मन्त्र, रसायन और करामात का बोलबाला था सभी तमोगुण में रत थे । मुसलमानों में भी अनेक वेश चल पड़े थे । कोई पीर था तो कोई पैगम्बर एवं औलिया । ठाकुर-द्वारों को गिरा कर उन के स्थान में मस्जिदों का निर्माण किया जा रहा था, गौ और गरीब की हत्या होती थी ।[1] उस समय हिन्दुओं और मुसलमानों में खिंचाव बढ़ता जा रहा था । सम्प्रदायिकता प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी । अपने अपने धर्मों के पालन में एक दूसरे को घृणा करने लग गए थे । हिन्दु गङ्गा एवं वाराणसी को पवित्र मानते थे तो मुसलमान काबा एवं मक्का को । मुसलमान "सुन्नत" पर बल देते थे तो हिन्दु तिलक एवं यज्ञोपवीत पर । मानवता की कमी थी तथा हिन्दु-मुसलमान आपस में झगड़ रहे थे ।[2]

ऐसी स्थिति में गुरु जी ने सभी धर्मावलम्बियों को उपदेश दिया । उन्होंने सभी को अपने धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ कर उस का पालन करने को कहा । उन्होंने किसी का अधिकार तथा धन हथियाने का विरोध किया । उनके अनुसार पराया हक मुसलमान के लिए शूकर और हिन्दु के लिए गाय के समान है । उन्होंने उसी का समर्थन किया[3] जो अनुचित ढंग से की गई कमाई पर अपने आप को निर्भर नहीं करता था । उन्होंने हिन्दु और मुसलमानों के बीच बढ़ते हुए वैर को समाप्त करने का उपदेश दिया । उन्होंने कहा परमात्मा "एक" है और हम सभी उस के पुत्र हैं । जब परमात्मा "निर्वैरु" है तो हमें भी आपस में किसी प्रकार का वैर विरोध नहीं रखना चाहिए । इसी प्रकार

---

1. वारां भाई गुरदास, वार । पउड़ी 20
2. चार वरण चार मज़हबां जंगि विच हिंदू मुसलमाणे ।।
   खुदी बरवीली तकबरी खिचोताण करेनि धिङ्गाणे ।।
   गंगा बनारस हिंदुआं मका काबा मुसलमाणे ।।
   सुंनत मुसलमान दी तिलक जंञू हिन्दू लोभाणे ।
   - वारां भाई गुरदास
3. हकु पराइआ नानका उस सूअर उस गाइ ।।
   - माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ ।।0

उन्होंने "निरभउ" कह कर भय संत्रस्त समाज को अपने नैतिक बल पर निर्भय बनाने का प्रयत्न किया । "इस्लाम के धार्मिक प्रहार से क्षुब्ध एवं धर्म परिवर्तन में संलग्न समाज को उन्होंने धार्मिक संरक्षण प्रदान किया और व्यापक तथा उदार धर्म का सन्देश दिया ।"[1]

गुरु नानक देव जी के समय विद्या प्राप्ति का क्या प्रबन्ध था, इस विषय पर गुरु नानक वाणी अधिक प्रकाश नहीं डालती । इतिहास एवं जन्मसाखियों के माध्यम से हमें यह बात मालूम होती है कि तत्कालीन समाज में नियमित शैक्षणिक संस्थान अधिक नहीं थे । विद्याध्ययन के लिए छोटे-मोटे स्कूल अवश्य पाए जाते थे परन्तु इन के साथ-साथ किसी शिक्षित व्यक्ति के पास जाकर घर में बैठकर भी विद्याप्राप्त कर ली जाती थी । विद्या का उद्देश्य "डिग्री" प्राप्त करना ही नहीं था प्रत्युत ज्ञान में वृद्धि ही इस का परमोद्देश्य था । विद्यालयों में जहाँ साधारण शिक्षा के साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान के लिए गणित आदि विषय भी पढ़ाए जाते थे वहाँ दर्शन एवं शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को विद्वानों के घर पर जाकर समझा जाता था । इसी प्रकार इस्लाम धर्म की जटिल समस्यायों का समाधान किसी काजी या मौलवी के पास जाकर किया जाता था ।

गुरु नानक को भी सर्वप्रथम गांव की पाठशाला में गोपाल नामक पांधे के पास भेजा गया था ।[2] वहाँ पर साधारण विद्या एवं हिसाब किताब सीखने के पश्चात संस्कृत एवं वेद-शास्त्रों के अध्ययन के लिए संस्कृत-विद्वान् पण्डित बृजनाथ के पास भेजा गया ।[3] इसके पश्चात् फारसी सीखने के लिए मुल्ला के पास भेजा गया जिसका नाम "तवारीख गुरु खालसा" के हवाले से डा॰ त्रिलोचन सिंह कुतुब्द्दीन मानते हैं ।[4] परन्तु कनिंघम के अनुसार उसका नाम सैयद हुसैन था ।[5]

---

1. गुरु नानक एक विवेचन, पदम, पृ॰37
2. "सिख इतिहास", भाग पहिला, प्रो॰ करतार सिंह, पृ॰30 तथा गुरु नानक एक जीवनी, सुरिन्दर सिंह जौहर, पृ॰3।
3. जीवन चरित्र गुरु नानक देव, डा॰ त्रिलोचन सिंह, पृ॰।।
4. वही, पृ॰13
5. "हिस्ट्री आफ द सिक्खज़" पृ॰34

लेखन के लिए उस समय तख्ती का प्रयोग होता था जिसे पट्टी कहते थे । गुरु जी ने जो "पट्टी" लिखी वह उनकी वाणी में आसा राग के अन्दर अंकित है । इसके अतिरिक्त कागज़, कलम और स्याही का प्रयोग भी चलता था । क्योंकि गुरु नानक ने आध्यात्मिक विद्या की प्राप्ति पर अधिक बल दिया है इस लिए उन के ये लिखने के साधन भी अलग ही हैं -

जालि मोहु धसि मसु करि मति कागदु करि सारु ।।
भाउ कलम करि चितु लेखारी गुर पुछि लिखु बीचारु ।।
लिखु नामु सालाह लिखु अंतु न पारावारु[1] ।। । ।।

गुरु नानक की शिक्षा-विषयक दृष्टि

गुरु नानक देव जी ने साधारण शिक्षा की अपेक्षा आध्यात्मिक शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया है और सांसारिक ज्ञान की अपेक्षा ब्रह्म ज्ञान को । इसलिए उन्होंने ऐसी शिक्षा ग्रहण करने का उपदेश दिया जिससे बुद्धि की चंचलता दूर हो जाए और जिस के प्रकाश से अज्ञानता रूपी सम्पूर्ण अंधकार नष्ट हो जाए ।[2] इससे भिन्न पुस्तकें पढ़ने का कोई लाभ नहीं । इसके अतिरिक्त भले ही पढ़-पढ़ कर पुस्तकों की गाड़ियाँ लाद लें, काफिले, नौकाएं खेत{खाते} भर लें, जीवन पर्यन्त अपनी अन्तिम श्वास तक पढ़ते रहें, किन्तु परमात्मा के हिसाब में तो एक ही बात है, दूसरी बातों का अध्ययन अहंकार और सिर खपाने के समान है ।[3] सांसारिक लोग धार्मिक पुस्तकें पढ़ते हैं तथा स्मृतियों का पाठ करते हैं, वे ठाठ से वेद, पुराण पढ़ते और सुनते हैं । परन्तु परमात्मा के रस में अनुरक्त हुए बिना उनका मन नट की भान्ति बहुत नाचता है ।[4]

---

1. सिरी राग, पदे, गु॰ना॰र॰ 28
2. गुरसाखी अंतर जागी । तां चंचल मति तिआगी ।।
   गुरसाखी का उजिआरा । ता मिटिआ सगल अंध्यारा ।।
   - सोरठ म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰ 354
3. पड़ि पड़ि गडी लदीअहि·····।। आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰286
4. पड़ि पड़ि पोथी सिंमृति पाठा । बेद पुराण पड़े सुणि थाटा ।।
   बिनु रस राते मनु बहु नाटा । गउड़ी म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰ 172

मनुष्य को चाहिए कि वह जो विद्या प्राप्त करता है उस पर आचरण करे । यदि वह उसे क्रिया रूप में परिणत नहीं करता तो "ज्ञानं भारं क्रियां बिना" के अनुसार वह उसके लिए भार बन जाती है । इसलिए गुरु नानक का मत है कि पढ़ने के उपरान्त भी जिस में लोभ और अहंकार आदि विकार है, वह पढ़ा हुआ भी मूर्ख है ।[1]

विद्या का विचार करने से ही मनुष्य परोपकारी बन सकता है ।[2] परन्तु यह सब कुछ गुरु की कृपा से संभव है । तभी मनुष्य में विचार करने की शक्ति आती है और विचार करने से ही मनुष्य मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ।[3] विद्या प्राप्ति से मनुष्य की बुद्धि कुशाग्र होती है । उससे जहाँ मनुष्य संसारिक कार्यों को सफलता पूर्वक करने में सफल होता है, वहाँ परमात्मा को भी प्राप्त कर सकता है । गुरु नानक का मत है कि शिक्षा प्राप्त कर उसे व्यर्थ के विवाद में नहीं गंवाना चाहिए । उस से तो परमात्मा की सेवा करके मान प्रतिष्ठा प्राप्त की जानी चाहिए । "अक्ल" से मनुष्य को योग्य पात्र को दान देना चाहिए ।[4] क्योंकि जो अपात्र को दान देता है वह उपकार के स्थान पर अपकार ही कर बैठता है ।

अनपढ़ साधु यदि कोई दोष करता है तो वह क्षमा भी किया जा सकता है, किन्तु यदि कोई पढ़ा-लिखा भी दोष करता है तो उसे दण्ड मिल सकता है । क्योंकि आगे चलकर परमात्मा के दरबार में पढ़े लिखे अथवा अनपढ़ का विचार होता है ।[5] सारांश यह है कि वास्तविक रूप में पढ़ा लिखा वही

---

1. पड़िआ मूरखु आखीऐ जिस लबु लोभ अहंकारा ।। - माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 108
2. विदिआ वीचारी ता परउपकारी । - आसा म॰१, गु॰ना॰र॰216
3. गुरपरसादी विदिआ वीचारै पड़ि पड़ि पावै मानु । - परभाती म॰१, पदे॰ गु॰ना॰र॰, 748
4. अकलि एह न आखीऐ अकलि गवाईऐ वादि ।
   अकली साहिबु से वीऐ अकली पाईऐ मानु ।
   अकली पढ़ि कै बुझीऐ अकली कीचै दानु । - सारंग म॰१, सलोक, गु॰ना॰र॰ 696
5. पड़िआ होवै गुनहगारु ता ओभी साधु न मारीऐ ।...
   पड़िआ अते ओमीआ वीचारु ओ वीचारीऐ । - आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰294

व्यक्ति है जिस को ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति हो गई है ।[1] इस प्रकार जो पढ़े हुए शास्त्रों को विचारता है वही परमात्मा के दरबार में प्रामाणिक समझा जाता है ।[2]

गुरु नानक के आविर्भाव के समय आर्थिक वितरण भी असमान था जिस से गुरु नानक सन्तुष्ट न थे । आर्थिक रूप से समृद्ध लोग गरीबों का खून चूसते थे तथा ऐश्वर्य एवं विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे । वे महलों में निवास करते थे । गरी एवं छुआरे खाने के साथ साथ गले में मौक्तिक मालाएँ पहनते थे ।[3] और शरीर पर रेशमी वस्त्र ओढ़ते थे ।[4] छत्तीस प्रकार का भोजन खाते थे ।[5] कुछ अत्यधिक वैभवशाली लोगों के घर भी रत्न जटित होते थे ।[6] उन के बैठने के पलंग भी रत्न जटित होते थे[7] और विवाह की हिंडोली पर भी हाथी दाँत लगे होते थे ।[8] स्त्रियों के मुख पर मणियाँ सुशोभित होती थीं ।[9] वे पर्दों के पीछे रहती थीं और पान चबाया करती थी ।[10] "निरधन आदरु कोई न देइ" तो आदर सत्कार के बिना जीवन मनुष्य के लिए बोझ बन जाता है और बोझ तले दबा मनुष्य ज्ञान से भी हाथ धो बैठता है । संक्षेपत: उस समय की प्रजा ज्ञान के बिना अंधी थी और वह मुर्दों की भान्ति अत्याचार सहन कर लेती थी ।[10] समस्त संसार बन्दीगृह बन कर रह गया था जिसमें लोभ का अंधकार बंदीगृह था और अवगुणों की बेड़ीओं से पाँव जकड़े हुए थे । इस पर पूंजीवाद का मुदगर चोट करता था और पाप इस कोतवाली का

---

1. ड॰डै॰ डि॰आनु बुझै जे कोई पड़िआ पंडितु सोई । -आसा म॰१, पटी, गु॰ना॰र॰260
2. पड़िआ बूझै सो परवाणु । धनासरी म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰372
3. आसा म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰ 244
4. छतीह अमृत भाउ॰॰॰॰॰। सिरीराग म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰30
5. मोती त मंदर उसरहि रतनी त होहि जड़ाउ । सिरीराग म॰१,गु॰ना॰र॰24
6. पलंघि लाल जड़ाउ । सिरीराग म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 24
7. आसा म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 244
8. मोहणी मुखि मणी सोहै॰॰॰। सिरीराग म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰24
9. कहा सु पान तंबोली हरमा॰॰॰। रागु आसा म॰१,अस॰गु॰ना॰र॰246
10. अंधी रयति गिआन विहूणी भाहि भरे मुरदारु ।
- आसा म॰१, वार; गु॰नाश्र॰ 292

कोत्वाल था ।[1] इस प्रकार इस आर्थिक ढांचे ने समाज को दो गुटों में विभक्त कर रखा था ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जहाँ एक ओर गुरु जी ने समाज की सांस्कृतिक अवस्था का वर्णन किया है वहाँ पर ऐसा उपदेश भी दिया है जिस से समाज में व्याप्त पाप को दूर किया जा सके । "उन की वाणी में सार्वभौमिक धर्म की स्थापना कर हमारी सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाने का सामर्थ्य है । आचरण की शुद्धता एवं परमात्मा का साक्षात्कार कराने वाली उन की वाणी धन्य है, जो हमारा नित्य मार्ग-दर्शन करती है ।"[2]

(1.3) राजनीतिक अवस्था -

गुरु नानक देव जी के प्रादुर्भाव के समय दिल्ली पर बहलोल लोधी का शासन था और जब तक वे युवावस्था को प्राप्त हुए तब 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिल्ली के सिंहासन पर सुल्तान सिकन्दर लोधी आरूढ़ हो गए थे । सिकन्दर लोधी की कुछ लेखकों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है । "तारीख-ए-दाऊदी" का लेखक लिखता है "सुल्तान सिकन्दर अत्यन्त यशस्वी शासक था । उस का स्वभाव अत्यन्त उदार था । वह अपनी उदारता, कीर्ति और नम्रता के लिए प्रसिद्ध था । उसे तड़क-भड़क बनाव-श्रृंगार में कोई रुचि नहीं थी । धार्मिक और गुणी व्यक्तियों से वह सम्बन्ध रखता था ।" किन्तु श्री बेनर्जी के अनुसार सिकन्दर की यह न्यायप्रियता और उदारता अपने सह-धर्मियों तक ही सीमित थी ।[3] सिकन्दर लोधी कट्टर धर्मनिध था । उस के शासन में राज्य का पूर्णत: धर्मतंत्रात्मक स्वरूप हो गया था और उसने हिन्दुओं पर खुले आम इस्लाम धर्म थोप दिया था ।[4]

---

1. लबु अंधेरा बंदीखाना अउगण पैरी लुहारी ।।
   पूंजी मार पवै नित मुदगर पापु करे कोटवारी ।। - बसंतु रागु अस॰ गु॰ना॰र॰ 674
2. खोज पत्रिका, गुरुनानक अंक, प्रो॰ आशा नन्द वोहरा, पृ॰269
3. इवोलूशन आफ द खालसा, भाग 1, इंदुभूषण बनर्जी, पृ॰29
4. गुरु नानक एक जीवनी, सुरिन्दर सिंह जोहर, पृ॰1

गुरु नानक देव जी के समय भारत की राजनीतिक अवस्था बहुत शोचनीय थी । विदेशी आक्रमणों से राजनीतिक ढांचा बुरी तरह से नष्ट हो चुका था । इतिहासकार सैयद मुहम्मद लतीफ ने उस समय की स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया है - "उत्कोच, कमीनापन एवं धोखा देश में आम प्रचलित था । देश के प्रत्येक भाग में अराजकता एवं बेचैनी थी । देश बरबाद हो चुका था । पाप, अधर्म, धक्केशाही एवं फ़ुजूलखर्ची ने देश को कलंकित किया था । लड़ाई झगड़े क्षय-रोग की तरह पाँव जमाए बैठे थे । देश के मज़दूर लोगों की खून-पसीने की कमाई छीन कर सरकारी खज़ाने भरे जाते थे ताकि दरबारी एवं बादशाह लोग ऐश्वर्य पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें । ज़मीनें ठेकेदारों को दी जाती थीं । वे लोग अपने ऐश्वर्य के के लिए कर्मियों से मनमानी करते थे । इन ठेकेदारों को भी या तो अधिकारियों को घूंस देनी पड़ती थी या सरकारी कोष में अपनी ठगी का कुछ भाग देना पड़ता था । बहुत भयानक कत्ल एवं रोंगटे खड़े कर देने वाली निन्दनीय डकैतियाँ प्रतिदिन होती थीं । पद, दर्जे एवं सम्मान खरीदे एवं बेचे जाते थे ।[1]

तत्कालीन अवस्था का चित्रण गुरु नानक इस प्रकार करते हैं - "कलियुग छुरी के समान है तथा राजा लोग कसाई हैं । धर्म अपने पंखों पर कहीं उड़ गया है । झूठ ने अमावस्या की अंधेरी रात्रि के समान प्रसार किया तथा सत्य रूप चाँद कहीं दिखाई नहीं पड़ता ।"[2]

इसी बात को भाई गुरदास ने अपनी प्रथम वार में बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है -

कल आई कुत्ते मुही खाज होआ मुरदार गुसाई ।।
राजे पाप कमावदे उलटी वाटु खेत कउ खाई ।।
परजा अंधी गिआन बिन कूड़ कुसत मुखहु आलाई ।।
- वारां भाई गुरदास, 1·30

1· हिस्ट्री आफ द पंजाब, मोहम्मद लतीफ, पृ·493

2· कलि काती राजे कसाई धरमु पंख करि उडरिआ ।।
कूड़ अमावस सचु चंद्रमा दीसै नाही कह चड़िआ ।।
- रागु माझ, वार, गु·ना·र·124

निर्णय देने वाली संस्था का सब से बड़ा दायित्व यह होता है कि इन्साफ के तराजू के दोनों पलड़े समान रहें । परन्तु उस समय चोरी करो, डकैती करो या कत्ल करो और इन की सज़ा से बचने के लिए घूंस देकर छुटकारा प्राप्त कर लो । इस तरह निर्णयदायी कानून पैसे का गुलाम बन गया था । निर्दोष लोग कानून की चक्की में पीसे जाते थे । भाई गुरदास काजी लोगों के विषय में, जो धर्म के ठेकेदार थे, इस प्रकार लिखते हैं -

काज़ी होइ रिशवती वढी ले के हक्क गवाई
वरतिआ-पाप सभस जग माहीं ।। - भाई गुरदास वार

उस समय कोई भी काम करवाने के लिए रिश्वत आवश्यक थी । इसके विना कोई भी किसी का कार्य नहीं करता था । यहाँ तक कि राजा लोग भी न्याय तभी देते थे जब उन के हाथ गर्म किए जाएँ -

लए दिते विणु रहै न कोइ ।।
राजा निआउ करे हथि होइ ।।[1]

उस समय राज-कर्मचारी भी राजा जैसा जीवन व्यतीत करना चाहते थे । अत: वह भी प्रजा का शोषण करते थे । उस समय प्रबन्ध करने वालों को सुलतान कहा जाता था जिस के पास अत्यन्त ताकत होती थी । कानून उसकी इच्छा थी । वह किसी भी समय नया कानून बनाकर पुराने को बदल देता था । उसका धन, दौलत एवं समृद्धि उसे दूसरों से स्पष्ट रूप में अलग करती थी । लोगों की मेहनत राजाओं के विलास का साधन बनती थी । फौज, वजीर, दीवान एवं चौधरी आदि जो राजा के सहायक तो थे ही, वे भी राजा की तरह विलासी थे ।[2] गुरु नानक देव बहुत कठोर शब्दों में तत्कालीन राजतन्त्र का वर्णन किया है -

राजा लोग सिंहों के समान खूंखार एवं हिंसक हैं और उनके अधिकारी कुत्तों की तरह लोभी हैं जो शान्तिपूर्वक सोई हुई और बैठी हुई प्रजा को

---

1. रागु आसा गु॰ना॰र॰ 196
2. क्रान्तिकारी गुरु नानक, विश्वानाथ तिवाड़ी, पृ॰4।

जगा कर दु:खी करते हैं । नौकर अपने नाखूनों से उन्हें घाव करते हैं तथा उन का रक्त और मांस कुत्तों के समान चट कर जाते हैं । जहाँ पर जीवों की पड़ताल होगी वहाँ इन की नाक काट ली जाएगी ।[1] राजा लोग प्रजाओं का खून चूसते थे इसलिए इन्हें रक्तपान करने वाले (रतु पीणे) कहा गया है ।[2]

उस समय मुस्लिम शासकों ने न्याय और इमानदारी को ताक पर रख दिया था । "निर्लज्ज अवसरवादिता तथा अनैतिक लालच रोजमर्रा की घटनाएँ थीं और वह छिछोरापन, जिसमें वायदे जल्दी से जल्दी के मौकों पर तोड़ने के लिए किए जाते थे, यह उस नैतिक अपकर्ष की ओर संकेत करता है जो राजनैतिक विघटन के साथ व्याप्त हो रहा था और जिससे देश पीड़ित था"।[3]

इस प्रकार के शासकों की गुरु जी ने कसाई कहकर पुकारा । गुरु नानक के शब्दों में -

कलिकाती राजे कसाई धरमु पंखु करि उडरिआ ।।
कूड़ु अमावसु सचु चंद्रमा दीसै नाही कह चड़िआ ।।
हउ भालि विकुंनी होई ।। अधेरै राह न कोई ।।
विचि हउमै करि दुखु रोई ।। कहु नानक किनि बिधि गति होई ।।[4]

अर्थात् "कसाई-वृत्ति राजा कलियुगी छुरी लेकर प्रजा पर अत्याचार कर रहे हैं । धर्म पंख लगाकर उड़ गया है । सम्पूर्ण राज्य में मिथ्या की अमावस्या का घोर अंधकार छाया हुआ है, सत्य का चन्द्रमा कहाँ उदय हुआ है । मैं उसे खोज-खोज कर व्याकुल हो गया हूँ । अंधकार में कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता । अहंकार के कारण प्रजा दु:खी होकर रो रही है । गुरु नानक सोचतेहैं

---

1. राजे सीह मुकदम कुते ।। जाइ जगाइन्हि बैठे सुते ।।
चाकर नाहदा पाइन्हि घाउ ।। रतु पितु कुतिहो चटि जाहु ।।
जिथै जीआं होसी सार ।। नकी वढीं लाइतबार ।।
- रागु मलार, वार, गु॰ना॰र॰732
2. रतु पीणे राजे सिरै उपरि रखीअहि एवै जापै भाउ ।।
- गु॰ना॰र॰ ।।7, रागु माझ वार श्लोक ।9
3. एवोल्यूशन आँफ द खालसा, भाग ।, इन्दुभूषण बनर्जी, पृ॰50
4. रागु माझ, वार, श्लोक 35, गु॰ना॰र॰122-24

कि ऐसी स्थिति से किस प्रकार छुटकारा हो ।"

उपर्युक्त पद में समय की भयावहता, तत्कालीन जागीरदारों की नृशंसता और क्रूरता, झूठ की प्रबलता एवं लोगों की कारुण्य भावना का मार्मिक चित्रण मिलता है ।[1]

गुरु नानक जी के जीवनकाल में सन् 1521 में बाबर ने भारत पर आक्रमण किया । उसका यह आक्रमण ऐमनाबाद पर हुआ था, जिसकी नृशंसता को गुरु नानक ने प्रत्यक्ष अनुभव किया था । उस आक्रमण में भारतवासियों पर बहुत अत्याचार हुए, विशेष रूप से स्त्रियों की बहुत दुर्दशा हुई । आसा राग में गुरुनानक ने इस राजनीतिक स्थिति का बहुत मार्मिक एवं हृदयद्रावी चित्रण किया है -

"जिन स्त्रियों के सिर पर पट्टियां सुशोभित थीं और उन की मांग में सिंदूर डाला गया था, उन के केश-पाश को कैंची से काट दिया गया । धूलि उड़-उड़ कर उनके गले तक पहुंचती थी । जो महलों में निवास करती थीं उन्हें अब बाहर भी बैठना नहीं मिलता । जब उन का विवाह हुआ था तो उनके वर उनके पास थे । वे हाथीदांत से जड़ित पालकियों में बैठ कर आई थीं ·····वे गरी छुहारे खाती थीं और सेजों पर रमण करती थीं । परन्तु अब उनकी मौक्तिक लड़ी टूट गई है और उन के गले में रस्सी पड़ी हुई है ।"[2]

1· नानक वाणी, डा· जयराम मिश्र, पृ·6

2· जिन सिरि सोहनि पटीआ मांगी पाइ सिंधूर ।
से सिर काती मुंनीअन्हि गल विचि आवै धूड़ि ।।
महला अंदरि होदीआ हुणि बहणि न मिलन्ह हदूरि ॥ 1 ॥
जदहु सीआ वीआहीआ लाड़े सोहनि पासि ।
हीडोली चड़ि आईआ दंद खंड कीते रासि ।। ····
गरी छुहारे खांदीआ माणन्हि सेजड़ीआ ।
तिन्ह गलि सिलका पाईआ तुटन्हि मोतसरीआ ॥ 3 ॥
-आसा म·1, अस· गु·ना·र· 244

गुरु नानक की दृष्टि में बाबर के आक्रमण कालीन स्थिति का वर्णन - "यह सब कुछ इसलिए हुआ कि ये लोग पहले से सचेत नहीं थे। इन्होंने परमात्मा को भुला रखा था और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत कर रही थीं। परन्तु गुरु नानक कहते हैं कि वही धन और यौवन उनके वैरी हो गए। जब परमात्मा का हुक्म हुआ तो यम रूप बाबर क्रूर एवं निर्दयी सिपाही उन की प्रतिष्ठा गंवा कर लेकर चल पड़े। क्योंकि वही होता है जो उस परमात्मा को अच्छा लगता है यदि वह चाहे तो किसी को बड़प्पन दे देता है, यदि उसे अच्छा लगे तो वह किसी को सज़ा दे देता है।"[1]

इसके बाद की अष्टपदी में गुरु जी ने युद्ध के परिणामों को दिखाया है - "तुम्हारे खेत, अस्तबल और घोड़े आदि कहाँ हैं। तुम्हारे नगाड़े और शहनाईयाँ भी दृष्टिगोचर नहीं होतीं, वे सब कहाँ हैं। तलवारों की म्यानें एवं रथ कहाँ हैं। वे दर्पण और सुन्दर मुख कहाँ हैं। ....तुम्हारे वे घर दरवाज़े और मण्डप कहाँ हैं। सुन्दर सराय कहाँ है। वह सुखदायनी सेज और सुशोभित करने वाली कामिनी कहाँ है जिसे देख कर नींद हराम हो जाती थी। वे पान देने वाली तम्बोलिनें कहाँ हैं और पर्दों में रहने वाली स्त्रियाँ कहाँ हैं। वे सब माया की छाया की तरह विलीन हो गई हैं।[2]

तमोगुण की प्रधानता वाले कलियुग में जादू टौने का होना स्वाभाविक है। इसलिए बाबर और उस की सेना को रोकने के लिए इन का व्यर्थ प्रयोग किया गया। परन्तु इस से कोई मुगल अंधा न हुआ -

---

1. धनु जोबनु दुइ वैरी होए जिन्हीं रखे रंगु लाइ ।।
   दूता जो फुरमाइआ ले चले पति गवाइ ।।
   जे तिसु भावै दे वडिआई जो भावै देइ सजाइ ।। - रागु आसा, अस॰ गु॰ना॰र॰244

2. कहा सु खेल तबेला घोड़े कहा भेरी सहनाई ।।
   कहा सु तेगबंद गाडेरड़ि कहा सु लाल कवाई ।।
   कहा सु आरसीआ मुंह बंके ऐथै दिसहि नाही ॥ । ॥ .....
   कहा सु घर दर मंडप महला कहां सु बंक सराई ।।
   कहा सु सेज सुखाली कामणि जिसु वेखि नीद न पाई ।।
   कहा सु पान तंबोली हरमा होइआ छाई माई ।। 2 ॥ - आसा म॰1, गु॰ना॰र॰ 246

कोटी हू पीर वरजि रहाए जा मीर-मुणिआ धाइआ ।
थान मुकाम जले बिज मंदर मुछि मुछि कुइर रलाइआ ।।
कोई मुगल न होआ अंधा किने न परचा लाइआ ॥ 4 ॥[1]

परिणाम स्वरूप मुगलों और पठानों में भयंकर युद्ध हुआ । "रण में खूब तलवारें चलाई गई । मुगलों ने तान-तान कर तुपकें चलाई और पठानों ने हाथी उत्तेजित करके आगे बढ़ाए । इस युद्ध में बहुत सारे लोग मारे गए और मुगलों की विजय हुई ।"[2]

"जिन स्त्रियों की दुर्दशा मुगलों ने की उन में से कुछ तो हिन्दुवानियां, कुछ तुरकानियां कुछ भाटिनें एवं कुछ ठकुरानियाँ थीं । कुछ स्त्रियों के बुरके सिर से पैरों तक फाड़ दिए गए, कुछ को मार दिया गया । कुछ के सुन्दर पति घर नहीं लौटे ।"[3]

गुरु नानक पर तत्कालीन स्थिति का प्रभाव -

गुरु नानक देव प्रथम महांपुरुष थे जिन्होंने अपनी वाणी में राजनीतिक परिस्थिति का चित्रण किया एवं स्पष्ट शब्दों में मुस्लिम शासकों के अत्याचारों की आलोचना की थी ।[4] लोगों की करुणावस्था देखकर गुरु नानक का कोमल हृदय द्रवीभूत हो उठा और अपनी भावनाओं पर काबू न रख सका । एक सच्चे देशभक्त की तरह वह अपना शुद्ध क्रोध "कर्त्ता पुरुष" के पास व्यक्त करते हैं । वे परमात्मा से उसी प्रकार प्रश्न करते हैं जिस प्रकार एक सभ्य पुत्र अपने पिता से उसके किसी रहस्यमय चरित्र का समाधान चाहता है । यदि सब कुछ करने वाला परमात्मा है, बाबर उस असीम शक्ति में एक कठपुतली था तो गुरु जी उस असीम शक्ति के मालिक को ललकारते हैं । यह एक नवीन विचार था जो तत्कालीन चिन्तन के विरुद्ध था । सभी अच्छाइयों और बुराइयों को परमात्मा पर थोपकर

---

1. आसा म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰ 246
2. रागु आसा, अस॰12, गु॰ना॰र॰ 246
3. वही
4. गुरु नानक एक विवेचन, पदम, पृ॰31

अपने नैतिक कर्तव्य से मुक्ति नहीं पाना चाहते थे । उन्होंने अपना उत्तरदायित्व समझ कर परमात्मा से इस भान्ति प्रश्न किया[1] -

खुरासान खसमाना कीआ हिंदुस्तानु डराइआ ।।
आपे दोसु न देई करता जमु करि मुगल चड़ाइआ ।।
एती मार पई करलाणे तैंकी दरदु न आइआ ।। । ।।

- रागु आसा, पदे, गु•ना•र• 226

परमात्मा से यह बात पूछने के बाद कि हे प्रभु भारतवासियों पर इतना अत्याचार हुआ है क्या तुझे उस का कोई दर्द नहीं है । आगे गुरु नानक उस परमात्मा को बहुत ही करुणापूर्ण उपालम्भ देते हैं "कि हे प्रभु यदि शक्तिशाली सशक्त को ही मारे तो मुझे कोई शिकायत नहीं, किन्तु यदि बलवान् सिंह दुर्बल पशुओं के झुण्ड पर आक्रमण कर के उन्हें मार दे तो झुण्ड के स्वामी को कुछ पुरुषार्थ दिखाना चाहिए ।"[2]

गुरु जी ने केवल अपने इष्टदेव को ही उपालम्भ नहीं दिया प्रत्युत बाबर के आगमन को भी पाप की बारात की संज्ञा दी । उनके अनुसार वह काबुल से पाप की बारात ले कर आया है और बलपूर्वक भारत रूपी कन्या का दान मांग रहा है । शर्म एवं धर्म दोनों मारे भय के छिप गए हैं असत्य ही प्रधान होकर फिर रहा है । काजी तथा ब्राह्मणों की बात समाप्त हो गई है । पहले वे विवाह करवाते थे परन्तु बलात्कार की यह सीमा है कि अब शैतान स्त्रियों को बलात् उठाकर ले जाते हैं । हिन्दु एवं मुसलमान दोनों दुःखी है ।[3]

1• "गुरमति दरशन" डा• शेर सिंह ज्ञानी, पृ•30

2• जे सकता सकते कउ मारे ता मनि रोसु न होई ॥ । ॥
सकता सीहु मारे पै वगै खसमै सा पुरसाई ।। - आसा रागु पदे गु•ना•र• 226

3• पाप की जंञ लै काबलहु धाइआ जोरी मंगै दानु वे लालो ।।
सरमु धरमु दुइ छपि खलोए कूड़ु फिरै परधानु वे लालो ।।
काजीआ बामणा की गति थकी अगदु पड़ै सैतानु वे लालो ।
मुसलमानीआ पड़हि कतेबा कसट महि करहि खुदाइ वे लालो ।
जाति सनाती होर हिंदवाणीआ एहि भी लेखै लाइ वे लालो ।।

- तिलंग म•।, पदे, गु•ना•र• 388

गुरु नानक वाणी में प्रस्तुत इस राजनीतिक स्थिति के अध्ययन से एक बात स्पष्ट है कि बाबरादि विदेशी आक्रमणकारियों को भारत के धन-वैभव तथा यहाँ के शासक वर्ग की विलास-प्रियता के कारण निर्बल दशा ने ही आक्रमण करने का अवसर दिया । इस शासक वर्ग ने भारतीय निम्नवर्ग का शोषण कर उसे निर्धन से अति निर्धन कर दिया, परन्तु स्वयं महलों तथा मण्डप माड़ियों में विलास पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे । उनके पापों से एकत्रित की गई माया ही उनकी शत्रु सिद्ध हुई, जिसे लूटने के लिए मुगल आक्रमणकारियों ने उनकी बहु बेटियों को 'हरमों' तथा रनिवासों से खींच खींच कर उन से बलात्कार किया और उन की धन दौलत को लूटा -[1]

इसु जर कारणि घणी विगुति इनि जर घणी खुआई ।।
पापा बाझहु होवै नाही मुइआ साथि न जाई ।।
जिस नो आखि खुआए करता खुसि लए चंगिआई ।। 3 ।।

- रागु आसा, अस•।2, गु•ना•र• 246

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि गुरु नानक देव के प्रादुर्भाव के समय भारत की अवस्था अत्यन्त शोचनीय थी । पंजाब की दशा तो और भी चिन्तनीय थी । यहाँ मुसलमानी राज्य पूर्णरूपेण स्थापित कब्जे हो चुका था । गुरु नानक के पदों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह समय रक्तपात का युग था । सम्पूर्ण भारतवर्ष में आतंक व्याप्त था । कोई ऐसा नेता न था जो राष्ट्र की समस्त बिखरी शक्तियों को एक सूत्र में पिरोकर अत्याचार का सामना कर सके ।[2]

(1.4) गुरु नानक पूर्व सन्तों का योगदान

गुरु नानक देव जी के अविर्भाव तक भारत पर अनेक विदेशी आक्रमण हुए । जहाँ इन आक्रमणकारियों का प्रयोजन धन लूटना था वहाँ इन का उद्देश्य

1• आदि ग्रन्थ के परम्परागत तत्त्वों का अध्ययन, डा• सुरेण सिंह विलखू, पृ•178-79

2• श्री गुरु-ग्रन्थ-दर्शन, डा• जयराम मिश्र, पृ•42

भारत में इस्लाम का प्रचार करना भी था । ये लोग सैनिक शक्ति के बलबूते हिन्दुत्व को समाप्त कर यहाँ के लोगों पर इस्लाम धर्म को थोपना चाहते थे और अपने इस उद्देश्य में इनको कुछ सफलता भी मिली । आक्रमणकारियों तथा मुस्लिम शासकों के आतंक और अत्याचार का जहाँ बोलबाला था, वहाँ दूसरी ओर भारतीय समाज में बहुत सी बुराइयाँ भी घर कर चुकी थीं जिन का पहले ही वर्णन किया जा चुका है ।[1] हिन्दुत्व को एक ओर इस्लाम की चुनौती का सामना करना पड़ रहा था, दूसरी ओर समाजगत जातिवाद एवं बाह्याचार आदि से जूझना पड़ रहा था । जिससे मध्ययुगीन धर्म-सुधारकों के मन में प्रतिक्रिया की प्रबल भावना उत्पन्न हुई जिसने बाद में एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया और यही आन्दोलन आगे चलकर भक्ति-आन्दोलन कहलाया ।

वास्तव में भक्ति आन्दोलन वैष्णवों और शैवों में, दक्षिणी भारत में सातवीं और आठवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो गया था । भक्ति का मुख्य स्रोत भगवद्गीता है और इसका प्रचार "अल्वर" कहलाए जाने वाले वैष्णव सन्तों के माध्यम से दक्षिण में शुरु हो गया था । इस प्रकार 10 अल्वर हुए जो तमिलभाषाई प्रान्तों से हुए हैं और वे प्रत्येक जाति से सम्बन्ध रखने वाले थे । उन में शूद्र और भिखारी से लेकर ब्राह्मण और राजा तक भी शामिल थे । इन्होंने गरीब अमीर, ब्राह्मण और शूद्र सभी को प्रभु भक्ति का अधिकारी माना । इस प्रकार जाति-पाँति के कठोर बन्धनों के प्रति यह आन्दोलन एक क्रान्ति था ।[2]

यह भक्ति-लहर मूलतः दक्षिण में शुरु हुई थी । वहाँ से चलकर यह उत्तरी भारत में पहुँची । इसी लहर के अन्तर्गत उत्तर में बहुत से सन्त हुए जिन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में सुधार लाने का प्रयत्न किया । इस क्षेत्र में गुरु नानक पूर्व सन्तों का जो योगदान रहा उसका यहाँ पर विवेचन किया जाएगा ।

---

1. द्रष्टव्य - गुरुनानक देव जी के प्रादुर्भाव के समय भारत की अवस्था ।
2. गुरु नानक रिलीजन एण्ड ऐथिक्स, बी॰एस॰ आनन्द, पृ॰50-51

शंकराचार्य

भारत में धर्म सुधारकों की चर्चा जब भी शुरु होती है तो सर्वप्रथम शंकराचार्य का नाम आता है । शंकराचार्य ने भारत में उस समय जन्म लिया जिस समय बुद्ध धर्म घोर आडम्बर का शिकार हो चुका था । शंकराचार्य 32 वर्ष की अल्पायु में ही भगवान् को प्यारे हो गए, परन्तु उन्होंने भारतीय समाज में अद्वैतवाद के सिद्धान्तों का डर कर प्रचार किया । उन्होंने भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों पर भाष्य लिखे ।

शंकराचार्य के अनुसार परम तत्त्व एक है, उसमें द्वैत नहीं है । ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्य है । आत्मा परमात्मा का ही अंश है और अन्तत: उसी में लीन हो जाता है । इसलिए उन्होंने जीव को ब्रह्म कहा । आत्मा को जान लेना ही ब्रह्म को जानना है तथा ब्रह्म को जान लेना मोक्ष है । मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान सर्वोत्तम साधन है । शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के साधनों में भक्ति को भी उच्च स्थान प्राप्त है ।

रामानुज -

शंकराचार्य के पश्चात् ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुज हुए । आपका जन्म पोरुबन्दर में हुआ था जबकि आप ने दीक्षा कांची में ग्रहण की । इन्होंने कुछ भाष्य, धर्म संहिता एवं वेदान्तसार पर टीका की रचना की जिससे दक्षिण में इनकी बहुत ख्याति हो गई । फलत: उनके शिष्यवर्ग में दिन प्रतिदिन वृद्धि होती गई । ये विष्णु के भक्त थे और इन के दर्शन में भक्ति का विशेष महत्त्व है । इनका विचार था कि भगवान् विष्णु को भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी थे । और इन का दर्शन विष्णु और विश्व के ऐक्य पर आधारित है । ये लक्ष्मी-नारायण को मानते थे । उनकी आचार पद्धति बहुत जटिल थी ।

स्वामी रामानन्द -

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द जी का जन्म सन् 1299 ई॰ में त्रिवेणी संगम के किनारे प्रयाग में हुआ । कुछ विद्वानों

के अनुसार इनका जन्म मैलकोट में हुआ ।[1] इनके पिता पुण्य सदन गौड़ ब्राह्मण थे । काशी में ओंकारेश्वर से विद्याध्ययन कर 18 वर्ष की आयु में स्वामी रामानन्द शास्त्र पारंगत हो गए थे । उन्होंने गुरु राघवानन्द से दीक्षा ली, जो रामानुजाचार्य के शिष्य थे । चौदहवीं शताब्दी के अन्त में वे अपने गुरु के आश्रम से निकले और लगभग सारे भारत का भ्रमण किया तथा गिरनार पर्वत पर साधना की । अन्त में बनारस में पंचगंगा घाट पर अपने आश्रम की स्थापना की । एक गुफा खुदवाई जिसमें रामोपासना होती थी । यह गुफा उस स्थान पर अभी तक मौजूद है ।[2]

स्वामी रामानन्द ने धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए आवाज़ उठाई । इन्होंने रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों को अपनाया और वर्णाश्रम व्यवस्था के बन्धनों को ढीला कर हर जाति और मत के लोगों को अपनी शरण में लिया । इन्होंने परमात्मा को प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता पर बल दिया । जिस से मार्ग-दर्शन प्राप्त कर भक्ति द्वारा परमात्मा को पाया जा सकता है । इनके आश्रमवासी बहुत से शिष्य थे जिनमें रविदास, धन्ना जाट, कबीरदास एवं सेन नाई आदि बारह शिष्यों को प्रमुखता देकर वैष्णव भक्ति आन्दोलन का निम्न प्रमुख नारा दिया -

जात-पात पूछे नहीं कोय ।। हरि को भजे सो हरि का होय ।।

इस कार्य के लिए इन्होंने विभिन्न प्रदेशों में धर्मस्थानों के रक्षार्थ अखाड़ों की स्थापना की । इन में अवधूत, नागा साधु, आत्मबलिदानी दिगम्बर अनी एवं निर्मोही अनी सेनाओं का संगठन किया ।

भक्त नामदेव -

भक्त नामादेव का जन्म 26 अक्तूबर 1270 ई॰ को रोहिणी नक्षत्र में हुआ ।[3] नामदेव दामसेठ नामक दर्जी के पुत्र थे जिन्होंने बाद में पंढरपुर में धार्मिक गद्दी संभाली । इन्होंने कठिन साधना की । इनको अपने जीवन में

1॰ गुरु नानक एक जीवनी, सुरिन्दर सिंह जौहर, पृ॰21

2॰ स्वामी रामानन्द, डा॰ बी॰पी॰ शर्मा, पृ॰27

3॰ भगती कवि, रणजीत सिंह खड्ग, पृ॰227

अत्यधिक संघर्ष करना पड़ा था । इन्होंने भारत के लगभग सभी तीर्थ स्थानों की यात्रा की जिससे भगवान् के प्रति इनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक हो गया ।

नामदेव ने एक ही ईश्वर की पूजा का उपदेश दिया जिसे वे विठ्ठल कहते थे । परमात्मा निर्मल एवं सर्वव्यापक है तथा संसार में कुछ भी उससे रहित नहीं है । इनका उपदेश है कि परमात्मा को नामस्मरण एवं भक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । गुरु की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि गुरु की दया से माया का स्वप्न टूटता है, दुविधा दूर होती है तथा ज्ञान प्राप्त होता है । भक्त नाम देव मांस, मद्य, परधन एवं परदारा के विरोधी थे तथा इसके साथ ही उन्होंने तीर्थ, व्रत, कर्मकाण्ड एवं बहुदेववाद का भी विरोध किया । उनका विचार है कि देवी देवते मोक्ष नहीं दे सकते -

तू कहीअत ही आदि भवानी ।।
मुकति की बरीआ कहा छपानी ।। - आ॰ग्र॰, राग टोडी

मूर्ति पूजा के विषय में उनका कथन है -

एकै पाथर कीजै भाउ ।। दूजै पाथर धरीजै पाउ ।।
जे ओहु देउ त ओहु भी देवा । कहि नामदेउ हम हरि की सेवा ।।[1]

भक्त नामदेव जातिवाद के भी समर्थक नहीं थे । उनका सन्देश है कि यदि सभी में एक ही ईश्वर की ज्योति है, तो फिर यह जात-पांत एवं उच्च-नीच की भावना कैसी । ये तो केवल तथाकथित उच्च लोगों की ओर से किया जाने वाला छल है, जो सूर्य वंशीय क्षत्रिय के पुत्र मुझको भी शूद्र कहते हैं । कबीर की भाँति नामदेव को भी इसके प्रति क्रोध था ।[2]

1॰ भगती कवि, रघवीर सिंह भरत, पृ॰241

2॰ आलावंती इहु भ्रमु जो है मुझ उपरि सभ कोपिला ।
सूदु सूदु कर मार उठाइओ कहा करउ बाप बीठुला ।
मूए हुए जउ मुकति देहुगे मुकति न जानै कोइला ।।
ए पंडीआ मोकउ ढेढ कहत तेरी पैज पिछंउडी होइला ।।
- आ॰ग्र॰ रागमलार

भक्त त्रिलोचन

भक्त त्रिलोचन का जन्म 1324 ई॰ में हुआ । विद्वानों का विचार है कि ये दक्षिण के रहने वाले थे । ये बहुत ही सूझवान् तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य, तीनों पर दृष्टि रखते थे ।[1]

आदि ग्रन्थ में इनके कुल चार "पद" मिलते हैं जिनमें इन्होंने बाह्याचार एवं भेष की निन्दा की है । इन्होंने कहा कि केवल संन्यासी बन कर या शरीर पर विभूति लगा कर कुछ प्राप्त नहीं होगा, मोक्ष तो ईश्वर भक्ति से ही प्राप्त होगी । जिसके लिए आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता है । कर्मवाद में इन का विश्वास था तथा गूजरी राग में इनका एक पद है जिस में बताया गया है कि अन्तिम समय जीव की जो इच्छा होती है या जिस इच्छा को लेकर उस की मृत्यु होती है उसी के अनुसार उसे फल प्राप्त होता है । जो अन्तिम समय परमात्मा का नाम स्मरण करता है वह मुक्त हो जाता है ।[2] इसी तरह गीता में भी भगवान् कृष्ण का उपदेश है कि अन्तकाल में मेरा स्मरण करते हुए जो मनुष्य शरीर छोड़ता है वह मुझे प्राप्त करता है, इस में तनिक सन्देह नहीं ।[3]

गुरु रविदास -

मध्ययुगीन सन्त परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखने वाले गुरु रविदास का व्यक्तित्व बहुत ही उज्जवल एवं महान् है । इनके जीवन के विषय में कई किंवदन्तियाँ हैं, जिससे इनके जन्म के विषय में भी विद्वानों में मत-भेद पाया जाता है । डा॰ भण्डारकर के अनुसार इनका जन्म 1299 ई॰ में हुआ था । परन्तु डा॰ भगवत व्रत मिश्र का कथन है कि उनका जन्म 1398 ई॰ में हुआ ।[4]

1॰ भगती कवि, नारायण दत्त, पृ॰197

2॰ आ॰ग्र॰ राग गूजरी

3॰ अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय: ।। - गीता, 8॰5

4॰ पंजाब सौरभ, गुरु रविदास विशेषांक, पृ॰12

गुरु रविदास जी की वाणी से उनकी जाति, पेशे और जन्मस्थान के सम्बन्ध में पर्याप्त संकेत मिलता है । उन्होंने स्पष्ट लिखा है -

नागर जनां मेरी जाति विखआत चमारं ।
मेरी जाति कुटबांढला ढोर ढोवंता, नितहि बनारसि आसपासा ।।
- आ॰ग्र॰ राग मलार

गुरु रविदास चर्मकार का काम करते थे । अल्पायु में ही इन का विवाह हो गया । इन्होंने कबीर दास की भान्ति गृहस्थ जीवन व्यतीत किया । छोटी उमर में ही इनका ध्यान आध्यात्मिक विषयों की ओर अधिक लगता था । इन्होंने स्वामी रामनन्द से दीक्षा ली । इन का नाम स्वामी रामानन्द के प्रमुख्य बारह शिष्यों में लिया जाता है । इन्होंने पहले स्वयं भक्ति की तथा फिर लोगों को भक्ति का उपदेश दिया ।

गुरु रविदास भी जाति-वाद के विरोधी थे । उन्होंने कहा कि जाति के विषय में भेद नहीं करना चाहिए क्योंकि सभी एक ही परमात्मा के पुत्र हैं । ब्राह्मण, मुसलमान एवं शेख सभी का कर्त्ता एक ही है । इसीलिए सभी को समान समझना चाहिए ।[1] मनुष्य जन्म के कारण नीच नहीं होता प्रत्युत उसके निकृष्ट कर्म उसे नीच बना देते हैं -

रविदास जन्म के कारणे होत न कोऊ नीच ।
नर को नीच कर डारि हैं ओछे करम की कीच ।।[2]

गुरु रविदास जी के अनुसार परमात्मा एक है । वह सर्वव्यापी है । उस घट-घट-वासी परमात्मा को बाहर ढूंढने की आवश्यकता नहीं, उसे केवल अन्तर्मुखी आध्यात्मिक अभ्यास द्वारा ही पाया जा सकता है । उन्होंने गुरु की आवश्यकता पर बल दिया तथा तीर्थ स्नान, विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करना, सिर मुंडवाना, तिलक लगाना, भस्म लगाना तथा माला धारण करना

---

1. रविदास उपजई सभ इक नूर ते बाह्मन मुल्ला सेखा ।
सभ को करता एक है सभ कू एक ही पेख ।। - गुरु रविदास, काशी नाथ उपाध्याय, पृ॰36
2. पंजाब सौरभ, गुरु रविदास विशेषांक, पृ॰13

आदि को बाह्य प्रदर्शन मात्र माना । उन के मतानुसार सच्चे सन्तों का इन बाहरी वेष-भूषाओं एवं वहिर्मुखी क्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

महाप्रभु चैतन्य

बंगाल के प्रसिद्ध वैष्णव भक्त महाप्रभु चैतन्य का जन्म सन् 1485 में नदिया में हुआ । आप श्रीहट (सिलहट) के भारद्वाज ब्राह्मण थे । छोटी अवस्था में ही वे बहुत विद्वान् थे तथा अल्पायु में ही इन्होंने लिखना शुरु कर दिया । इन की प्रकृति शुरु में अधिक गम्भीर नहीं थी, परन्तु द्वितीय विवाह के पश्चात् वे बहुत गम्भीर-स्वभाव के हो गए । वे नियमित रूप से ठाकुर-पूजा, तुलसी-पूजन तथा सन्ध्यावन्दन करने लगे । वे तिलक धारण करते तथा वैष्णवों के प्रति अत्यधिक विनयपूर्ण हो गए । वे गया में पितृ-श्राद्ध करने गए । वहाँ नदी में स्नान एवं तर्पण-श्राद्धादि से प्रारम्भ करके गया के सभी ब्रह्मकुण्डादि तीर्थों के शास्त्रविहित कृत्य पूरे किए ।[1] बाद में इन्होंने संसार त्याग दिया और मोक्ष की खोज में विचरण करते हुए श्री ईश्वरपुरी से दशाक्षर श्री कृष्ण मन्त्र की दीक्षा ली तथा उसी का जाप करने लगे । ये भगवान् कृष्ण के उपदेशों से बहुत प्रभावित हुए ।

कृष्ण-भक्ति से इनमें एक अद्वितीय शक्ति उत्पन्न हो गई जिससे बहुत से लोग इन के शिष्य बन गए । इन्होंने कहा कि सर्वशक्तिमान् भगवान् कृष्ण को भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । इनका कथन है कि उच्चतम स्थान प्राप्त करने के लिए भगवान् कृष्ण के साथ प्रेमी और भगवान् की प्रेमिका के रूप में शाश्वत लीलाओं में मग्न रहना आवश्यक है । उनकी वाणी भावोत्तेजक तथा सीधी लोगों के अन्त:करण तक पहुँचती है । इसीलिए इन के उपदेशों ने लोगों के मन पर बहुत प्रभाव डाला । उनके मन में "त्याग, वैराग्य, संयम एवं सदाचारपूर्वक भगवद्भक्ति का सेवन तथा भगवान् कृष्ण के नाम का अवलम्बन ही जीवन का परम तत्त्व है । वही शाश्वत आनन्द प्रदान कर सकता है ।"[2]

---

1. भारतीय सन्त कवि, सर्वदानन्द विश्व ग्रन्थमाला, ग्रन्थ 41, पृ.137-38
2. वही, पृ.174

गोरखनाथ -

वज्रयान और सहजयान की प्रतिक्रिया के रूप में नाथ सम्प्रदाय सामने आया । इस सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य गोरखनाथ माने जाते हैं । इन के समय के विषय में विभिन्न मत हैं । फिर भी विद्वद् समाज में इन्हें गुरुनानक देव का समकालीन माना जाता है । गोरखनाथ के नाम पर कई ग्रन्थ मिलते हैं जिन से इनके दर्शन को जाना जा सकता है । इनकी रचनाएँ "गोरख वाणी" के नाम से संग्रहीत की गई हैं जिनमें मुख्यत: गुरु महिमा, वैराग्य, इन्द्रिय-निग्रह, प्राण-साधना, कुण्डलिनी-जागरण, शून्य-समाधि आदि विषयों का ही प्रतिपादन किया गया है ।[1]

गोरखनाथ ने ब्रह्म को इस जगत् में तथा प्रत्येक घट में निवसित माना है । यह संसार उसी की लीला एवं बाज़ीगरी है । जैसे तिल में तेल विद्यमान है वैसे ही अंजन में निरंजन ।[2] संसार में रह कर ही गुरु कृपा से ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है । इसके लिए गोरखनाथ ने भी साधना को प्रमुख मार्ग माना है । गोरखनाथ ने पाषाण-पूजा, बाह्याचार तथा जन्त्र-मन्त्र आदि के पाखण्ड को त्याग देने को कहा ।

डा॰ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं "गोरख नाथ के साधनामार्ग में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक् संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा बाह्याचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि और मद्य-मास के पूर्ण बहिष्कार पर विशेष बल दिया है । हिन्दी में पाए जाने वाले पदों में यह स्वर बहुत बलशाली है । इस मार्ग की सबसे बड़ी कमी इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव था ।[3]

---

1. आदि ग्रन्थ के परम्परागत तत्वों का अध्ययन, डा॰ सुरेण सिंह विलखू, पृ॰27
2. अंजन महि निरंजन भेद्या तिल मुअ भेद्या तेलं ।। -गोरख वाणी, पृ॰21
3. नाथ सम्प्रदाय, 1966, पृ॰227, आदि ग्रन्थ के परम्परागत तत्त्वों का अध्ययन, डा॰ सुरेण सिंह विल्खू, पृ॰40 से उद्धृत ।

महात्मा कबीर -

मध्यकालीन सन्तों में महात्मा कबीर का स्थान बहुत ऊँचा है । उनकी मर्मस्पर्शी वाणी सरल एवं सारगर्भित है । इसीलिए कबीर आज भी बहुत लोकप्रिय हैं । सन्त कबीर का जन्म 1398 ई॰ में हुआ । उनकी जीवन-गाथा मौखिक परम्पराओं से होती हुई कल्पना और सच्चाई के साथ घुलमिल गई है । कहते हैं एक दिन वाराणसी में एक निस्सन्तान मुसलमान जुलाहे नीरु को एक सुनसान तालाब के किनारे शान्त भाव से लेटा हुआ एक शिशु प्राप्त हुआ जिसे वह उठा कर अपने घर ले गया तथा अपनी पत्नी नीमा की गोद में रख दिया । इस दम्पत्ति ने इस का नाम कबीर रख कर, पालन-पोषण कर बड़ा किया । किंवदन्ती यह भी है कि एकबार एक विधवा ब्राह्मणी ने गुरु रामानन्द को प्रणाम किया तथा उन्होंने यह ध्यान दिए बिना कि प्रणाम करने वाली विधवा है, आशीर्वाद दिया, "पुत्रवती हो" । इसके फलस्वरूप कबीर का जन्म हुआ तथा वह ब्राह्मणी उसे तालाब के किनारे छोड़ आई थी । "परन्तु सन्त रविदास जी, गुरु अमर दास जी तथा रज्जब आदि सन्तों ने स्पष्ट लिखा है कि कबीर ने एक मुस्लिम जुलाहिन के गर्भ से जन्म लिया ।"[1]

कबीर जी का बचपन वाराणसी में व्यतीत हुआ था । अनुमान है कि इन्हें नियमित रूप से शिक्षा नहीं प्राप्त हो पाई, परन्तु उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि वे एक विवेकशील एंव तीव्रबुद्धि व्यक्ति थे । छोटी उमर में ही उनका झुकाव परमार्थ की ओर था परन्तु वाराणसी में रुढ़िवादी हिन्दुओं का प्रभुत्व होने के कारण इस मार्ग पर चलते हुए उन्हें बहुत कठिनाइओं का सामना करना पड़ा । इसलिए कबीर जी ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को त्याग कर भीतरी मार्ग को अपनाया -

हमरा झगरा रहा न कोऊ ।। पंडित मुल्लाँ छाडे दोऊ ।।[2]

तथा

1॰ सन्त कबीर, शान्ति सेठी, पृ॰8

2॰ भगती कावि, प्रो॰ दीवान सिंह, पृ॰247

हिन्दु कहूँ तो मैं नहीं मुसलमान भी नाहिं ।

पांच तत्त का पूतला गैबी खेले माहिं । - कबीर साखी संग्रह, पृ॰75

कबीर जी को संन्यास मान्य नहीं था अत: उन्होंने विवाह करवा कर गृहस्थ जीवन बिताया ।कबीर जी ने जातिवाद का बहुत विरोध किया । उन्होंने कहा कि सभी मानव एक ही परमात्मा के नूर से उत्पन्न हुए हैं फिर अच्छे या बुरे का अन्तर क्यों है ।[1] ब्राह्मण भी स्त्री से उत्पन्न हुआ, फिर दूसरों से बड़ा किस प्रकार हुआ । कबीर जी तीर्व शब्दों में तर्क उठाते हैं -

जो ब्राह्मण ब्राह्मणी जाइआ । तउ आन बाट काहे नहीं आइआ ।।

तथा तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद हम कत लोहू तुम कत दूध ।।[2]

अथवा एक जोत से सब उतपंना कौन बाम्हन कौन सूद ।।[3]

कबीर जी का मत है कि नीच वही है जो परमात्मा का नाम नहीं लेता । वे अपना दृष्टान्त देकर कहते हैं कि मेरी नीची जाति को लेकर लोग मेरा उपहास करते हैं परन्तु मैं तो इसी को उत्तम मानता हूँ जिस में जन्म लेकर मैंने ईश्वर की भक्ति की है ।[4] यदि प्रभु की कोई जाति नहीं है तो उसके भक्तों की कौनसी जाति हो सकती है । इसलिए जातिवाद के कीचड़ में नहीं डूबना चाहिए -

जाति नहीं जगदीश की हरि-जन की कहा होइ ।।

जात पांत के कीच में डूब मरो मत कोइ ।।[5]

1॰ अवलि अलह नूर उपाइआ कुदरत दे सभ बंदे ।

एक नूर ते सभु जगु उपजिआ कउन भले को मंदे ।। - आदि॰ग्रन्थ, राग बिभास प्रभाती

2॰ भगती कावि, प्रो॰ दीवान सिंह, पृ॰249

3॰ सन्त कबीर, शान्ति सेठी, पृ॰23

4॰ कबीर मेरी जाति कउ सभु को हंसने हारु ।।

बलिहारी इस जात कउ, जिहि जपिओ सिरजनहार ।। -भगत वाणी सटीक, डा॰ भाई जोध सिंह, पृ॰407

5॰ सन्तकबीर, शान्ति सेठी, पृ॰23

कबीर जी अवतारवाद, देव पूजा तथा मूर्तिपूजा के भी विरोधी थे । जो लोग पत्थर को देवता मानता हैं उनकी सेवा निष्फल होती ।[1] क्योंकि यदि पत्थर को पूजने से हरि की प्राप्ति हो तो मै तो पहाड़ को पूजूंगा । परन्तु उस से तो चक्की भली है जिसका पीसा हुआ आटा सारा संसार खाता ।[2] कबीर जी कहते हैं कि यदि मुझ पर भी सद्गुरु की कृपा न होती तो मैं भी पत्थर पूजता होता -

हम भी पाहन पूजते होते बन के रोझ ।
सतगुरु की किरपा भई डारा सिर का बोझ ।।[3]

इसी प्रकार देववाद के विषय में उन का कथन है -

अनगढ़िया देव कौन करे तेरी सेवा ।।
गढ़े देव को सब कोई पूजै, नित ही लावै सेवा ।।
पूरन ब्रह्म अखंडित स्वामी, तो को न जाने भेवा ।।
दस औतार निरंजन कहिये, सो अपना नहिं होई ।।
यह तो अपनी करनी भोगैं, करता औरहि कोई ।।
ब्रह्मा विस्नु महेसुर कहिये, इन सिर लागी काई ।।
इनहिं भरोसे मत कोइ रहियो, इनहूं मुकति न पाई ।।
जोगी जती तपी सन्यासी आप आप में लड़िआ ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो सबद लखै सोइ तरिया ।।[4]

कबीर जी ने बाह्याचार का भी विरोध किया । उन्होंने कहा कि तिलक लगाने, सुन्नत करने तथा तीर्थ-स्नान का कोई लाभ नहीं जब तक हमारा दिल साफ नहीं है । पितरों के पूजन के विषय में वे कहते हैं कि जीते जी तो उनको कोई मानता नहीं, परन्तु मरने पर श्राद्ध करवाते हैं । वह भी पितरों के पास नहीं पहुँच पाता उसे तो कौए और कुत्ते ही खा जाते हैं ।[5] उन्होंने

---

1. भगत वाणी सटीक, डा॰ भाई जोध सिंह, पृ॰340
2. सन्त कबीर, शान्ति सेठी, पृ॰298
3. वही, पृ॰297
5. जीवत पितर न मानै कोऊ मूएं सिराध कराही ।।
   पितर भी बपरे कहु किउ पावहि कऊआ कूकर खाही ।। - आदि ग्रन्थ, राम गउड़ी ।
4. सन्त कबीर, शान्ति सेठी, पृ॰154

अवतारवाद को भी नहीं माना है । गुरु नानक देव की तरह उनकी स्पष्ट घोषणा है -

संकटि नहीं परै जोनि नहीं आवै नामु निरंजन जाको रे ।।
कबीर को सुआमी ऐसो ठाकुरु जाकै माई ना बापो रे ।।

- आदि ग्रन्थ, राग गउड़ी

भक्त कबीर ने परमात्मा को ओंकार स्वरूप एवं एक माना है । उन का कहना है कि हमें एक परमात्मा से ही प्यार करना चाहिए तभी सुख प्राप्त किया जा सकता है ।[1] उन का अगम अगोचर परमात्मा पांच तत्त्वों एवं तीन गुणों से भिन्न अपार एवं "अलक्ख" पुरुष है ।[2] वह सर्वव्यापक है अतः घट-घटवासी है, परन्तु भ्रम का पर्दा होने के कारण जीव उसे नहीं देख सकता । आत्मा भी परमात्मा का अंश है तथा दोनों में एकत्व है ।

सन्त कबीर जी ने मोक्ष प्राप्ति के लिए संन्यास ग्रहण करना, गेरुए वस्त्र धारण करना, तीर्थाटन, तिलक तथा कठिन साधना आदि किसी को नहीं अपनाया । परमात्मा हमारे अन्दर रहता है अतः गृह त्याग कर उसे जंगलों में ढूंढने की आवश्यकता नहीं है । गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी उसे पाया जा सकता है । उस के लिए सद्गुरु से नाम प्राप्त कर उसका जाप करना चाहिए जिस से दशम द्वार खुल जाता है तथा परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है ।

इस प्रकार उपर्युक्त सुधारकों सहित बहुत से दूसरे सुधारक भी समाज एवं धर्म में सुधार लाने के लिए आजीवन प्रयत्न करते रहे । ये लोग कुल कितना सुधार कर पाए इस विषय में प्रसिद्ध इतिहासकार कनिंघम ने अपने ग्रन्थ "सिक्खों का इतिहास" में इस प्रकार लिखा है - "इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी

---

1. कबीर सुखु न एह जुगि करहि जु बहुते मीत ।
जो चितु राखहि एक सिउ ते सुख पावहि नीत ।। - आ॰ग्र॰राग गउड़ी

2. नाद बिंद तें अगम अगोचर पांच तत तें न्यार ।।
तीन गुन तें भिन्न है पुरुष अलक्ख अपार ।। - सन्त कबीर, शान्ति सेठी, पृ॰30।

के प्रारम्भ में हिन्दु मस्तिष्क प्रगतिहीन और स्थिर न रह सका । मुसलमानों के संसर्ग से वह उद्वेलित होकर परिवर्तित हो उठा और नवीन प्रगति के लिए उत्तेजित हो उठा । रामानन्द और गोरख ने धार्मिक एकता का सन्देश दिया । चैतन्य ने उस धर्म का प्रतिपादन किया, जिस से जातियां सामान्य स्तर पर आ गई । कबीर ने मूर्ति पूजा का निषेध किया और अपना सन्देश लोकभाषा में सुनाया । वल्लभाचार्य जी ने अपनी शिक्षाओं में भक्ति और धर्म का सामंजस्य स्थापित किया । पर वे महान् सुधारक जीवन की क्षणभंगुरता से इतने प्रभावित थे कि उन की दृष्टि में समाजोद्धारका दृष्टिकोण नगण्य सा था । उनके प्रचार का लक्ष्य केवल ब्राह्मण-वर्ग के प्रभुत्व से छुटकारा दिलाना था तथा मूर्तिपूजा और बहुदेववाद की स्थूलता प्रदर्शित करना था । उन्होंने वैराग्यवान और शान्त पुरुषों का संगठन तो किया और आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया । परन्तु अपने भाइयों को सामाजिक एवं धार्मिक बन्धनों को तोड़ने का उपदेश न दे सके, जिस से ऐसे समाज का निर्माण हो, जो रुढ़ियों एवं आडम्बरों से विहीन हो । उन्होंने अपने मतों से तर्क-वितर्क, वाद-विवाद पर तो विशेष बल दिया, पर ऐसा उपदेश नहीं दिया जो राष्ट्रनिर्माण में बीजारोपण का कार्य कर सके । यही कारण है कि उनके सम्प्रदाय विकसित न हुए और जहाँ के तहाँ ही रह गया ।[1]

इन सुधारकों को अधिक सफलता क्यों नहीं मिली यदि इसके कारणों को ध्यानपूर्वक विचारा जाए तो एक तथ्य सामने आता है कि गुरुनानक देव जी से पूर्व जितने भी सुधारवादी आन्दोलन हुए वे प्राय: साम्प्रदायिक एवं परस्पर विवादग्रस्त रहे थे । उदाहरणार्थ "सन्त कवियों के गुरु रामानन्द वर्णाश्रम धर्म के नियमों को शिथिल कर निम्नवर्ग को लोगों को अपना शिष्य बनाने को तैयार थे परन्तु वे यही मानते थे कि पुजारी के रूप में धार्मिक कर्म करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही है ।"[2]

---

1. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, डा॰ जय राम मिश्र, पृ॰40 से उद्धृत ।
2. गुरु नानक जोत ते सरूप, प्रो॰ सुरजीत सिंह, पृ॰187

अछूत तथा नीचों को सामाजिक जीवन में स्वछन्दता प्रदान करने के कारण ही दक्षिणी-भक्ति-लहर के साथ इनका मतभेद हो गया । विरोधता बढ़ जाने के फलस्वरूप इन्हें दक्षिण छोड़ कर बनारस आना पड़ा । "रामानन्द ने अवतारवाद को स्वीकार कर रामोपासना की प्रथा चलाई, इसका परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायिक अहमन्यता बढ़ गई । साम्प्रदायिकता के कारण ही गोस्वामी तुलसीदास जैसे उच्चकोटि के भक्त की "विश्वनाथ पुरी" (काशी) ही वैरी हो गई । वैष्णवों, शैवों एवं शाक्तों का पारस्परिक कलह घटने की बजाय बढ़ता चला गया । रामानन्द के अनुयायी रूढ़ियों एवं बाह्याचारों के बन्धनों से मुक्त न हो सके । उनके पहनने के वस्त्र विशेष ढंग के थे । उनकी माला भी विशेष ढंग की थी । वे किसी के स्पर्श से भय खाते थे और सब से पृथक रहते थे । इसलिए उनका मत विकसित होने की बजाए संकीर्ण हो गया ।"[1]

रामानन्द, वल्लभ तथा चैतन्य आदि भक्तों ने समाज पर कोई अमिट छाप न छोड़ी । क्योंकि इनकी जीवन में कोई विशेष रुचि न थी । तभी तो इन्होंने मानव की सामाजिक स्थिति को बेहतर बनाने के लिए कोई यत्न न किया ।

इस युग में गोरखनाथ के अनुयायी नाथ-सम्प्रदाय की यौगिक क्रियाओं के द्वारा वाह्याडम्बरों का उन्मूलन न कर सके क्योंकि उन में साम्प्रदायिक संकीर्णता आ गई थी । नाथ योगी मेखला, सृंगी, गूदरी, खप्पर, कर्णमुद्रा एवं खिन्था आदि अनेकों चिन्हों से युक्त थे । ये लम्बे लम्बे चोगे पहनते थे तथा शरीर पर राख लगाए रखते थे । इस प्रकार इनके सम्प्रदाय में भी बाह्याडम्बर ही रह गए थे, साधना या भक्ति में गौण भाव आ गए थे ।

कबीर दास एवं रविदास जैसे सन्तों ने जातिवाद का विरोध किया किन्तु ये भी सामाजिक जीवन में अपने एकता तथा मानववादी-विचारों की छाप न छोड़ सके । उनका जातीय समानता का विचार भी प्रयोग में

---

1. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, डा॰ जयराम मिश्र, पृ॰51

न आ सका क्योंकि ये सन्त स्वयं निम्न जाति के थे इसलिए उन के विचारों का प्रभाव उच्चवर्ग के हिन्दुओं पर न पड़ सका । और भी बहुत से भक्त कवियों का प्रभाव केवल उनकी अपनी जाति तक ही सीमित रहा । दूसरा इन्होंने समाज की अपेक्षा धर्म की बातें अधिक की हैं ।

इन सुधारकों की असफलता के कारणों के विषय में डा॰ जयराम मिश्र का कथन है "प्राय: सभी सुधारक त्याग और वैराग्य को जीवन का परम लक्ष्य मानते थे । एक आध इसके अपवाद अवश्य कहे जा सकते हैं, जैसे कि वल्लभाचार्य जी । श्री रामानन्द जी के अनुयायी वैरागियों के नामकरण से ही प्रतीत होता है कि वे लोग वैराग्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे । श्री गोरखनाथ के योगियों में त्याग आवश्यक अंग समझा जाता था, हालांकि उन के अनुयायी गृहस्थ भी थे । कबीर यद्यपि विवाहित थे, गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे, फिर भी वैराग्य पर जोर देते थे । सन्तों के त्याग के इस आदर्श ने लोगों में किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की भावना भर दी । लोक-संग्रह के निमित्त कर्म करने का आदर्श लोग भूल गए । लोग हाथों पर हाथ रख कर भाग्यवादी बन गए और काल, कर्म तथा भाग्य पर मिथ्या दोष आरोपित करने लगे । इस प्रकार इस अकर्मण्यता से हमारे समाज का कर्म पंगु हो गया, ज्ञान चंचु-ज्ञान मात्र रह गया और भक्ति आडम्बर युक्त हो गई ।[1] जो सत्य एवं दिव्य ज्ञान की ज्योति समय समय पर इन सन्तों ने प्रज्जवलित की थी वह सामयिक जगमगाहट के उपरान्त समाप्त हो गई । रामानुजाचार्य से लेकर कबीर तक किसी भी सन्त के व्यक्तित्व से उत्पन्न हुई आत्मिक जागृति स्थाई आन्दोलन का रूप न धारण कर सकी । धर्मपाल सिंगल के कथनानुसार "ये सन्त आत्मा-परमात्मा, माया, प्रकृति एवं तर्क-वितर्क में ही फंसे रहे, या मन्दिरों में बैठ कर पत्थर की मूर्त्ति के आगे नाक रगड़ते रहे, परन्तु किसी भी तरह रचनात्मक योगदान देकर समाज के निर्माण

---

1. श्री गुरु ग्रन्थ-दर्शन, डा॰ जयराम मिश्र, पृ॰52

के काम में न लग सके । समाज कहाँ जा रहा है एवं किस प्रकार आन्तरिक एवं बाह्यात्याचारों से चीख रहा है, इस बात का इन्हें कोई ध्यान न था । यदि क्षण भर के लिए यह भी मान लिया जाए कि इस हीन सामाजिक अवस्था का इनको ज्ञान था, तो भी वे इसे प्रकट करने का सामर्थ्य नहीं रखते थे । यही एक वह विशेषता है, जो गुरु नानक जी को इन सब से महान् एवं उच्च स्थान प्राप्त करवाती है ।"[1]

= = = = = =

---

1. पंजाबी दुनीआं, गुरु नानक अंक, भाग 2, पृ.34

द्वितीय अध्याय

गुरु नानक और वेद

भारतीय परम्परा में धर्म और दर्शन के विषय में जब भी कोई बात होती है तो सर्वप्रथम विद्वान् लोग वेद की तरफ ही देखते हैं, क्योंकि समस्त भारतीय ज्ञान एवं विज्ञान का मूल वेद ही माने जाते हैं । इसलिए आज तक वेदों के प्रति प्रत्येक भारतीय की अटूट श्रद्धा बनी हुई है । यहाँ जितने धार्मिक मत-मतान्तरों एवं दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ, उन सबके प्रवर्तकों ने वेद के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की और उसके प्रामाण्य को वरीयता प्रदान की । मध्यकाल में वैदिक धर्म की कुछ आलोचना भी हुई, किन्तु वह उसके कर्मकाण्डीय रूप के सम्बन्ध में थी । वेद प्रतिपादित ज्ञानकाण्डीय सिद्धान्तों के प्रति किसी ने कोई शब्द नहीं कहा । गुरु नानक वाणी का अध्ययन करने से पता चलता है कि वेद के प्रति गुरु नानक की अपार श्रद्धा थी । धर्म तथा दर्शन के जिस स्वरूप का उन्होंने प्रतिपादन किया वह वस्तुत: वेदमूलक ही है । वेद के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण था इसका विवेचन इस अध्याय में किया जाएगा ।

2. गुरु नानक वाणी में प्रयुक्त वेद शब्द

वेद शब्द विद् धातु से बना है जिसका अर्थ है ज्ञान । वेदों में ज्ञान ही है, ऐसी गुरु नानक की मान्यता है । गुरु नानक वाणी में आलंकारिक भाषा में वेद को व्यापारी कहा गया है और उन की राशि ज्ञान बताई गई है ।[1]

गुरु नानक वाणी में वेद शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है । कुछ स्थलों पर इसे "वेद" लिखा गया है जबकि अधिकांश स्थलों पर इसे "बेद" लिखा गया है । किन्तु दोनों में कोई अन्तर नहीं है । वेद या बेद शब्द का प्रयोग गुरु नानक वाणी में कुल पैंसठ बार हुआ है । गुरु नानक वाणी

---

1. बेद वपारी गिआनु रासि····· ।। - सारंग म॰१, वार,गु॰ना॰र॰

में चौदह बार वेद शब्द प्रयुक्त हुआ है और इस से वेद ग्रन्थों का अर्थ लिया गया है ।[1] यथा -

सामु वेदु रिगु जुजरु अथरवणु ।।[2]
वाचहि पुसतक वेद पुरानां ।।[3]
सुणिऐ सासत सिमृत वेद ।।[4]

इसके अतिरिक्त आदि ग्रन्थ में शेष गुरुओं की वाणी में भी वेद शब्द से वेद ग्रन्थों का ही अर्थ लिया गया है ।[5] यथा -

मनहठि किने न पाइओ पुछहु वेदा जाइ ।।[6]
पूरन पुरख अचुत अविनासी जसु वेद पुराणी गाइआ ।।[7]
जो सरण परै तिसकी पति राखै जाइ पुछहु वेद पुराणी हे ।।[8]

उपर्युक्त उदाहरणों से यह बात होता है कि इन सभी स्थलों पर वेद शब्द से वेद ग्रन्थों का ही अर्थ लिया गया है । इस की पुष्टि इस बात से भी होती है कि कुछ स्थलों पर वेद शब्द के साथ-साथ वेदों की

---

1. आखहि वेद पाठ पुराण ।। - जपु जी, गु॰ना॰र॰ 14
   पंडित पड़हि वखाणहि वेदु ।। - आसा म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰212
   ओड़क ओड़क भालि थके वेद कहनि इक बात । - जपु जी,
   गु॰ना॰र॰ 12
2. मारु म॰ 1, सो॰ गु॰ना॰र॰, 606
3. मारु म॰1, गु॰ना॰र॰ 618
4. जपु जी, गु॰ना॰र॰ 6
5. वेद पड़हि हरि रसु नहीं आइआ ।। माझ म॰3, आ॰ग्र॰128
   कोई पड़ै वेद कोई कतेब । - रामकली म॰5, आग्र॰885
6. सिरीराग म॰3, आ॰ग्र॰86
7. सूही म॰5, आ॰ग्र॰ 783
8. मारु म॰4, आ॰ग्र॰ 1070

US 7385

संख्या का निर्देश किया गया है ।[1]

इसी प्रकार दूसरे गुरुओं की वाणी में भी वेद शब्द के साथ चार संख्या लगाकर यह बात दृढ़ कर दी गई है कि वेद शब्द से वेद ग्रन्थों का बोध होता है ।[2]

इस प्रकार हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि जहाँ पर गुरु नानक वाणी में वेद शब्द प्रयुक्त हुआ है वहाँ इस का अर्थ ऋग्वेद आदि चार संहिता ग्रन्थ ही हैं । इसका केवल एक अपवाद मिलता है और वह है "जपु जी" की अन्तिम पउड़ी में, जहाँ पर साधक को कहा गया है कि वह संयम की भठ्ठी और धैर्य को सुनार बनाए, बुद्धि की निहाई और वेद को हथौड़ी ।[3] यहाँ वेद का अर्थ वेद ग्रन्थ न होकर ज्ञान है ।[4] यहाँ ज्ञान से अभिप्राय परमात्मा द्वारा प्रदत्त दिव्य ज्ञान से है । वही दिव्य ज्ञान वेदों में है । अतः यहाँ पर इसका अर्थ ज्ञान भी किया जा सकता है और वेद ग्रन्थ भी । भाव दोनों दशाओं में समान ही है ।

---

1. चारे वेद होइ सचिआर ।।
   पड़हि गुणीहि तिन्ह चार बीचार ।। - आसा म॰। वार,गु॰ना॰र॰ 294
   चवै चारि वेद जिनि साजे चारे खाणी चारि जुगा ।। - आसा॰म॰।, पटी, गु॰ना॰र॰26।
2. नव खंड चार वेद दस असट पुराण ।। -सिरीराग म॰3, आ॰ग्र॰84
   चारे वेद ब्रह्मे कउ दीए पड़ि पड़ि करे वीचारि ।। - आसा म॰3, आ॰ग्र॰ 423
   दस अठ चारि वेद सभि पूछहु जन नानक नामु छडाई जीउ ।।
   - मारु म॰4, आ॰ग्र॰998
3. जतु पाहारा धीरजु सुनिआरु ।।
   अहरणि मति वेदु हथीआरु ।। - जपु जी, गु॰ना॰र॰ 22
4. द्रष्टव्य "गुरु नानक वाणी प्रकाश, भाग ।, संपा॰ डा॰ तारन सिंह, पृ॰57
   श्री बिनोवा भावे इसका अर्थ अनुभवज्ञान करते हैं । जपु जी, बिनोवा भावे, अनु॰ डा॰ सीता राम बाहरी, पृ॰70
   डा॰ रत्न सिंह जग्गी इसका अर्थ वेद सदृश्य दिव्य ज्ञान करते हैं, गु॰ना॰र॰23
   सोढी तेजा सिंह इसका अर्थ वेद शास्त्रों का ज्ञान करते हैं, कथासागर, पृ॰278

वेद और "बेद" शब्द में कुछ विद्वान् अन्तर मानते हैं, किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है । गुरु नानक वाणी में दोनों का अर्थ एक है, वेद ग्रन्थ या ज्ञान । फिर भी "बेद" शब्द का प्रयोग अधिक बार वेद ग्रन्थों के अर्थ में हुआ है ।[1] इसका ज्ञान के अर्थ में प्रयोग करते हुए बताया गया है कि ज्ञान का व्यर्थ में अभिमान करना बन्धन का कारण है ।[2]

"बेद" शब्द के साथ-साथ कुछ स्थलों पर शास्त्रों और स्मृतियों का भी उल्लेख हुआ है ।[3] कुछ स्थलों पर "बेद" शब्द के साथ शास्त्र और पुराणों का नाम भी आया है ।[4] "बेद" शब्द के साथ पुराण शब्द का प्रयोग तो गुरु नानक वाणी में अनेकशः हुआ है ।[5] गुरु नानक वाणी में कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ वेद के साथ-साथ नाद शब्द का प्रयोग हुआ है ।[6]

"बेद" और वेद शब्द के अतिरिक्त गुरु नानक वाणी में एक स्थल

---

1. द्र· "महान् कोश" भाई कान्ह सिंह नाभा, में शब्द वेद तथा बेद ।
2. बंधन बेदु बादु अहंकार ।। - आसा म·१, अस·ग्र·ना·र·244
   नाउ विसारहि बेदु समालहि विखु भूले लेखारी ।।-मारु म·१, अस·गु·ना·र· 568
3. सासतु बेदु बकै खड़ो भाई करम करहु संसारी ।। -सोरठ म·१, अस·गु·ना·र·356
   गुरमुख सासत्र सिमृत बेद ।। - रामकली म·१, सिध गोसटि गु·ना·र·512
   सासतु बेदु न मानै कोइ ।। - रामकली म·१, श्लोक, गु·ना·र· 530
   सासत बेद सिंमृति बहु भेदु ।।- आसा म·१, पदे, गु·ना·र·206
   सासत्र बेद त्रै गुण है माइआ अंधलउ धंधु कमाई ।।- भैरउ म·१, पदे· गु·ना·र·646
4. सासत्र बेद पुराण पढ़ंता ।। - सारंग म·१, श्लोक, गु·ना·र·690
5. साची कीरति साची बाणी ।
   होर न दीसै बेद पुराणी ।। - मारु म·१, सो·गु·ना·र· 574
   बेद पुराण कथे सुणे हारे मुनी अनेका ।। - मारु म·१, अस·गु·ना·र·550
   असट साज साजि पुराण सोधहि करहि बेद अभिआसु ।।
   - धनासरी म·१, पदे·गु·ना·र·372
   सभे सुरती जोग सभि सभे बेद पुराण ।। - सारंग म·१, गु·ना·र·688
6. गुरमुखि नादं गुरमुखि वेदं गुरमुखि रहिआ समाई ।। -जपुजी, गु·ना·र·4
   गुरमुखि नाद बेद बीचारु ।। रामकली म·१, ओंकार, गु·ना·र·482
   सभि नाद बेद गुरबाणी ।। रामकली म·१, अस·गु·ना·र·454

पर इसका पर्यायवाची शब्द आगम भी प्रयुक्त हुआ है ।[1] इसके अतिरिक्त कुछ स्थलों पर अप्रत्यक्ष रूप से भी इनका वर्णन हुआ है । जैसे पुराण अठारह हैं तो उनके लिए "असटदस" या "दसअठ" शब्द का प्रयोग हुआ । उसी प्रकार वेद चार होने के कारण इनके लिए "चार" शब्द का प्रयोग हुआ है ।[2] "बसंतु राग" में गुरु नानक देव जी का कथन है कि वेद रूपी चार ज्ञान प्रदीप चार युगों के हाथ में दिए हैं जो अपनी-अपनी बारी पर प्रकाश करते हैं ।[3]

2·2 वेदों का कर्त्ता -

वेद भारत के ही नहीं प्रत्युत विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं । बहुत प्राचीनकाल से ही वेदों के विषय में यह विवाद चला आया है कि वेद पौरुषेय हैं या अपौरुषेय । प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय परम्परा वेदों को अपौरुषेय मानती है । वेद के पौरुषेयत्व तथा अपौरुषेयत्व के विषय में गुरु नानक देव का अपना मत क्या है इस का हम यहाँ विचार करेंगे । जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि गुरु नानक वाणी में पैंसठ से अधिक बार वेद शब्द का उल्लेख आया है । इन स्थलों पर वेद के विषय में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं उससे एतद् विषयक उनकी दृष्टि का पता चलता है । कुछ विद्वान् ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि गुरु नानक देव वेदों को पौरुषेय मानते हैं । डा· शेर सिंह ज्ञानी अपनी पुस्तक विचारधारा में लिखते हैं "गुरु साहिब ने वेदों की प्रामाणिकता को उतनी श्रद्धा से नहीं माना जितनी से वैदिक धर्मी मानते हैं । वे वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते थे ।[4] परन्तु

1· पंडित संगि बसहि जन मूरख आगम सास सुने ।
अपना आपु तू कबहु न छोडसि सुआन पूछि जिउरे ।।
- मारु म·1, पदे·गु·ना·र· 542

2· असटदसी चहु भेदु न पाइआ ।
नानक सतिगुरि ब्रहमु दिखाइआ ।। - आसा म·1, पदे गु·ना·र·212

3· नउ सत चउदह तीन चारि करि महलति चारि बहाली ।।
चारे दीवे चहु हथि दीए एका एकी वारी ।। - बसंतु म·1, असु·गु·ना·र·674

4· विचारधार, डा· शेर सिंह ज्ञानी

ज्ञानी जी का यह कथन समाचीन नहीं दिखाई पड़ता । जैसा कि हम आगे देखेंगे, गुरु नानक देव जी ने तथा उन के पश्चात् शेष गुरुओं ने भी वेदों को ईश्वर कृत माना है । हम आज आदि ग्रन्थ में अंकित वाणी को गुरुओं की रचना मानते हैं । परन्तु उन्हें यह वाणी परमात्मा से ही प्राप्त हुई थी । जिसके विषय में गुरु नानक मरदाना से कहते थे कि "रबाब बजाओ वाणी आई है ।" गुरु अमरदास इसे "धुर की वाणी आई" कहते हैं और गुरु नानक "जैसी मै आवै खसम की बाणी" । इसी प्रकार भारतीय परम्परा यह मानती है कि वैदिक मन्त्र भी मन्त्र-द्रष्टा मनीषियों को परमात्मा से प्राप्त हुए थे ।

गुरु नानक वाणी में हमें बहुत से ऐसे उद्धरण मिलते हैं जहाँ पर गुरु नानक देव जी ने वेदों को ईश्वर-कृत माना है । उनके मतानुसार ईश्वर से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, उसी से पर्वत और युग बने और उसी से वेद उत्पन्न हुए ।[1] बिलावल राग में गुरु नानक लिखते हैं कि परमात्मा ने चारों वेदों की रचना की । उसी ने चार खानियां तथा विभिन्न वाणियों की रचना की । अठारह पुराण षड्दर्शन और तीन गुणों की उत्तपत्ति भी उसी से हुई ।[2] इस रहस्य को वही समझ सकता है जिसको वह स्वयं समझाए । परमात्मा ने "गुरुमुख" एवं "मनमुख" दोनों को स्वयं उत्पन्न किया और उन में स्वयं विद्यमान है । किन्तु गुरुमुखों ने वेद वाणी को अपना लिया है और मनमुखों ने नहीं अपनाया । अतः उन दोनों में झगड़ा शुरु हो गया ।[3] गुरु गोविन्द सिंह दशम ग्रन्थ में लिखते हैं कि हे सत्य स्वरूप परमात्मा वेदों को तुमने ही उत्पन्न किया है ।[4]

---

1. ओअंकार ब्रह्मा उतपति ।। ओअंकारु कीआ जिनि चिति ।।
ओअंकार सैल जुग भए ।। ओअंकारि बेद निरमए ।।
-रामकली म॰१, ओअंकार, गु॰ना॰र॰472

2. चउथि उपाए चारे बेदा ।। खाणी चारे बाणी भेदा ।।
असट दसा खटु तीनि उपाए ।। सो बूझै जिसु अमि बुझाए ।।
बिलावलु म॰१, थिती॰गु॰ना॰र॰ 434
चवे चारि वेद जिनि साजे चारे खाणी चारि जुगा ।।-आसा॰म॰१, पटटी, गु॰ना॰र॰261

3. दोवै तरफा उपाइ इकु वरतिआ ।।
बेद वाणी वरताइ अंदरि वादु घतिआ । मलार म॰१, वार, गु॰ना॰र॰1278

4. सत्त सदैव सरूप सदाव्रत बेद कतेब तु ही उपजायो ।। सवैये पातशाही 10

गुरु नानक वाणी में बताया गया है कि सृष्टि रचना से पूर्व शून्य की अवस्था थी । उस समय केवल निर्गुण ब्रह्म ही था । उस समय वेद, कतेब, स्मृति, शास्त्र, पुराण, सूर्योदय और सूर्यास्त कुछ भी नहीं था ।[1] परमात्मा ने ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को पैदा किया तथा ब्रह्मा को वेद समर्पित कर दिए ।[2]

उस ब्रह्म से वेद किस प्रकार उत्पन्न हुए (प्रकट हुए) इस बात को बहुत सुन्दर रूपक के द्वारा समझाया गया है । एक वृक्ष है जिसकी जड़ ऊपर को है । उसकी तीन शाखाएं (तीन गुण) हैं जो नीचे हैं, चार वेद जिस के पत्ते हैं ।[3] ऊर्ध्वमूल और अधः शाखाओं वाले वृक्ष की बात कठोपनिषद् में भी कही गई है ।[4] यहाँ यह बात बताई गई है कि ब्रह्मा वृक्ष है, माया उसकी जड़ है और तीन गुण शाखाएं हैं, इन तीनों गुणों का विस्तार चारों वेद करते हैं ।[5]

इस प्रकार ईश्वर ने सर्वप्रथम वेद वाणी ब्रह्मा को दी । ब्रह्मा जो कमल नाभि से उत्पन्न हुए, ने मुँह और कंठ को संवार कर वेदों का उच्चारण किया ।[6] ब्रह्मा ने ये वेद प्रभु प्राप्ति के लिए उच्चारित किए और इसी लिए शंकर ने माया का त्याग किया ।[7] अतः चारों वेद

---

1. बेद कतेब न सिंमृति सासत । पाठ पुराण उदै नहीं आसत ।।
   - मारु॰म॰१, सो॰गु॰ना॰र॰ 602
2. ब्रह्मा बिसनु महेसु देव उपाइआ ।।
   ब्रह्मे दिते बेद पूजा लाइआ ।। - मलार म॰१, वार,गु॰ना॰र॰716
3. उरध मूल जिसु साख तलाहा चारि बेद जितु लागे ।।
   सहज भाइ जाइ ते नानक पारब्रह्म लिव लागे ।। -गूजरी म॰१,अस॰ गु॰ना॰र॰३।4
4. ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।। -कठो॰2॰6॰1
   तुलना - ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययं ।
   छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।। - गीता॰15॰1
5. साम वेद रिगु जुजरु अथरवणु । ब्रह्मे मुखि माइआ है त्रैगुण ।।
   -मारु म॰१, सो॰गु॰ना॰र॰ 606
   सासत्र वेद त्रै गुण है माइआ अंधलउ धंध कमाई ।। भैरउ म॰१,गु॰ना॰र॰646
   बेद बाणी जग वजदा लै गुण करे वीचार ।। -मलार म॰3,आ॰ग्र॰1276
   त्रैगुण्य विषया वेदा ।। - गीता॰2॰45
6. नाभि कमल ते ब्रह्मा उपजे बेद पड़हि मुख कंठि सवारि।। -गूजरी म॰१,पदे॰ गु॰ना॰र॰३।2
7. जे कारणि बेद ब्रहमे उचरे संकरि छोड़ी माइआ ।।
   -प्रभाती म॰१, पदे,गु॰ना॰र॰746

परमात्मा ने ही ब्रह्मा को कह दिए ।[1]

ब्रह्मा से ये वेद ऋषियों को प्राप्त हुए । बहुत समय तक वेद मन्त्र मौखिक रूप से कण्ठ ही किए जाते थे । इस के पश्चात् व्यास मुनि ने, जो कि परमात्मा के गुणों का गान किया करते थे वेद और व्याकरण का विचार किया[2] और वेदों का संकलन किया । इस प्रकार ब्रह्मा के साथ-साथ इन्हें महर्षि व्यास की वाणी भी कहा जाने लगा ।[3]

इस प्रकार गुरु नानक वाणी के अनुसार वेदों को परमात्मा ने ही उत्पन्न किया । सर्वप्रथम उसने ये वेद ब्रह्मा को दिए । महर्षि व्यास ने तो केवल इनका सम्पादन और इन पर विचार किया है ।[4]

2·3 वेदों की संख्या -

वेदों के कर्त्ता के विषय में गुरु नानक देव का मत देने के उपरान्त यह जिज्ञासा होती है कि जिस वेद का वर्णन गुरु नानक वाणी में हुआ है वह एक है या अनेक । नानक वाणी के अन्तर्गत गुरु नानक देव जी ने यह बात स्वीकार की है कि वेद के अनेक भेद हैं ।[5] अनेक शब्द से यह बात समाने आती है कि वेद दो से अधिक हैं । अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि गुरु नानक कहीं

1· चारे वेद ब्रह्मे नो फुरमाइआ ।। मारु म·3, आ·ग्र·1066

2· गुण गावै मुनि ब्यासु जिनि बेद व्याकरण बीचारिआ ।।
- सवैये म·1, के, आ·ग्र·1390

3· बेदु पुकारे वाचीऐ बाणी ब्रह्म विआसु ।। - सिरीराग म·1,
अस·गु·ना·र·68

4· नाना खिआन पुरान बेद बिध चउतीस अखर मांही ।।
बिआस बिचार कहिओ परमारथु राम नाम सरि नाही ।।
- सोरठ, रविदास जी, आ·ग्र·658

5· सासत बेद सिंमृति बहु भेद ।। - आसा म·1, पदे, गु·ना·र·206

उपवेदों की गणना भी साथ करके वेदों को अनेक तो नहीं कह रहे । परन्तु ऐसी बात नहीं है । उन्होंने अपनी बाणी में स्पष्ट संकेत किया है कि वेदों की संख्या चार है । चारों वेद दृश्यमान जगत् का ही वर्णन करते हैं ।[1] उस परमात्मा ने ही चारों वेदों की रचना की है ।[2] आदि ग्रन्थ के अन्तर्गत आई शेष गुरुओं की वाणी में भी वेदों की संख्या चार मानी गई है । गुरु अमर दास के अनुसार सप्त द्वीप, सप्त सागर, नव खण्ड, चार वेद एवं अठारह पुराण हैं ।[3] इसी प्रकार गुरु रामदास, अर्जुन देव, भक्त कबीर एवं नामदेव भी वेदों की संख्या को चार ही मानते हैं ।[4]

अब एक जिज्ञासा और होती है कि जो गुरु नानक देव जी ने वेदों की संख्या चार मानी है तो क्या भारतीय परम्परा वेदों की संख्या चार ही मानती है । इस विषय में प्राचीनकाल से विद्वानों में मत-भेद रहा है । जहाँ तक पाश्चात्य विद्वानों का सम्बन्ध है, वहाँ सर्वसम्मति से वेद चार माने गए हैं । परन्तु भारतीय परम्परा में ऐसा माना जाता है कि सर्वप्रथम वेद एक ही था । इस मत की पुष्टी "विष्णु पुराण" "भागवत पुराण" एवं "मत्स्य पुराण" से होती है । इन में भी यही मत व्यक्त किया गया है कि त्रेता के अन्त तक एक ही वेद था । द्वापर के आरम्भ में महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने इस के चार

---

1. चारे बेद कथहि आकारु ।। - गउड़ी म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰146
2. चउथि उपाए चारे वेदा । विलावल म॰1, थिती, गु॰ना॰र॰434
   चचै चार वेद जिनि साजे ·····। आसा म॰1, पटी, गु॰ना॰र॰261
   चारे बेद मुखागर पाठि ।। बसंत म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰654
3. सपत दीप सपत सागर नव खंड चार वेद दस असट पुराण ।
   - सिरी राग म॰3, आ॰ग्र॰84
4. दस अठ चारि वेद सभि पूछहु जन नानक नाम छडाई जीउ । मारु म॰4, आ॰ग्र॰998
   सिंमृति पुराण चतुर बेदह खट सासत्र जाकउ जपाति ।। आसा म॰5, आ॰ग्र॰456
   चारि बेद अरु सिंमृत पुराना । - धनासरी, कबीर जी, आ॰ग्र॰69 ।
   मुख बेद चतुर पड़ता ।। - गौंड, नामदेव जी, आ॰ग्र॰ 873

भाग किए ।[1] ये भाग उस ने यज्ञानुष्ठान के अनुसार किए । सोलहवीं शताब्दी में अप्पयदीक्षित ने "कुवलयानन्द" में एक पद्य लिखा है जिस में उन्होंने कहा है कि मैं वेद व्यास तो नहीं हूं जो कि उस की तरह एक ही वेद को तीन भागों में कर दूं ।[2] उक्त प्रमाणों से एक तथ्य सामने आता है कि सर्वप्रधान एक ही वेद था । किन्तु बड़ा होने के कारण पढ़ने में कठिनाई आती थी । इसलिए व्यास ने इसे अनेक शाखाओं में विभक्त किया जिससे लोग इसे सुखपूर्वक पढ़ सकें और समझ सकें ।[3]

इस एक वेद में सहस्रों मन्त्र थे । सर्वप्रथम इनको क्रमबद्ध करके तीन भागों में विभक्त किया गया । प्रथम भाग में वे मन्त्र आए जिन में देवताओं की स्तुतियां थीं । इन को ऋक् कहा गया । ये मन्त्र छन्दोबद्ध थे । द्वितीय भाग के अन्तर्गत वे मन्त्र आए जिनको गाया जाता था, इन मन्त्रों को सामन् कहा गया । कुछ मन्त्र मद्यात्मक थे जिन में यज्ञ-विधान का वर्णन था, उन को यजुष् कहा गया । इस प्रकार वैदिक मन्त्रों को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया और इनको त्रयी कहा जाने लगा । इन की तीन ही संहिताएं बन गईं - ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद ।

उपर्युक्त ढंग से वैदिक मन्त्रों को तीन भागों में विभक्त करने के

---

1. विष्णु पुराण, 3·3·20
   मत्स्य पुराण, 144·11
   भागवत् पुराण, 12·6·46-50
2. व्यास्थं नैकतया स्थितं श्रुतिगणं जन्मी न वल्मीकतो ।
   नाभौ नाभवमच्युतस्य सुमहद्भाष्यं च नाभाषिषम् ।।
   - कुवलयानन्द, पृ·94
3. वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्त्वात् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषु सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः ।
   - निरुक्त, 1·20·2 पर दुर्गाचार्य की टीका

उपरान्त भी कुछ मन्त्र अवशिष्ट रहे । वे मन्त्र शान्तिक एवं पौष्टिक कर्मों से सम्बन्धित थे और उन में जादू-टोने की प्रधानता थी । ऐसे मन्त्र अधिकतर अथर्वा और अङ्गिरस् ऋषियों के थे । इस लिए उन्हीं के नाम से इन मन्त्रों का संकलन बना जो अथर्वाङ्गिरस् वेद या अथर्ववेद कहलाया । यह वेद भी बहुत बाद का नहीं है । ब्राह्मणकाल तक वेदों की चारों संहिताओं का संकलन हो चुका था । छान्दोग्य[1] एवं बृहदारण्यक[2] उपनिषद् में चारों वेदों का स्पष्ट नाम आया है । इसके अतिरिक्त सायण, यास्क, वेंकटमाधव, शंकराचार्य एवं स्वामी दयानन्द सदृश सभी विद्वानों ने वेदों की संख्या चार ही मानी है । अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा वेदों की संख्या चार ही मानती है और उसी के अनुरूप गुरु नानक देव भी वेदों की संख्या चार मानते हैं ।

गुरु नानक वाणी में वेदों की संख्या के साथ-साथ चारों वेदों का नामोल्लेख भी हुआ है । गुरु नानक वाणी में वेदों का क्रम थोड़ा भिन्न है । भारतीय परम्परा ऋग्वेद को प्रथम, सामवेद को द्वितीय, यजुर्वेद को तृतीय एवं अथर्व वेद को चतुर्थ मानती है । परन्तु गुरु नानक वाणी में सामवेद को प्रथम स्थान प्राप्त है । ऋग्वेद को द्वितीय यजुर्वेद को तृतीय एवं अथर्ववेद को चतुर्थ । भाषा में आकर वेदों के नाम में भी थोड़ा अन्तर आ गया है।[3]

गुरु नानक देव जी मनु की भांति वेद को ज्ञान का प्रकाशक मानते हैं । उनके मत में ये वेद रूपी चार दीपक हैं जो चारों युगों को प्रदान किए गए हैं । ये ज्ञान के दीपक अपनी-अपनी बारी पर अपने-अपने युग में ज्ञान का प्रकाश करते हैं ।

यह जान लेने पर कि ये चार ज्ञान-प्रदीप चारों युगों में बारी-बारी

---

1. छान्दो. 7.1.2
2. बृहद्. 4.5.11
3. साम वेदु रिगु जुजरु अथरबणु ।
   ब्रहमे मुखि माइआ है त्रैगुण ।। - मारू म.1, सो. गु.ना.र. 606
4. नउसत चउदह तीनि चारि करि महलति चारि बहाली ।
   चारे दीवे चहु हथि दीए एका एकी वारी ।। । ।।
   -बसंत म.1, अस.गु.ना.र.674

प्रकाश करते हैं । अब यह जिज्ञासा होती है कि कौन सा वेद किस युग में प्रकाश करता है । इस का समाधान करते हुए आसा राग में बताया गया है कि सतयुग में साम वेद हुआ । सतयुग में संसार के स्वामी का नाम श्वेताम्बर था । उस युग में लोग सत्य की इच्छा करते थे, सत्य में रहते थे और सत्य में ही समा जाते थे ।[1] श्वेताम्बर शुद्ध सत्वगुणी वृत्ति का द्योतक है । सतयुग में सत्व गुण की ही प्रधानता होती है । इसलिए जगत् के स्वामी को श्वेताम्बर कहना उचित ही है । दूसरा सतयुग में सामवेद को लेने का आशय यह है कि उस समय शब्द ब्रह्म ही था और सामवेद में शब्द-गायन से ही । शब्द ब्रह्म की स्तुति की गई है । इसलिए सामवेद का धर्म आत्म साधना प्रधान है ।

त्रेता युग में ऋग्वेद हुआ । उस समय रामचन्द्र का नाम सभी देवताओं में सूर्य की भान्ति चमकता था । उसके लिए कहा जाता है कि वह राम सर्वत्र परिपूर्ण है, उसका नाम लेने से पाप दूर हो जाते हैं और जीव मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ।[2]

द्वापर में यजुर्वेद प्रधान हुआ । जगत् के स्वामी का नाम यादव-वंशीय कान्ह और कृष्ण प्रसिद्ध हो गया । जो शक्ति के बल पर चन्द्रावली छीन लाया, स्वर्ग से पारिजात वृक्ष छीन लाया और वृन्दावन में कौतुक रचे ।[3]

कलियुग में अथर्व वेद प्रधान हो गया । जगत् के स्वामी का नाम अल्लाह और खुदा पड़ गया, तुर्कों और पठानों का राज्य हो गया जिन्होंने नीले रंग के वस्त्र धारण किए ।[4]

---

1. साम कहै सेतांबर सुआमी सचि सचि महि आछै साचि रहे ।
   सभु को साचि समावै ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 294
2. रिगु कहै रहिआ भरपूरि । राम नामु देवा महि सूरु ।।
   नाइ लइऐ पराछति जाहि ।। नानक तउ मोरवंतरु पाहि ।।
   - आस म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 294
3. जुजु मोहि छ जोरि छली चंद्राबलि कान्ह कृसनु जादमु भइआ ।
   पारजातु गोपी ले आइआ बिंद्राबन महिं रंगु कीआ ।। -आस॰म॰१, बार, गु॰ना॰र॰294
4. कलि महि बेदु अथरबणु हुआ नाउ खुदाई अलहु भइआ ।।
   नील वसत्र ले कपड़े पहिरे तुरक पठाणी अमलु कीआ ।।
   - आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰294

इस प्रकार चार युगों में एक-एक वेद की प्रधानता हुई । जैसे कि पहले देख चुके हैं सतयुग में सामवेद, त्रेता में ऋग्वेद, द्वापर में यजुर्वेद और कलियुग में अथर्ववेद रूपी ज्ञान-प्रदीप ने जगत् को आलोकित किया ।

"माझ राग" में गुरु नानक देव ने वेदों के रंग की भी परिकल्पना की है । उन के अनुसार वेदों का रंग श्वेत लाल पीला तथा काला है ।[1] सामवेद का रंग श्वेत, ऋग्वेद का लाल, यजुर्वेद का पीला एवं अथर्ववेद का काला है । गायत्री तन्त्र के पांचवें पटल में भी वेदों के रंग बताए गए हैं ।[2] वहाँ साम वेद को श्वेत, ऋग्वेद को पीत, यजुर्वेद को लाल एवं अथर्ववेद को श्याम बताया गया है । यहाँ पर भी साम और अथर्व वेद का रंग गुरु नानक वाणी में आए वेदों के रंग के समान है परन्तु ऋग्वेद और यजुर्वेद के रंग में अन्तर आ गया है । महाभारत के वन पर्व के 189वें अध्याय में भगवान् ने युगों के अनुसार अपने रंग बताए हैं; सतयुग में श्वेत, त्रेता में पीला, द्वापर में लाल और कलियुग में काला ।[3] यहाँ पर भी यदि वेदों के रंग को भगवान् वाला रंग मानें तो ऋक् एवं यजुर्वेद वाले रंग में भगवान् वाले रंग से अन्तर है ।

आसा राग में ही गुरु नानक एक स्थान पर बताते हैं कि मनुष्य शरीर रूपी एक रथ है और एक सारथी । प्रत्येक युग में रथ और सारथी बार-बार बदलते रहते हैं । सतयुग में संतोष का रथ और धर्म सारथी रहा । त्रेता में संयम का रथ और शौर्य सारथी रहा । द्वापर में तप का रथ और सत्य सारथी रहा, कलियुग में तृष्णाग्नि का रथ और झूठ सारथी हुआ ।[4]

---

1. बगा रत्ता पीअला काला बेदा करी पुकार ।। - माझ म॰1, वार, गु॰ना॰र॰106
2. गायत्रीतन्त्र, पटल-5, महान्कोश पृ॰1108
3. श्वेत: कृतयुगे वर्ण: पीतस्त्रेता युगे मम ।
   रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्ण: कलियुगे तथा ।। - महाभारत, वनपर्व 189
4. नानक मेरु सरीर का इकु रथु इकु रथवाहु ।
   जुगु जुगु फेरि वटाईअहि गिआनी बुझहि ताहि ।
   सति युगि रथु संतोख का धरम अगै रथवाहु ।।
   त्रेते रथु जते का जोरु अगै रथवाहु ।।
   दुआपुरि रथु तपै का सतु अगै रथवाहु ।।
   कलियुगि रथु अगनि का कूड़ अगै रथवाहु ।। - आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 294

सत्युग में ब्रह्म का रंग सफेद होता है ऐसा महाभारत तथा गुरु नानक वाणी में कहा गया है और इन दोनों (महाभारत एवं गुरु नानक वाणी) में सामवेद का रंग सफेद माना गया है । सफेद रंग सत्त्वमुखी वृत्ति का द्योतक है । अत: सत्युग में सत्त्व गुण प्रधान माना गया है । इसीलिए संतोष को रथ और धर्म को सारथी माना गया है क्योंकि सत्युग में धर्म अपने दोनों पैरों पर खड़ा होता है ।

गुरु नानक वाणी में त्रेता युग में ऋग्वेद की प्रधानता मानी गई है जिस का रंग लाल है । भले ही गुरु नानक का यह विचार गायत्री तन्त्र एवं महाभारत से मेल नहीं खाता, फिर भी उन्होंने इसका कारण बताया है कि त्रेता युग में संयम का रथ होता है और शौर्य सारथी होता है । त्रेता युग में भगवान् राम हुए हैं जो बहुत पराक्रमी एवं योद्धा हुए हैं । उस युग में उन्होंने रावण के साथ युद्ध किया और अपने पराक्रम का प्रदर्शन किया । इसलिए उस युग का सारथी शौर्य माना गया है । ऋग्वेद में भी कई युद्धों का वर्णन है । ऋग्वेद के बहुत से सूक्त इन्द्र से सम्बन्धित हैं जिन में इन्द्र के शौर्य-वर्णन के साथ-साथ इन्द्रवृत्र युद्ध का भी बहुत आलंकारिक वर्णन मिलता है । इसके अतिरिक्त और कई देवताओं के शौर्य या वीरता का वर्णन भी किया गया है क्योंकि वीरता या पराक्रम का रंग लाल माना जाता है, और ऋग्वेद में इसी का वर्णन है, अत: ऋग्वेद का रंग लाल मानना युक्त ही है ।

द्वापर में यजुर्वेद की प्रधानता हो गई । यजुर्वेद में कर्मकाण्ड की प्रधानता है । तत्कालीन साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि द्वापर में दूसरे युगों की अपेक्षा यज्ञ अधिक हुए हैं । द्वापर के अन्दर ही भगवान् कृष्ण ने अवतार लिया जो पीत वस्त्र धारण करते थे । इसीलिए उनको पीताम्बर कहते हैं । जिस युग के स्वामी पीताम्बर हैं, उस युग के प्रधान वेद का रंग पीत कह दिया जाए तो इसमें कोई बुराई नहीं और शायद इसी लिए यजुर्वेद को पीत वर्ण का माना गया है ।

कलियुग में अथर्व वेद की प्रधानता हो गई । जगत् के स्वामी को अल्लाह कहा जाने लगा । इस में भगवान् का रंग भी श्याम हो गया । कलियुग

में तमोगुण प्रधान होता है । क्योंकि तमोगुण का रंग काला है इसलिए इस युग के प्रधान वेद का रंग भी काला कहा गया है । जादू-टोना, मरण, उच्चाटन एवं सम्मोहन आदि सभी प्रकार के मन्त्र अथर्व वेद में पाए जाते हैं । क्योंकि तान्त्रिक उपासना में तमोगुण की प्रधानता होती है और इस प्रकार की उपासना अथर्ववेद में पाई जाती है अत: अथर्ववेद का रंग भी काला कहा गया है । कलियुग में तमोगुण की प्रधानता के कारण ही विश्व में इतने उपद्रव हो रहे हैं । प्रत्येक राष्ट्र में तमोगुणी शैतानों ने अशान्ति फैला रखी है ।

2·4 वेदों का महत्त्व -

वेद भारतीय धर्म एवं दर्शन के प्राण हैं । आज तक जितने भी भारतीय धर्म हुए हैं उनका किसी न किसी रूप में वेदों के साथ सम्बन्ध रहा है । जो वेदों में विश्वास नहीं रखता, भारतीय परम्परा उसे नास्तिक कहती आई है । यहाँ पर हम देखेंगे कि गुरु नानक देव का वेदों के साथ क्या सम्बन्ध रहा है और उन की दृष्टि में वेदों का क्या महत्त्व रहा है ।

जैसे कि हम प्रथम अध्याय में देख चुके हैं कि गुरु नानक देव के प्रादुर्भाव के समय भारत पर मुसलमानों का शासन था । वे राज्य सत्ता के बल पर भारतीयों पर इस्लाम थोप रहे थे । भारत वासियों को बलात् मुसलमान बनाया जा रहा था । इन के अत्याचारों से तंग आकर भारतवासी अपने प्राचीन वैदिक धर्म को भूलते जा रहे थे । दूसरी ओर भारतीय समाज में भी उच्चवर्ण के लोग अपने जातिगत अभिमान के कारण छोटि जाति वालों को अछूत समझने लगे थे । धर्म में पाखण्ड और बाह्याचार का बोल-बाला था । बहुत से लोग गुरु बन बैठे थे जो लोगों से अपनी-अपनी पूजा करवाते थे । वेद-शास्त्रों को लोग भूलते जा रहे थे जिसे देख कर गुरु नानक देव को बहुत आश्चर्य हुआ तथा उन्होंने इस के विरुद्ध आवाज़ उठाई ।

1· सासतु वेदु न मानै कोइ ।। आपो आपै पूजा होइ ।।
- रामकली म·1, श्लोक, गु·ना·र· 530

गुरु नानक देव तथा उन की परम्परा में उन के शेष उत्तराधिकारियों ने लोगों को पुनः वेदों का महत्व समझाया । उन्होंने उपदेश दिया कि वेदों में सत्यस्वरूप प्रभु की सत्यमयी वाणी है और सच्ची कीर्ति है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।[1] कलियुग की वाणी ही ब्रह्मा का अथर्ववेद है जो हरि के यश एवं शुभ करनी को प्रधान मानता है ।[2] वेदों में उस परमात्मा का उत्तम नाम है, उसको सुनता नहीं और वेतालग्रस्त की तरह घूम रहा है ।[3] जिसको ऐसी अवस्था से छुटकारा पाना है, उसे चाहिए कि वह मुख से मधुर वेदवाणी पढ़े ।[4] क्योंकि वेद और कतेब के मत झूठे नहीं हैं, झूठा तो वह है जो इनका विचार नहीं करता ।[5] गुरु नानक वाणी में वेदों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का ढंग भी बताया गया है । "माझ की वार" में स्पष्ट उल्लेख है कि वेदों के साथ मनुष्य का सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता है यदि वह सत्य भाषण करे ।[6] क्योंकि सत्य का आचरण ही सर्वोपरि है ।[7]

वेदों के अन्दर परमात्मा का नाम ही कहा गया है और सन्तजन

---

1. साची कीरति साची बाणी ।। होर न दीसै वेद पुराणी ।।
   - मारू म॰1, सो॰गु॰ना॰र॰574
2. कलि कलवाली सरा निबेड़ी काजी कृसना होआ ।
   बाणी ब्रह्मा बेद अथरवणु करणी कीरति लहिआ ।।
   - रामकली म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰ 456
3. वेदा महि नामु उतभु सो सुणह नाही फिरहि जिउ बैतालिआ ।
   - रामकली म॰3, आ॰ग्र॰919
4. बेद पड़े मुख मीठी बाणी ।। - गउड़ी म॰5, आ॰ग्र॰201
5. बेद कतेब कहु मत झूठे झूठा जो न बिचारे ।।
   - प्रभाती कबीर जी, आ॰ग्र॰ 1350
6. बेदा गंढु बोलै सचु कोइ ।। माझ म॰1, वार, गु॰ना॰र॰।।6
7. सच्चहु ओरै सभु को उपरि सचु आचारु ।। - सिरीराग म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰ 82

उसी को पढ़ कर नाम की व्याख्या करते हैं ।[1] इस प्रकार युगों-युगान्तरों से वेदों के अध्ययन द्वारा ऋषिगण परमात्मा की महिमा का गुणगान करते आए हैं ।[2] वेदों के अन्दर जो वाणी है वह साधु जनों की रसना से उच्चरित है ।[3] इसलिए साधुजन इस वाणी को खोज कर हरिनाम प्राप्त करते हैं ।[4] गुरु नानक वाणी में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि चारों वेद सत्य हैं । उनको पढ़ने और विचारने से सुन्दर विचार ज्ञात होते हैं ।[5] परन्तु जब लोगों को इस संस्कृतमयी वाणी को पढ़ने में कठिनाई होने लगी और लोग कठिनाई के कारण वेदों के मत को ग्रहण नहीं कर पाए तो गुरु नानक देव ने सरल भाषा में वाणी की रचना कर दी । क्योंकि वह गुरु के मुख से निकली थी, इसलिए गुरमुखी कहलाई और गुरमुखी में लिखी हुई गुरु की वाणी "गुरबाणी" कहलाई । गुरु नानक ने अपने शिष्यों को कहा कि यह जो आपको उपदेश दिया जा रहा है आपके लिए यही नाद है और यही वेद है ।[6] इस उपदेश में वेदों के साथ-साथ शास्त्र और स्मृतियों का भी

---

1. आखहि वेद पाठ पुराण ।। आखहि पढ़े करहि वखिआण ।।
   -जपु जी, गु॰ना॰र॰ 14
   सिंमृति पुराण चतुर वेदह खट सासत्र जाकउ जपाति ।।
   - आसा म॰5, आ॰ग्र॰ 456
2. गावनि पंडित पड़नि रखीसर जुगु वेदा नाले ।। - जपु जी, गु॰ना॰र॰16
3. बेद पुराण सिमृति साधुजन इह बाणी रसना भारवी ।।
   - सारंग म॰5, आ॰ग्र॰ 1227
4. हरि के नामि की गत ठाढी ।
   बेद पुरान सिमृत साधुजन खोजत खोज काढी ।।
   - सारंग म॰5, आ॰ग्र॰ 1218
5. चारे बेद होइ सचिआर । पड़हि गुणहि तिन्ह चार बीचार ।।
   - आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰294
6. गुरमुखि नादं गुरमुखि वेदं गुरमुखि रहिआ समाई ।। जपु जी,गु॰ना॰र॰4
   गुरमुखि शब्द का अर्थ भाई कान्ह सिंह नाभा ने "गुरु के उपदेश एवं वाणी में" किया है । द्रष्टव्य महान् कोश पृ॰418
   तथा - गुरमुखि नाद बेद बीचार ।। - रामकली म॰1, ओअंकार, गु॰ना॰र॰482

उपदेश है ।[1] गुरवाणी ही नाद और वेद का विचार है और यही ज्ञान और ध्यान का आधार है ।[2] अत: गुरु के शिष्य के लिए सभी नाद और वेद गुरवाणी ही है ।[3]

गुरु नानक वाणी में कुछ स्थल ऐसे भी देखने को मिलते हैं जहाँ पर उन्होंने अपनी बात को दृढ़ करने के लिए वेदों को उद्धृत किया है । इन स्थलों पर वेदों का ज्ञान प्रामाणिक माना गया ।[4] गुरु नानक वाणी का अध्ययन करने से ऐसे प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं ।[5] यही नहीं गुरु नानक की परम्परा में शेष गुरुओं ने भी वेदज्ञान को प्रामाणिक माना है ।[6]

।§ दस अठ चारि वेद सभि पूछहु जन नानक नामु छडाई जीउ ।।[7]

2§ जो सरणि परै तिसकी पति राखै जाइ पूछहु वेद पुराणी है ।।[8]

3§ कल मै एक नाम किरपानिधि जाहि जपै गति पावै ।
अउर धरमु ताकै समि नाहिनि इह बिधि बेदु बतावै ।।[9]

4) ताका मूढ़ उचारत भेदा ।। जांका भेव न पावत बेदा ।।[10]

1· गुरमुखि सासत्र सिमृति बेद ।। -रामकली ।, सिध-गोसटि, गु·ना·र·512

2· ।§ गुरमुखि नाद बेद वीचारु ।। गुरमुख गिआन धिआनु आधारु ।।
-मारु म·3, आ·ग्र·1058

2§ गुरमुखि नादु बेद है गुरमुखि गुरपरचै नामु धिआवैगो ।।-कानडा म·4, आ·ग्र·1311

3· सभि नाद बेद गुरबाणी ।। -रामकली म·1, पदे, गु·ना·र·454

4· आदि ग्रन्थ के परंपरागत तत्त्वों का अध्ययन, पृ·192

5·§1§ बेद बखाणि कहहि इकु कहीऐ ।
ओहु बेअंतु अंतु किनि लहीऐ । बसंत म·1, अस·गु·ना·र·666

§2§ ओड़क ओड़क भालि थके वेद कहनि इक वात ।।
सहस अठारह कहनि कतेबा असलु इकु धातु ।। जपुजी, गु·ना·र·12

§3§ भेरवी हाथ न लभई तीरथ नहीं दाने ।।
पूछ बेद पड़ंतिआ मूठी विणु माने ।। - मारु·म·1, अस·गु·ना·र·560

§4§ बेदु पुकारे पुंनु पापु सुरग नरक का बीउ ।।
जो बीजै सो उगवै खांदा जाणै जीउ ।। -सारंग म·1, श्लोक, गु·ना·र·694

6·§1§ हरि जीउ अहंकार न भावई वेद कूक सुणावहि ।।-मारु म·3, आ·ग्र·1098

§2§ मनहठि किने पाइओ पूछहु वेदा जाइ ।। सिरीराग म·3, आ·ग्र·84

§3§ बिन सतिगुर किनै न पाई परमगते ।।
पूछहु सगल बेद सिमृते ।। -प्रभाती म·5, आ·ग्र·1348

§4§ बेद सिमृति कथे सासत भगत करहि बीचार ।।
मुकत पाईऐ साध संगति बिनसि जाइ अंधारु ।। -धनासरी म·5, आ·ग्र·675

7· मारु म·4, आ·ग्र·998

8· मारु·म·4, आ·ग्र·1070

9· सोरठ म·9, आ·ग्र·632

10· बेनती चौपई, पातशाही 10, गुरमत सुधाकर पृ·82

सारांश यह है कि गुरु नानक और दूसरे गुरुओं ने वेदों के ज्ञान को प्रामाणिक माना है ।[1] यह ज्ञान उस व्यक्ति के लिए है जो वेदों को पढ़ कर उस पर विचार करता है परन्तु जो व्यक्ति "धड़-धड़" सी बकवास करते रहते हैं उनके लिए वेदों में भी वही ढोल "धड़-धड़" बजता है ।[2] संसार में परमात्मा ने दो प्रकार के मनुष्य पैदा किए हैं, गुरमुख और मनमुख; परमात्मा ने वेद वाणी की रचना कर उस में विवाद डाल दिया है । गुरमुखों मुस्लिमों ने तो वेद वाणी को अपना लिया परन्तु मनमुखों ने नहीं अपनाया, अत: दोनों में विवाद शुरु हो गया ।[3] ऐसे मूर्ख लोग विद्वानों के साथ निवास करते हैं, वेद और शास्त्रों को भी सुनते हैं परन्तु अपने स्वभाव को नहीं त्यागते, फिर मूर्ख के मूर्ख ही रहते हैं । जिस प्रकार कुत्ते की पूंछ बारह वर्ष तक नाली में डाल रखी परन्तु रही फिर टेढ़ी की टेढ़ी ।[4]

वेदों का ज्ञान आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर हमें कहाँ तक ले जा सकता है इस विषय में गुरु नानक का विचार है कि चारों वेद दृश्यमान जगत् और तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) का ही वर्णन करते हैं ।

---

1. डा॰ तारन सिंह के मतानुसार भी गुरु नानक वेदों को प्रमाण मानते थे ।
   द्रष्टव्य - गुरु नानक: चिंतन ते कला, पृ॰ 175
2. मांदलु बेरि सि बाजणो घणो धड़ऐ जाइ । - मारु म॰1, श्लोक, गु॰ना॰र॰622
3. दोवै तरफा उपाइ इकु वरतिआ ।।
   बेद बाणी वरताइ अंदरि वादु घतिआ ।। मलार म॰1, वार, गु॰ना॰र॰718
4. पंडित संगि वसहि जन मूरख आगम सास सुने ।।
   अपना आपु तू कबहू न छोडसि सुआन पूछि जिउ रे । - मारु म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰ 542
5. चारे बेद कथहि आकारु । तीन अवसथा कहहि वखिआनु ।
   - गउड़ी म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰146

यह दृश्यमान जगत् और तीन अवस्थाएं अपरा विद्या का विषय है। क्योंकि वेदों में इन्हीं का वर्णन है, इस लिए वेदों में भी अपरा विद्या पाई जाती है । मुण्डकोपनिषद् में यही बात कही गई है कि "चारों वेदों तथा छः वेदाङ्गों में अपरा विद्या पाई जाती है उस अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति तो परा विद्या से होती है ।"[1] प्रश्नोपनिषद् का भी यही कथन है कि "शान्त, अजर, अमर, अभय तथा परलोक की प्राप्ति तो ओंकार से होती है, ऋक्, यजुष् और साम से नहीं ।"[2] गुरु नानक वाणी में भी यही कहा गया है कि वेद उस एक {प्रभु} को नहीं समझ सकते ।[3] ब्रह्मा, जो कि "नाभि कमल" से उत्पन्न हुए थे तथा मुँह और कंठ को संवार कर वेद पढ़ने लगे थे, उसका अन्त नहीं पा सके थे ।[4] वेद भी यही व्याख्या कर बताते हैं कि उस का अन्त नहीं पाया जा सकता ।[5] इस लिए वेद स्वयं भी उसका भेद नहीं जान सके, क्योंकि उसकी न माता है न पिता ।[6] गुरु नानक का मत है कि उस

---

1. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो थर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।
   - मुण्ड· 1·1·5
2. प्रश्नो· 5·5
3. बेद कतेब करहि कह बपुरे नह बूझहि इक एका । - भैरउ म·1, अस· गु·ना·र· 650
4. नाभि कमल ते ब्रह्मा उपजे बेद पढ़हि मुखि कंठि सवारि ।
   ताको अंतु न जाई त्रखणा आवत जात रहै गुबारि ।।
   - गूजरी म·1, पदे, गु·ना·र· 312
5. वेद कहहि वखिआण अंत न पावणा । - माझ म·1, वार, गु·ना·र· 128
6. वेद कतेबी भेद न जाता । ना तिस मात पिता सुत भ्राता ।
   - मारू म·1, सो· गु·ना·र· 572

निर्भय एवं निराकार परमात्मा के सम्मुख राम और कृष्ण की कहानियां तथा वेदों के विचार धुलि सदृश हैं ।[1] परन्तु उस का भाव यह नहीं कि इस उक्ति से वेदों के ज्ञान को तुच्छ माना गया है । इस का तात्पर्य परमात्मा की महानता व्यक्त करना है । वस्तुत: वह इतना महान् है कि यह दृश्यमान जगत् उस के समक्ष कुछ भी नहीं है । यह तो उस का मात्र एक पाद है ।

सारांश यह है कि वेदों में अपरा विद्या पाई जाती है तथा त्रिगुणात्मक माया का ही वर्णन किया जाता है ।[2] यह जगत् तीनों गुणों का ही विस्तार है । अत: वेदों से हमें इस जगत् का ज्ञान होता है, परन्तु परमात्मा का ज्ञान परा विद्या से होता है । मानव जीवन के जो चार पुरुषार्थ बताए गए हैं उनमें से प्रथम तीन, धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति अपरा विद्या से होती है । परन्तु चतुर्थ एवं सर्वोपरि, मोक्ष की प्राप्ति अक्षर या अविनाशी ब्रह्म को जानने से होती है तथा उसे परा विद्या के द्वारा जाना जा सकता है ।

---

1. नानक निरभउ निरंकार होरि केते रामदास ।
केतीआ कान्ह कहाणीआ केते बेद बीचार । - आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 278

कुछ इसी तरह के विचार शेष गुरुओं की वाणी में भी पाए जाते हैं ।

1) बेद पड़हि हरि रसु नही आइआ । माझ म॰3, आ॰ग्र॰128

2) बहु सासत बहु सिमृति पेखे सरब ढंढोलि ।
पूजसि नाही हरि हरे नानक नाम अमोल । -गउड़ी सुखमनी म॰5, आ॰ग्र॰265

3) बेद पड़े पड़ि ब्रह्मे हारे इक तिल नहीं कीमत पाई ।। -सूही म॰5, आ॰ग्र॰747

4) महिमा न जानै बेद । ब्रह्मे न जानै भेद । - रामकली म॰5, आ॰ग्र॰ 894

5) पाइ सकै न पार प्रभु को नेत नेत ही बेद बतावै । सवैया प्रातसाही 10

6) वेद कतेब न भेद लहियो तिह सिध समाधि सभै करि हारे ।
सिंमृत सासत्र बेद सभै बहु भांति पुराण विचार विचारे । 10 ।
- सवैया पातसाही 10

2. सासत्र बेद त्रै गुण है माइआ अंधलउ धंधु कमाई । -भैरउ म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰646

तुलना - त्रैगुण्यविषया वेदा .....। - गीता 2·45

यहाँ एक आपत्ति उपस्थित होती है कि जब अक्षर ही यथार्थ है और उसका ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है तो उसे ही प्राप्त क्यों न किया जाए । अपरा विद्या के जानने में समय और शक्ति का अपव्यय क्यों किया जाए । उसका उत्तर ईशोपनिषद् में मिलता है । उस में बताया गया है कि अविद्या में रहने वाले लोग घोर अंधकार में तीन होते हैं पर उन से भी अधिक घोर अंधकार में वे लोग पड़ते हैं जो विद्या में रत रहते हैं । यहाँ एक और शंका होती है कि यदि अविद्या में तीन व्यक्ति ~~तीन व्यक्ति~~ घोर अंधकार में जाता है और विद्या में रत व्यक्ति उससे भी घोर अंधकार में जाता है तो फिर मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकती है । इसका उत्तर भी वही दे दिया गया है । जो व्यक्ति विद्या और अविद्या दोनों को साथ-साथ जान लेता है वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृतत्व को प्राप्त करता है । ईशोपनिषद् की अविद्या ही यहाँ पर अपरा है तथा विद्या परा है । जिस प्रकार अविद्या और विद्या दोनों को जानना जरूरी है उसी प्रकार अपरा और परा को साथ साथ जानना जरूरी है । इस बात को समझाते हुए डा॰ शिवप्रसाद भारद्वाज लिखते हैं कि यह सभी लोग जानते हैं कि प्रकाश से प्रयोजन रहने पर भी उसके स्थूल उपकरणों को समान रूप से महत्त्व दिया जाता है, कोई उनकी उपेक्षा करे तो प्रकाश भी नहीं पा सकता । घर में विद्युत् दीप लगाने के लिए कितने सामान जुटाने पड़ते हैं । इसी प्रकार परमार्थ सत् को व्यावहारिक सत् में ही खोजा जाता है । जब तक हम अपरा की साधना करके इस स्थूल जगत् का स्वरूप नहीं जान लेते, तब तक परा को समझने का सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर सकते । ब्रह्मानन्द की उच्चता का ज्ञान तब तक कैसे ज्ञात होगा, जब तक विषयानन्द (sensual pleasure) की असारता को न जान लिया जाए ।[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वेदों में अपरा विद्या होने पर भी इनका अपना महत्त्व है, क्योंकि जब तक अपरा विद्या के द्वारा स्थूल जगत् का स्वरूप न जान लिया जाए, जब तक मनुष्य संसार की क्षण भंगुरता

---

1. "विश्व ज्योति" संपा॰ आचार्य विश्वबन्धु, जून-जुलाई, 1973, पृ॰226

को नहीं जान लेता, तब तक वह सांसारिक पदार्थों के मोह को नहीं त्याग सकता जब तक वह इन से विरक्त नहीं होता, तब तक वह आत्मज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता । इसलिए परा तथा अपरा दोनों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है । तभी मनुष्य परमपद को प्राप्त कर सकता है । वेदों के इसी महत्त्व को देखते हुए सिक्खों के चतुर्थ गुरु रामदास जी ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया है "बाणी ब्रह्मा वेदु धरमु दृड़हु पाप तजाइआ बलिराम जीउ ।"[1]

2·5 वेदों का पाठ -

पाठ शब्द पठ् धातु से घञ् प्रत्यय करके बनता है जिसका अर्थ है पढ़ना । श्री वामन शिवराम आप्टे ने इसका अर्थ सस्वर पाठ, आवृत्ति करना, वेद अध्ययन या वेद पाठ किया है । वे इसका अर्थ स्वाध्याय भी करते हैं ।[2] परन्तु स्वाध्याय और पाठ में थोड़ा अन्तर होता है । स्वाध्याय अपने धर्म-ग्रन्थ का नित्यकर्म मानकर किया जाने वाला पाठ होता है । स्वाध्याय को ही शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मयज्ञ कहा गया है ।[3] सिक्ख धर्मावलम्बी जिस अर्थ में 'नितनेम' शब्द का प्रयोग करते हैं, उसी अर्थ में स्वाध्याय शब्द का प्रयोग होता है । परन्तु पाठ शब्द इस से भिन्न अर्थों को लिए हुए है । किसी उद्देश्य या फल की प्राप्ति के लिए धर्म ग्रन्थ का विशेष विधिपूर्वक जो पारायण किया जाता है उसे पाठ कहते हैं । जिस प्रकार रामायण का आदि-ग्रन्थ के पाठ या अखण्ड पाठ करवाए जाते हैं । इन के करवाने का कोई समय निश्चित नहीं है, परन्तु ये मूलत: किसी विशेष अवसर पर या किसी निमित्त से करवाए जाते हैं । परन्तु गुरु नानक देव जी के समय लोगों ने स्वाध्याय को भी पाठ समझ कर करना शुरु कर दिया था । उन दोनों में कोई भी विशेष अन्तर नहीं रह गया था ।

1· सूही म·4, आ·ग्र· 777

2· संस्कृत हिन्दी कोश, पृ·601

3· शत· ब्रा· 11·5·6·3

किसी ग्रन्थ का केवल पाठ करने का तब तक कोई विशेष लाभ नहीं होता जब तक उसके अर्थों को न जान लिया जाए। यास्काचार्य ने वेदों के अर्थ को जाने बिना पाठ की निन्दा की है।[1] जो वेद को पढ़ कर भी उसके अर्थ को नहीं जानता, वह तो केवल भारवाहक है, अर्थ को समझे बिना मन्त्रों को रट लेने वाला वृक्ष के ठूंठ जैसा मूर्ख है। जो अर्थ को समझता है वही समस्त कल्याणों को प्राप्त करता है तथा ज्ञान द्वारा पापों का नाश करके स्वर्ग को प्राप्त करता है।[2] जो अर्थ को बिना समझे मन्त्रों को कण्ठ कर लिया जाता है और पाठ मात्र से ही उच्चारण किया जाता है, वह बिना अग्नि में रखी हुई सूखी समिधाओं के समान कभी भी प्रज्वलित (सफल) नहीं हो सकता।[3] इस सम्बन्ध में वेद भी प्रमाण है। ऋग्वेद में बताया गया है कि जो व्यक्ति वेद को कण्ठस्थ करके भी उसके अर्थ को नहीं जानता है, वह वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है और सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। जो अर्थज्ञ है उसके लिए वाणी अपने स्वरूप को इस प्रकार खोल कर रख देती है जैसे इच्छा करती हुई और सुन्दर वस्त्रों से सजी हुई पत्नी अपने पति के लिए अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देती है।[4] जो वेदों के अर्थ को जान लेता है उसके साथ वाणी की मित्रता पक्की होती है और विद्वत्समाज में उसकी प्रतिष्ठा होती है, परन्तु जो अर्थ समझे बिना मन्त्रों को केवल कण्ठ ही करता है और समझता है कि मैंने वेद का अध्ययन कर लिया है, वह भ्रम है।[5]

---

1. अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति अज्ञान निन्दा च। - निरु. 1.17
2. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
   यो र्थज्ञइत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा। -निरु. 1.17
3. यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दते।
   अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति वा॥ -निरु. 1.17
4. उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
   उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः। - ऋ. 10.71.4
5. उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
   अधेन्वा चरति माययेष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्। -ऋ. 10.71.5

यद्यपि किसी ग्रन्थ का केवल पाठ करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता, फिर भी धर्म-ग्रन्थों का केवल पाठ करने से भी कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है । भले ही इससे साधक को परमपद न प्राप्त हो किन्तु इसका थोड़ा फल तो अवश्य मिलता है । इससे मनुष्य का संस्कार बन जाता है । दूसरा, पाठ करते समय मनुष्य सांसारिक विषयों की ओर से निवृत्त रहता है, उसका ध्यान इन में नहीं जाता । धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करने से मनुष्य का हृदय धीरे-धीरे शुद्ध होता जाता है और शुद्ध हृदय से ही परमात्मा का नाम स्मरण कर उसे पाया जा सकता है । इस सम्बन्ध में गुरु नानक का कथन है -

दीवा बले अंधेरा जाइ । बेद पाठि मति पाप खाइ ।।
उगवै सूरु न जापै चंदु । जह गिआन प्रगासु अगिआनु मिटंतु ।।
बेद पाठ संसार की कार । पढ़ि पढ़ि पंडित करहि वीचार ।।
बिनु बूझे सभ होइ खुआर । नानक गुरमुखि उतरसि पार ।।[1]

यहाँ पर गुरु नानक देव जी का स्पष्ट कथन है कि वेदों का पाठ बुद्धि के पापों को अर्थात् पाप वाली बुद्धि को नष्ट कर देता है । भाई कान्ह सिंह नाभा वेद का अर्थ ज्ञान मान कर इसका अर्थ करते हैं कि "ज्ञान पूर्वक किया गया पाठ बुद्धि के पापों को नष्ट करता है ।[2] परन्तु, यदि सम्पूर्ण शब्द को ध्यानपूर्वक पढ़ कर उस पर विचार किया जाए तो इसका अर्थ वेद पाठ ही उचित ठहरता है जिस को डा॰ जयराम मिश्र भी स्वीकार करते हैं ।[3] परन्तु इस प्रकार किया गया पाठ संसार सागर से पार नहीं उतार सकता जब तक कि उसे समझा नहीं जाता । अतः जब तक धर्म-पुस्तकों को अपने जीवन में न उतारा जाए, तब तक दुःख ही प्राप्त होते हैं ।

मानव के लिए जो चार पुरुषार्थ बताए गए हैं उनमें मोक्ष ही सर्वोपरि

1॰ सूही म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 424

2॰ महान् कोश, पृ॰886

3॰ नानक वाणी, संपा॰ डा॰ जय राम मिश्र, पृ॰47।

माना जाता है । मोक्ष प्राप्त करने के लिए मनुष्य धर्म एवं धर्म-ग्रन्थों का आश्रय लेता है । धर्म-ग्रन्थों को मनुष्य पढ़ता है या उनका पाठ करता है । गुरु नानक देव के प्रादुर्भाव के समय लोग वेदों का पाठ किया करते थे । इस विषय में गुरु नानक का मत है कि वेदों को पढ़ने का पूर्ण फल तभी प्राप्त हो सकता है जब मनुष्य इनके अर्थ को समझ कर उस पर आचरण करे, वरना भले ही वह चारों वेदों को कण्ठस्थ कर जाए तथा वह दान एवं नियम-व्रत भी करता रहे तब भी परमात्मा को नहीं पा सकता ।[1] यदि वह केवल धर्म ग्रन्थों का पाठ ही करता है तो वह केवल प्रकृति की शक्ति का विचार करना ही है ।[2] क्योंकि इस प्रकार अनेकों मुनिजन वेदों और पुराणों का कथन और श्रवण करके हार गए हैं, किन्तु वे शान्ति नहीं पा सके ।[3] मोक्ष प्राप्ति तो हरि-नाम-स्मरण से होगी, केवल वेदों के अभ्यास से नहीं ।[4] वेदों और पुराणों को पढ़-पढ़ कर कितने ही व्यक्ति परमात्मा का वर्णन करते हैं । बहुत से लोग इन्हें पढ़ कर परमात्मा के सम्बन्ध में प्रवचन करते हैं ।[5] पण्डितगण भी वेद पढ़ते हैं और इनकी व्याख्या करते हैं किन्तु वे आन्तरिक रहस्य को नहीं समझते ।[6] इस प्रकार वह पण्डित वेदों को व्यर्थ में ही पढ़ता है, जो उन पर विचार नहीं

---

1. दस अठ लीखे होवहि पासि । चारे बेद मुखागर पाठि ।
   पुरबी नावै वरना की दाति । वरत नेम करे दिन रात ।।...
   - बसंत म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰654

2. असंख गरंथ मुख वेद पाठ ।
   असंख जोग मनि रहहि उदास ।। - जपुजी, गु॰ना॰र॰8

3. बेद पुराण कथे सुणे हारे मुनी अनेका ।
   अठसठि तीरथ बहु घणा भ्रमि थाके भेखा ।। - मारु म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰ 550

4. असट साज साजि पुराण सोधहि करहि बेद अभिआस ।
   बिनु नाम हरि के मुकति नाही कहै नानकु दासु ।। - धनासरी म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 372

5. आखहि वेद पाठ पुराण । आखहि पढ़े करहि वखिआण । -जपु जी, गु॰ना॰र॰14

6. पंडित पड़हि वखाणहि वेदु । अंतरि वसतु न जाणहि भेदु ।
   - आसा म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰2 12

करता । जिसके फलस्वरूप वह स्वयं तो डूबता है भला पितरों को कैसे तार सकेगा । अतः वेद, "कतेब", स्मृति और शास्त्रों को पढ़ने मात्र से मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं है,[2] भले ही कोई चार युगों पर्यन्त इनको क्यों न पढ़ता रहे[3] वेदों के अर्थ को जाने बिना केवल उनको पढ़ते ही जाना और उन पर आचरण न करना ठीक उसी प्रकार कल्याणकारी नहीं है जिस प्रकार कोई रोगी भिषज् से औषधि लाकर उसका सेवन नहीं करता, केवल उसको देखता ही है । रुग्ण व्यक्ति तभी स्वस्थ्य हो सकता है जब वह उसका विधिपूर्वक सेवन करेगा । इस प्रकार कोई व्यक्ति चाहे अपनी सारी आयु तक अध्ययन करता रहे उसे कोई लाभ नहीं हो सकता । इस विषय में आसा राग में गुरु नानक देव जी का कथन है-

पड़ि पड़ि गडी लदीअहि पड़ि पड़ि भरीअहि साथ ।
पड़ि पड़ि बेड़ी पाईऐ पड़ि पड़ि गडीअहि खात ।।
पड़ीअहि जेते बरस बरस पड़ीअहि जेते मास ।
पड़ीहे जेती आरजा पड़िअहि जेते सास ।।
नानक लेखै इक गल होरु हउमै झखणा झाख ।।[4]

कुछ लोग वेद शास्त्रों को पढ़ते हैं और अहंकारवश लोगों को कहते हैं कि मैंने वेद शास्त्रों का अध्ययन किया है, किन्तु वे जानते कुछ भी नहीं ।

---

1. वाचै वादु न बेदु बीचारै । आपि डुबै किउ पितरा तारै ।
- रामकली म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰ 462

2. पड़ि पड़ि पंडित मोनी थके बेदां का अभिआसु ।
हरि नामु चिति न आवई नह निज घरि होवै वासु ।।
- मलार म॰1, आ॰ग्र॰1277

बेद कतेब सिमृति सभ सासत इन्ह पड़िआ मुकत न होई ।
- सूही म॰5, आ॰ग्र॰ 746

3. चारे कुंडा जे भवहि बेद पड़हि जुग चारि ।
नानक साचा भेटे हरि मनि बसै पावहि मोख दुआर ।। -सलोक म॰3, आ॰ग्र॰ 1421

4. आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 286

जब वे इन्हें समझ लेते हैं तब उन्हें सुझाई पड़ने लगता है । फिर किसी प्रकार का चिल्लाना नहीं रह जाता ।[1] अतः मनुष्य को चाहिए कि वह केवल वेदों को पढ़ने पर ही बल न दे बल्कि किसी गुरु अथवा आचार्य के पास जाकर इनके अर्थ को समझ कर इनके तत्त्वज्ञान को प्राप्त करे । तभी उसके अज्ञान के कपाट खुल सकते हैं ।[2] फिर वेदों के उपदेश को हृदयंगम करके उस पर आचरण करने से इनसे लाभ उठाया जा सकता है ।

प्रस्तुत विवेचन से ज्ञात होता है कि गुरु नानक वेदों के अर्थ-ज्ञान पूर्वक अध्ययन पर विशेष बल देते हैं । यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि इस विषय में गुरु नानक द्वारा व्यक्त किये गये विचार ऋग्वेद के ऊपर उद्धृत मन्त्रों से एवं निरुक्तकार यास्क मुनि के विचारों से अत्यधिक साम्य रखते हैं ।

= = = = = =

---

1. सासतर बेद पुराण पढ़ंता । पूकारंता अजाणंता ।
जां बूझै तां सूझै सोई । नानक आखै कूक न होई ।।
- सारंग म॰१, गु॰ना॰र॰ 690

2. वाचहि पुसतक वेद पुराना । इक बहि सुनहि सुनावहि कान्हा ।
अजगर कपटु कहहु किउ खुलै बिनु सतिगुर ततु न पाइआ ।।
- मारू म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰618

तृतीय अध्याय

वैदिक धर्म और गुरु नानक वाणी

3.1 धर्म का स्वरूप

भारतीय संस्कृति का मूलाधार धर्म है । आदिकाल से ही भारत में धर्म को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है । परन्तु समय के साथ-साथ धर्म के स्वरूप एवं अर्थों में अन्तर भी आता रहा । इसी कारण समय-समय पर धर्म के विभिन्न अर्थ एवं लक्षण किए गए । इस सम्बन्ध में डा॰ पी॰वी॰ काणे लिखते हैं कि "धर्म शब्द उन संस्कृत शब्दों में से है जिनका प्रयोग कई अर्थों में होता आया है । यह शब्द कई अर्थों एवं विपर्ययों के चक्र में घूम चुका है । ऋग्वेद की ऋचाओं में यह शब्द या तो विशेषण के रूप में या संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है । इस शब्द का इस रूप में प्रयोग छप्पन बार हुआ है । वेद की भाषा में उन दिनों इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या था, यह कहना अशक्य है । ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में धर्म शब्द पुल्लिंग में प्रयुक्त हुआ है ।[1] किन्तु अन्य स्थानों में या तो नपुंसक लिंग में है या उस रूप में जिसे हम पुल्लिंग एवं नपुंसक लिंग दोनों समझ सकते हैं ।"[2] ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में धर्म शब्द अलौकिक शक्ति का बोधक के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।[3] "धार्मिक विधियों" के अर्थ में भी धर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[4] ऋग्वेद में नियम या

---

1. पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम् । - ऋ॰ 1.187.1
   त्वे धर्माण आसते जुहूभिः सिञ्चतीरिव । ऋ॰10.21.3
   इमम॰जस्यमुभये अकृण्वत धर्माणमग्निं विदथस्य साधनम् । ऋ॰10.92.2
2. धर्म शास्त्र का इतिहास, डा॰ पी॰वी॰ काणे, अनु॰ अ॰चौ॰ काश्यप, पृ॰3
3. आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे ।
   - ऋ॰ 4.53.3
   द्यावा पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कमिते अजरे भूरि रेतसा । -ऋ॰6.70.1
   धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया । -ऋ॰5.63.7
4. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ।
   - ऋ॰ 1.22.18
   समिधानः सहस्रजिदग्ने धर्माणि पुष्यसि । -ऋ॰ 5.26.6
   वृषा धर्माणि दधिषे । -ऋ॰ 9.64.1

व्यवस्था अर्थ में भी धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है ।[1] धर्म शब्द प्राचीन नियम या विधि का भी अर्थ प्रकट करता है ।[2] अथर्ववेद में धर्म शब्द का प्रयोग "धार्मिक क्रिया-संस्कार करने से अर्जित गुण" के अर्थ में हुआ है ।[3]

ब्राह्मण एवं उपनिषद् साहित्य में धर्म शब्द का अर्थ थोड़ा परिवर्तित हुआ दिखाई पड़ता है । ऐतरेय ब्राह्मण में धर्म शब्द सम्पूर्ण धार्मिक कर्त्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[4]

उपनिषद् साहित्य में धर्म शब्द के अर्थ परिवर्तन के साथ-साथ उसके क्षेत्र में विस्तार भी हो गया । छान्दोग्योपनिषद् में धर्म को तीन स्कन्धों वाला बताया गया है । प्रथम स्कन्ध यज्ञ, अध्ययन एवं दान (गृहस्थ धर्म), द्वितीय तप (तपस्या) तथा तृतीय आचरणपूर्वक आचार्य के घर में रहकर विद्याओं का अध्ययन करना (ब्रह्मचर्य धर्म)[5] यहाँ पर धर्म शब्द से आश्रम धर्म की ओर संकेत किया गया लगता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समय-समय पर धर्म शब्द के अर्थ में परिवर्तन होता रहा है । किन्तु अन्त में यह मानव के विशेष अधिकारों, कर्त्तव्यों, बन्धनों का द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचारविधि का परिचायक एवं वर्णाश्रम धर्म का द्योतक हो गया । तैत्तिरीयोपनिषद् में

---

1. अचित्ती यत्र व धर्मा युयोपिम मा नस्तस्तादेनसो देव रीरिषः ।
   - ऋ॰ 7·89·5
2. अग्निर्हि देवां अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दुदुषत् ।-ऋ॰3·3·1
3. ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च ।
   भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ।। - अथर्व॰ ।।·7·17
4. धर्मस्य गोप्ता जनीति तमभ्युत्कृष्टमेवं विदमिवेक्ष्यन्नेतयर्चाभिमन्त्रयेत ।
   ऐ॰ब्रा॰7·17
   तुलना - धर्मशास्त्र का इतिहास, वही, पृ॰4
5. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयोब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् । सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । - छान्दो॰2·23·1

छात्रों के लिए जो धर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह इसी अर्थ में है । यथा - सत्यं वद, धर्मं चर - आदि ॥१०१॥ भगवद्गीता के स्वधर्मे निधनं श्रेय: में धर्म शब्द का यही अर्थ है । धर्म शास्त्र साहित्य में भी धर्म शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[1]

प्रकृति प्रत्यय की दृष्टि से देखा जाए तो धर्म शब्द धृ "धारणपोषणयो:" धातु से मन् प्रत्यय करके बनता है । विद्वान् लोग इसकी व्युत्पत्ति तीन ढंग से करते हैं -

1॥ "ध्रियते लोक: अनेन" अर्थात् धर्म वह है जिस से लोक धारण किया जाए।

2॥ "धरति धारयति वा लोकम्" अर्थात् धर्म वह है जो संसार को धारण करे।

3॰ "ध्रियते लोकयात्रानिर्वाहार्थं य: स: धर्म:" अर्थात् धर्म वह है जिसे लोकयात्रा निर्वाहार्थ सभी धारण करें ।[2]

डा॰ प्रशान्त वेदालंकार पदार्थ के धारक एवं पोषक तत्त्व को धर्म कहते हैं जिसका अभिप्राय है, जिन तत्त्वों से पदार्थ का अस्तित्व है वही तत्व उस पदार्थ का धर्म है । दूसरे शब्दों में जिन तत्वों के नष्ट हो जाने पर पदार्थ भी नष्ट हो जाए वे पदार्थ उस तत्त्व के धर्म हुए । अर्थ विस्तार होने परधर्म की परिभाषा हुई "वस्तुस्वभावो धर्म:" अर्थात् वस्तु का जो स्वभाव है वही उस का धर्म है । जैसे अग्नि का स्वभाव है उष्णता । यदि अग्नि में से उष्णता को निकाल दिया जाए तो अग्नि अग्नि न रहकर राख रह जाएगी, अत: उष्णता अग्नि का धर्म है ।[3]

पदार्थों की ही भान्ति मनुष्य का भी अपना एक धर्म है । वह है मानवता या इन्सानीयत । मानवता के कारण ही मनुष्य का मनुष्यत्व है । मानवता के कारण ही मनुष्य शेष प्राणियों से उत्कृष्ट है । यदि मनुष्य में मानवता न रहे तो मनुष्य और पशु में विशेष अन्तर नहीं रह जाता ।

1॰ धर्मशास्त्र का इतिहास, वही, पृ॰ 4

2॰ धर्मद्रुम, आचार्य राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय, पृ॰1-2

3॰ धर्म का स्वरूप, डा॰ प्रशान्त वेदालंकार, पृ॰17

महाभारत में व्यासमुनि ने धर्म की बहुत रोचक व्याख्या की है । उन के अनुसार धारण करने से ही इसे धर्म कहते हैं । धर्म प्रजा को धारण करता है । जो धारण से संयुक्त हो वह धर्म है ।[1] महाभारत के इस कथन में यह बात स्पष्ट की गई है कि धर्म प्रजा को धारण किए हुए है । धर्म प्रजा को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण पृथ्वी को धारण कर रहा है । गुरु नानक देव जी के समय में एक ऐसी धारणा थी कि यह पृथ्वी धवल (सफेद बैल) के द्वारा धारण की गई है जो इसे अपने सींगों पर उठाए रखता है । गुरु नानक देव इस विषय में अपनी वाणी में लिखते हैं कि यह धवल (सफेद बैल) धर्म ही है जो इस पृथ्वी को धारण करता है ।[2] अथर्ववेद में भी पृथ्वी को धर्म के द्वारा धारण की गई कहा गया है ।[3]

इस प्रकार यह पृथ्वी, यह प्रजा धर्म द्वारा ही धारण की गई है । जब तक धर्म है यह प्रजा समृद्ध एवं सानन्द है । जब धर्म का नाश हो जाता है तो दुनियां में प्रलय काण्ड मच जाता है । शान्ति और आनन्द का नाम-निशान तक मिट जाता है ।

ऋग्वेद में ऋत को धर्म माना गया है और "सुगा ऋतस्य पन्थाः" कहकर यह बताया गया है कि धर्म का मार्ग सुख से गमन करने योग्य है । ऋग्वेद में सत्य को उच्चता प्रदान करते हुए कहा गया है कि सत्य की नाव ही धर्मात्मा को पार लगाती है ।[4] बृहदारण्यकोपनिषद् ने सत्य को धर्म कहा है और धर्म को सत्य । "जो वह धर्म है, वह ही सत्य है, इसलिए सत्य बोलते हुए को कहते हैं कि धर्म कह रहा है और धर्म का वर्णन करते हुए को कहते हैं कि सत्य कह रहा है । यह धर्म और सत्य दोनों धर्म ही हैं ।"[5] गुरु नानक देव

---

1. धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
   यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्ममिति निश्चयः ।। - कर्णपर्व· 69·58
2. धौलु धरमु दइआ का पूत । संतोखु थापि रखिआ जिनि सूति ।
   - जपु जी, गु·ना·र·8
3. ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृतां शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा ।
   - अथर्व· 12·1·17
4. सत्यस्य नावः सुकृतमपीवरन् । - ऋ· 9·73·1
5. यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् । तस्मात् सत्यं वदन्तमाहु धर्मः वदतीति ।
   धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्धयेवैतदुभयं भवति ।-बृहद·1·4·14

जी ने भी सब कुछ सत्य से नीचे माना है और सत्याचार को सर्वोपरि स्थान प्रदान किया है ।[1] वैशेषिक दर्शन में कणाद मुनि द्वारा धर्म की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जिसका आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस् की प्राप्ति हो उसी का नाम धर्म है ।[2] पूर्व मीमांसा सूत्र में जैमिनी ने धर्म को वेद-विहित प्रेरक लक्षणों के अर्थ में स्वीकार किया है ।[3] उनके मतानुसार वेद में बताए गए प्रेरक नियम और लक्षण धर्म हैं । प्रशस्तपादानुसार भी कर्त्ता का वही गुण जो उसे मोक्ष तक पहुंचाता है, धर्म कहलाता है । धर्म के साधक कर्म दो प्रकार के होते हैं : सामान्य एवं विशेष । सामान्य कर्मों में श्रद्धा, अहिंसा, सत्यवादन, चोरी न करना, भक्ति करना, व्रत रखना आदि आते हैं । विशेष कर्मों में चारों वर्ण एवं चारों आश्रमों के कर्त्तव्य आते हैं जिसकी चर्चा स्मृति ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक हुई है । वैशेषिक दर्शन में यह भी चर्चा है कि ये काम निष्काम भाव से किए जाएं तो धर्म की उत्पत्ति करते हैं ।[4]

इसके अतिरिक्त शास्त्र ग्रन्थों में धर्म की कुछ एकांगी परिभाषाएं भी प्राप्त होती हैं जैसे महाभारत में "अहिंसा परमो धर्मः" माना गया है ।[5] मनुस्मृति में "आचारः परमो धर्मः" कहा है ।[6] इन लक्षणों में धर्म के एक पक्ष पर बल दिया गया है किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि धर्म के अन्तर्गत अन्य तत्त्व उनको मान्य नहीं । वस्तुतः ये प्रधान तत्त्व हैं जिनके पालन करने से अन्य तत्त्व अपने आप आ जाते हैं । जो अहिंसा का पालन करने वाला होगा उस में सत्य आदि अन्य गुण स्वाभाविक रूप से आ जाएंगे । इसी प्रकार जो सत्य या आचार का पालन करेगा उसके अन्दर अहिंसा आदि भाव स्वतः आ जायेंगे ।

---

1. सचहु ओरै सभ को उपरि सचु आचार ।। - सिरीराग म॰१, आ॰ग्र॰62
2. यतोऽभ्युदय निः श्रेयससिद्धि स धर्मः । - वैशेषिक सूत्र, १॰१॰2
3. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः । - पूर्व मीमांसा सूत्र, १॰१॰2
4. भारतीय दर्शन, पं॰ बलदेव उपाध्याय, पृ॰299
5. अनुशासन पर्व, ११5॰१
6. मनु॰ १॰108

गुरु नानक देव भी धर्म में सत्य को वरीयता प्रदान करते हैं। उन्होंने बसंत राग में बताया है कि धर्म एक ही है यदि कोई सत्य को समझे या दृढ कर ले।[1] इसी प्रकार गुरु अर्जुन देव भी उपदेश देते हैं कि धर्म के मार्ग पर हम तभी चल सकते हैं यदि असत्य (कूड़) को त्याग कर नष्ट कर दें।[2] भक्त कबीर ज्ञान को धर्म मानते हैं और असत्य को पाप। जहाँ लोभ है वहाँ काल का निवास होता है और जहाँ क्षमा हो वहाँ परमात्मा का निवास होता है।[3] गुरु नानक देव जी के द्वारा प्रतिपादित धर्म में सेवा को भी उच्च स्थान प्राप्त है। धार्मिक मनुष्य को चाहिए कि सन्तुष्ट होकर सेवा करे और सत्यस्वरूप ईश्वर का ध्यान करे। कुकर्मों को त्यागकर सुकृत करे तभी वह धर्म का पालन कर सकता है।[4] गुरु अर्जुन देव जी ने तो हरि-कीर्तन को ही अटल धर्म माना है।[5] परन्तु सर्वश्रेष्ठ धर्म तो यही है कि परमात्मा के नाम का जाप किया जाए और निर्मल कर्म किए जाएं।[6] अत: सभी प्रकार के भ्रमों को त्याग कर पारब्रह्म को भजना ही अटल धर्म है।[7] इस प्रकार सभी को चाहिए कि हरि की स्तुति कर धर्म के मार्ग पर चलें। क्योंकि धार्मिक व्यक्तियों की ही सदैव जयकार होती है और पापियों को दण्ड मिलता है।[8] अत: पाप करने वाले डरते हैं और धार्मिक

---

1. एको धरमु दृड़ै सचु कोई ।। गुरमति पूरा जुगि जुगि सोई ।।
   - बसंत म॰1, गु॰ना॰र॰ 666
2. कूड़ह करे विणास धरमे तगीऐ ।। - गूजरी म॰5, वार आ॰ग्र॰518
3. कबीर जहां गिआनु तह धरम है जहां झूठ तह पापु ।।
   जहां लोभु तह कालु है जहां खिमा तह आपि । - सलोक कबीर, आ॰ग्र॰ 1372
4. सेव कीती संतोखीई जिन्हीं सचो सचु धिआइआ ।
   ओन्हीं मंदै पैरु न रखिओ करि सुकृतु धरमु कमाइआ ।। -आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 284
5. नानक हरि कीरतन कर अटल एहु धरम । गउड़ी थिती म॰5
6. सरब धरम महि स्रेसट धरमु ।
   हरि को नामु जपि निरमल करमु ।। - गउड़ी सुखमनी म॰5, आ॰ग्र॰266
7. तजि सभि भरम भजिओ पारब्रह्म ।
   कहु नानक अटल इह धरमु । - गउड़ी म॰5, आ॰ग्र॰ 296
8. सभ हरि की करहु उसतति जिनि गरीब अनाथ राख लीओइ ।
   जैकार कीओ धरमीआ का पापी कउ डंडु दीओइ ।। -सिरीराग म॰3, आ॰ग्र॰89

व्यक्ति प्रसन्न होते हैं ।[1] निष्कर्ष रूप में गुरु अर्जुन देव जी कहते हैं कि पाप, लोभ एवं सभी प्रकार के विषयों को त्याग कर, सन्तों की शरण ग्रहण कर, नाम दृढ़ करना चाहिए, यही धर्म है, अतः इस में देरी नहीं करनी चाहिए ।[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जहाँ धर्म का प्रयोजन आध्यात्मिक पूर्णता और पवित्रता की उच्चतम स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न करना है, वहाँ व्यक्ति को बौद्धिक एवं व्यावहारिक उन्नति प्राप्त करना भी है । केवल मोक्ष-प्राप्ति या ईश्वर का साक्षात्कार कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत मनुष्य को समाज के प्रति अपने व्यवहार और कर्त्तव्य को पहचानने की भी आवश्यकता है । ईश्वर की स्तुति के साथ-साथ उसे खान-पान, उठना-बैठना, चलना-फिरना, बोलना-सुनना एवं छोटे बड़े के साथ उचित व्यवहार करना भी आना चाहिए । क्योंकि जो निरन्तरता और विशेषता को बनाए रखता है वही धर्म है; या धर्म उच्चता है जो सद्गुणों को प्रयोग में लाना सिखाता है । इसीलिए चार पुरुषार्थों में इसे प्रथम स्थान प्राप्त है ।

अब रही धर्म को पैदा करने वाले की बात; धर्म को कोई व्यक्ति नहीं तैयार करता न ही वह उस के वश की बात है, क्योंकि धर्म एक जीने का ढंग है, एक जीवन-विधि है जो मनुष्य को जीना सिखाती है । इसे ईश्वर ही बनाता है या तैयार करता है और मनुष्यों को इसके अनुसार आचरण करने का आदेश देता है । अतः धर्म भगवान् के द्वारा मनुष्य को दी गई आज्ञा है जिसके अनुसार मनुष्य भगवान्, समाज तथा एक दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह करता है । यह कर्तव्य ही मनुष्य का भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित करवाता है । मनुष्य उस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए जो साधन, ढंग या मार्ग अपनाता है, वही धर्म का रूप धारण कर लेता है।

---

1. सो डरे जि पाप कमावदा धरमी विगसेतु । -सिरीराग म॰3, वार, आ॰ग्र॰84
2. नह बिलंब धरमं बिलंब पापं । दृड़ंत नामं तजंत लोभं ।
सरणि संत किलबिख नासं प्रापतं धरम लख्यणः ।। - सहसकृती म॰5, आ॰ग्र॰1354

अब प्रश्न पैदा होता है कि ईश्वर अपनी आज्ञा मनुष्यों तक कैसे पहुँचाता है । ईश्वर अपनी आज्ञा को अवतारों, गुरुओं या पैग़म्बरों के द्वारा लोगों तक पहुँचाता है । वही आज्ञा मनुष्य के लिए धर्म बन जाती है और जब उसको लिखित रूप प्रदान कर एक ग्रन्थ के रूप में उसका संकलन कर दिया जाता है तो वह ग्रन्थ ही धर्म ग्रन्थ बन जाता है । इसी तरह का मत मौलाना तकी अमीनी का है । उन के अनुसार "हक़ मज़हब एक सच्चाई का नाम है जो हर दौर व ज़माने में अल्लाह की तरफ से उसके पैगम्बरों के जरिए इन्सान की रहनुमाई के लिए आती है ।"[1] इस विषय में गुरु नानक अपनी वाणी में बताते हैं कि वेद, जिनको ओंकार स्वरूप परमात्मा ने बनाया है,[2] पुकार-पुकार कर कहते हैं कि पुण्य-पाप स्वर्ग-नरक का बीज है ।[3] गुरु अंगद देव के अनुसार भी वेदों में कथा-कहानियां और पाप-पुण्य का विचार है ।[4] गुरु अमर दास के मतानुसार शास्त्र और स्मृतियां पुण्य-पाप का विचार करती हैं ।[5] गुरु अर्जुन देव की भी यही मान्यता है कि वेद-शास्त्रों में पुण्य और पाप का विचार है ।[6] अत: वेदों में पुण्य-और पाप अर्थात् धर्म और अधर्म का विचार है । वेद विहित कार्य धर्म हैं और जिन कर्मों का वेद में निषेध है वे अधर्म ।

संक्षेप में धर्म एक ऐसी जीवन विधि है जिससे मनुष्य किसी उच्चादर्श की ओर अग्रसर होता हुआ मानसिक एवं आत्मिक तृप्ति प्राप्त करता है । धर्म मनुष्य को आत्मतत्त्व की पहचान करवा कर ईश्वर से साक्षात्कार करवाता है । साथ में वह उसे एक आदर्श जीवन-यापन की विधि भी सिखाता है, जिसमें सत्यवादन, ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन, सेवा भाव, पक्षपात रहित, न्याय युक्त एवं विवेकपूर्ण व्यवहार करना, वासनाओं एवं बहिर्मुखता का

---

1. Religion:A solution of Modern Problems, Ed. Dr. S.S. Gupta, p.9.
2. ओअंकार वेद निरभए । रामकली म॰1, गु॰ना॰र॰ 472
3. बेदु पुकारे पुंनु पापु सुरग नरक का बीउ ।। - सारंग म॰1,वार,आ॰ग्र॰ 1243
4. कथा कहाणी बेदीं आणी पापु पुनु बीचारु ।। - सारंग म॰2, आ॰ग्र॰ 1243
5. सिंमृति सासत्र पुंन पाप बीचारदे ततै सार न जाणी । -रामकली म॰3, आ॰ग्र॰920
6. सासत्र बेद पाप पुंन वीचार ।। - आसा म॰5, आ॰ग्र॰385

त्याग करना तथा जीवों पर दया करना शामिल है । मनुष्य को मनुष्यत्व एवं अपने अस्तित्त्व का ज्ञान करवाने वाला धर्म ही है । धर्म मनुष्य में विवेक और कार्यक्षमता को उत्पन्न कर उसे कठिन से कठिन कार्य करने के लिए तत्पर करता है । धर्म से ही मनुष्य को सभ्य और असभ्य का ज्ञान होता है । यही मनुष्य को शेष जीवों से उत्कृष्ट बनाता है ।

धर्म मूलत: श्रद्धा पर आश्रित होता है । धर्म से सम्बन्धित बाह्य साधन, संस्कार एवं पूजा-पाठ की विधियाँ उसका शरीर होते हैं जिसे धर्मावलम्बी अपनी संस्कृति या सभ्यता का अंग बना लेते हैं । परन्तु यह सब तभी धर्म का अंग माने जाएंगे जब लोगों के जीवन में एक ऐसा यथार्थ धर्म प्रकट हो रहा हो जो उन्हें बहिर्मुखता एवं वासनाओं से हटा कर सत्य स्वरूप ईश्वर की ओर अग्रसर करवा रहा हो । अन्यथा ये सभी साधन जो केवल निश्चयों और अन्धविश्वासों पर आधारित होते हैं तथा लोगों पर आर्थिक दबाव का कारण बनते हैं, समाज के सशक्त विकास के लिए बाधक हो जाते हैं । गुरु नानक देव जी के प्रादुर्भाव के समय धर्म का यही स्वरूप हो गया था । धर्म प्रदर्शन एवं बाह्याचार मात्र तक ही सीमित रह गया था । धर्म में जातिवाद प्रवेश कर चुका था तथा धर्म में संकीर्णता आ गई थी । धर्म केवल विशेष प्रकार के खान-पान, तीर्थ-स्नान, तिलक लगाना तथा विशेष प्रकार की पूजा विधियों तक ही सीमित रह गया था ।[1] इसके बिना यदि धर्म में कुछ और अवशिष्ट था तो वह लोगों की अन्यमनस्कता एवं पुरोहितों के व्यक्तिगत स्वार्थ की चपेट में आ गया था । इस विषय में श्री नारंग ने ठीक ही कहा है "सच्चे धर्म की समृद्धि को निराधार अन्धविश्वास, पुरोहितों की स्वार्थता और लोगों के आपसी मतभेद ने नष्ट कर दिया है । भारतीयता की यथार्थता और

---

1. पड़ि पुसतक संधिआ बादं । सिल पूजसि बगुल समाधं ।
मुखि झूठ बिभूखण सारं । त्रैपाल तिहाल विचारं ।।
गलि माला तिलक ललाटं । दुइ धोती वसत्र कपाटं ।।
जो जाणसि ब्रह्मं करमं । सभि फोकट निसचउ करमं ।।
- आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 296

उच्च आध्यात्मिक चरित्र विभिन्न समुदायों के संकीर्ण आडम्बरों के नीचे दब कर रह गया है ।"[1]

3•2 धर्म के विविध तत्त्व

भारतीय ऋषि-मुनियों ने धर्म को संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता से सर्वथा मुक्त रखा । समय के साथ-साथ वेदों पर आधारित इस धर्म में भी परिवर्तन होता गया । वैदिक काल में सत्य, धृति, क्षमा, तप, श्रद्धा और धी को महत्त्व दिया जाता था । इसके परवर्ती युग में आश्रम धर्म का प्रचार बढ़ गया । ब्राह्मणों के काल में कर्म-काण्डीय विधान एवं यज्ञ का प्रचार बढ़ गया । एक समय ऐसा भी आया जब जीव हत्या और पशु-बलि का प्रचलन हो गया जिसे देखते हुए अहिंसा पर अधिक बल दिया गया । इस प्रकार धर्म के अनेक तत्त्व बन गए । स्मृतिकारों ने अलग-अलग ढंग से धर्म के तत्त्वों का विवेचन किया । इनमें मनुस्मृति का एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है जिसमें धर्म के 10 तत्त्व गिनाए गए हैं । ये तत्त्व हैं धृति (धैर्य), क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी (बुद्धि), विद्या, सत्य और अक्रोध ।[2]

वैदिक काल से लेकर मध्ययुग तक की लम्बी यात्रा में धर्म ने अपने कई स्वरूप बदले । परन्तु यह परिवर्तन धर्म के बाहरी तत्त्वों में होता रहा, उसके आन्तरिक गुणों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ । वेदों की तरह गुरु नानक वाणी में भी सत्य, संतोष, दया, ज्ञान एवं क्षमा को ही धर्म के मुख्य तत्त्व माना गया है, किन्तु इन को समझ कोई "गुरुमुख" ही सकता है ।[3]

---

1. The springs of true religion has been choked up by weeds of unening ceremonial debasing superstitions, the selfishness of the priests and indifference of the people. Form had supplanted the reality and the highly spiritual character of Hinduism had been burried under the ostentations paraphernalia of sects.
   - Transformation of Sikhism, G.C. Narang, P.20.

2. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् । - मनु• 6•92

3. जितु कारज सत संतोख दइआ धरम है गुरमुख बूझे कोई ।।

इसके अतिरिक्त गुरु नानक सेवा-भाव, शब्द विचार की धुन, जप, तप, संयम, अहंभाव का अभाव एवं सच्ची मर्यादा का पालन आदि को भी धर्म के मुख्य तत्त्व स्वीकार करते हैं ।[1] इस प्रकार गुरु नानक वाणी में वर्णित ये तत्त्व वैदिक परम्परा के अनुरूप ही हैं । समय की आवश्यकता के अनुसार इन में सेवा भाव और सत्य मर्यादा का पालन आदि तत्त्वों का समावेश कर दिया गया है ।

उपर्युक्त तत्त्वों में कुछ तो स्पष्ट रूप से धर्म के तत्त्व कहे जा सकते हैं, यथा सत्य, क्षमा आदि । किन्तु कुछ तत्त्व ऐसे हैं जिन को धर्म का साधन भी कहा जा सकता है । यथा बुद्धि धर्म का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है, किन्तु यह धर्म को प्राप्त करने का साधन भी है । इससे धर्म को सुगमता पूर्वक प्राप्त किया जा सकता है । वेदों एवं गुरु नानक वाणी में पाए जाने वाले कतिपय प्रमुख तत्त्वों का विवेचन यहाँ किया जाएगा ।

सत्य -

सत्य धर्म का एक प्रमुख तत्त्व है । बृहदारण्यकोपनिषद् ने सत्य को धर्म माना है ।[2] इसलिए तैत्तिरीय उपनिषद् कहती है कि सत्य बोलो, सत्य से प्रमाद मत करो ।[3]

वैदिक काल से सत्य को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। वेदों में इन्द्र को सत्यवादी,[4] सत्य स्वभाव,[5] सत्य स्वरूप,[6] और सत्य निष्ठ[7] कहा है ।

---

1. सेवा सुरति सबदि विचारि । जपु तपु संजमु हउमै मारि ।।
   जीवन मुकतु जा सबद सुणाए । सच्ची रहत सदा सुखु पाए ।
   -प्रभाती म॰7, अस॰आ॰ग्र॰ 1343
2. बृहद॰ 1॰4॰14
3. सत्यं वद, सत्यान्न प्रमदितव्यम् ।। - तै॰उ॰ 1॰11॰1
4. यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्त इव स्मसि । -ऋ॰1॰29॰1
5. तमु त्वा सत्य सोमपा इन्द्र वाजानां पते । -ऋ॰ 6॰45॰10
6. अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी । -ऋ॰ 8॰98॰5
7. आ सत्यो यातु मघवां····। - अथर्व॰ 20॰77॰1

अथर्ववेद का कथन है कि इन्द्र तुम अवश्य ही सत्य हो ।[1] वहाँ इन्द्र को सच्चा ईश्वर कहा है ।[2] इन्द्र ही सत्य और असत्य के विचारक[3] तथा सत्य एवं बल प्रदाता है ।[4]

वेदों में इन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवों को भी सत्यवादी कहा गया है । ऋग्वेद में अग्नि को सत्य परायण[5] एवं सत्य प्रतिज्ञ[6] कहा गया है । मित्र और वरुण भी सत्यवादी हैं ।[7] अश्विनी कुमारों को भी सत्य प्रिय था, इसलिए ऋग्वेद में उल्लेख है कि वे निश्चय ही सत्य हैं ।[8] इसी प्रकार सोम[9] एवं दूसरे देव भी सत्यवादी हैं । इन देवताओं की स्तुति करने वाले लोग भी सत्य बोलते थे और देवताओं से प्रार्थना करते थे कि तुम सत्य की रक्षा करो और सत्य की हानि करने वाले को नष्ट कर दो -

अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ।। - अथर्व॰8॰3॰2।

ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह सत्य को असत्य से दबाने वाले राक्षस को दध्यङ्॰ अथर्वा ऋषि के समान अपने तेज से भस्म कर डाले ।[10]

ऋग्वेद में सत्य और असत्य की शाश्वत स्पर्धा का उल्लेख किया गया है ।

1॰ यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वानं ददर्षि स किलासि सत्यः ।
- अथर्व॰ 20॰34॰18

2॰ अथर्व॰ 20॰104॰4

3॰ ऋ॰ 2॰22॰3; अथर्व॰ 20॰95॰1

4॰ त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदः ।। -ऋ॰1॰174॰1

5॰ अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । -ऋ॰ 1॰1॰5

6॰ ऋ॰ 3॰14॰1

7॰ एतच्चयन त्वो वि चिकेतदेषां सत्यो मन्त्रः कविशस्त ऋधावान् ।
- ऋ॰ 1॰152॰2

8॰ सत्यमिद् वा उ अश्विना·····। -ऋ॰ 5॰73॰9

9॰ ऋ॰ 2॰22॰3, अथर्व॰ 20॰95॰1

10॰ ऋ॰ 10॰87॰12

देवता लोग स्वभाव से सत्य का पालन एवं असत्य की हिंसा करते हैं ।[1]
वेद ऋग्वेद में तप से सत्य और यज्ञ की उत्पत्ति बताई गई है ।[2]

अथर्ववेद में प्रश्न किया गया है कि इस मनुष्य में सत्य और असत्य किस ने रखा ।[3] आगे इसी सूक्त में उत्तर दिया गया है कि ब्रह्मा ने ही इन्हें स्थापित किया है । अथर्ववेद के "पृथिवीसूक्त" में सत्य को ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ के साथ पृथ्वी को धारण करने वाला बताया गया है ।[4]

बृहदारण्यकोपनिषद् में असत्य से सत्य की ओर ले चलने की प्रार्थना की गई है ।[5] यह प्रार्थना इस लिए की गई है कि सदैव सत्य की ही जीत होती है असत्य की नहीं । सत्य से ही देव लोक का मार्ग प्रशस्त होता है । तत्त्वज्ञानी ऋषिगण सत्य के द्वारा ही सत्य स्वरूप परमेश्वर के परमधाम को प्राप्त करते हैं । सत्य, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा लाभान्वित होती है । शरीर के अन्दर सत्य का ही शुभ्र प्रकाश है जिसे क्षीणदोष यति लोग देखते हैं ।[6]

वेदों एवं उपनिषदों में सत्य को सब से बड़ा धर्म माना गया है । जिस प्रकार का कोई पदार्थ है उसको वैसा ही समझना और उसी तरह का कहना सत्य कहलाता है । सत्यवादन के लिए मनुष्य की भावना सत्य होनी चाहिए । भावना सत्य होने पर ही मनुष्य सत्य भाषण कर सकता है तथा सत्य भाषण करने से ही मनुष्य उस सत्य को क्रियान्वित कर सकता है ।

---

1. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
   तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ।। -ऋ॰ 7॰104॰12
2. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत । -ऋ॰ 10॰190॰1
3. अथर्व॰ 10॰2॰14
4. अथर्व॰ 12॰1॰1
5. असतो मा सद्गमय । - बृहद॰ 1॰3॰2
6. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
   येनाक्रमन्नृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परं निधानम् ।। 6 ।।
   सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येषा आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
   अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यत्यः क्षीणदोषाः ।। 5 ।।
   - मुण्ड॰ 3॰1॰6; 5

गुरु नानक वाणी में सत्य को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है । गुरु नानक के शेष उत्तराधिकारियों ने भी सत्य को सर्वोपरि माना है । गुरु नानक देव जी द्वारा रचित वाणी में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया गया है कि सत्य से सभी साधन नीचे हैं, सत्याचार ही सर्वोपरि है ।[1] इसलिए वहाँ सत्य को सभी का स्वामी कहा गया है ।[2] यह न कभी पुराना होता है और सिलाई किए जाने पर कभी फटता भी नहीं है ।[3] जिन के पास सत्य और संतोष की पूंजी है, जो सत्य बोलते हैं, वे ही प्रभु को भाते हैं । वे लोग सदा के लिए प्रभु के अंक में समाहित हो जाते हैं तथा उस से विछुड़ कर दु:ख नहीं भोगते ।[4] जिस मनुष्य के अन्दर सत्य है, जिसके मुख में सत्यस्वरूप प्रभु का सच्चा नाम (सतनाम) है और जो मुख से सदा सत्य भाषण करता है वह स्वयं हरि के मार्ग पर चल रहा है और दूसरों का पथ प्रदर्शन करता है ।[5] परन्तु जिन लोगों ने सत्य को विस्मृत कर दिया है वे दु:ख पाते हैं और रुदन करते हुए इस संसार से चले जाते हैं ।[6] इसलिए अनृत-वादन का त्याग कर देना चाहिए, यह बहुत मलिन एवं दुष्ट है । असत्यभाषी को यम उछाल कर पटकता है ।[7] अत: मनुष्य को सत्य ही बोलना चाहिए तथा शरीर के भीतर स्थित परमात्मा के दर्शन करने

---

1. सचहु ओरै सभ को उपरि सचु आचार ।। -सिरीराग म॰9, आदि ग्र॰62
2. इहु सचु सभना का खसम है ।। - रामकली म॰3, आ॰ग्र॰922
3. सचु पुराणा होवै नाही सीता कदे न पाटै ।। - वार रामकली म॰1, आ॰ग्र॰ 955
4. सत संतोख सदा सच पलै सच बोलै पिर भाए ।।
   नानक विछुड़ ना दुख पाए गुरमति अंक समाए ।। - सूही म॰1, छंत, गु॰ना॰र॰410
5. जिसदै अंदरि सचु है सो सचा नामु मुखि मुख सचु अलाए ।।
   ओह हरि मारगि आप चलदा होरना नो हरि मारगि पाए ।।
   - वार माझ म॰4, आ॰ग्र॰140
6. जिनी सच विसारिआ से दुखीए चले रोइ ।। सिरीराग म॰3, अस॰1
7. छोडहु प्राणी कूड़ कबाड़ा । कूड़ मारे काल उछाहाड़ा ।।
   - मारू॰म॰1, सो॰गु॰ना॰र॰ 582

चाहिएं ।[1] मन को सत्य की कसौटी पर कसना चाहिए तभी ईश्वरीय कसौटी पर खरा उतारा जा सकता है ।[2]

गुरु नानक वाणी में उल्लेख है कि सत्यस्वरूप परमात्मा को सत्य द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है झूठ के द्वारा नहीं । जिसने सच्चे प्रभु में मन लगा लिया है उसका इस संसार में आवागमन समाप्त हो जाता है ।[3] इसीलिए सच्चा मनुष्य सत्य का संग्रह करता है । हरि का सच्चा नाम अमूल्य है । हरि निर्मल और उज्ज्वल है । उसकी सच्ची प्रतिष्ठा एवं सच्ची वाणी है ।[4] जिन्होंने सत्य को अपना लिया है उनकी शोभा भी सच्ची है ।[5]

आसा राग की वार में गुरु नानक देव जी सत्य को प्राप्त करने के विषय में बताते हैं । उन का कथन है कि हे प्रभु तू ही एक सच्चा साहिब है जिसने सत्य को सच्चाई से प्रयोग किया है । जिसे तू प्रदान करता है उसी को सत्य प्राप्त होता है, तब वही सत्य की कमाई करता है । जिसके हृदय में सत्य का निवास है ऐसे सत्गुरु के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य सत्य प्राप्त करता है ।[6] इसी वार में आगे चल कर गुरु जी बताते हैं कि मनुष्य में कौन-कौन से गुण होने चाहिएं जिससे वह सच्चा कहला सकता है । शब्द इस प्रकार है -

---

1. बोलहु साच पछाणहु अंदर ।। दूर नाही देखहु करनंदर ।। - मारू म॰1, सो॰गु॰ना॰र॰ 582
2. मन सच कसवटी लाईऔ तुलीऔ पूरे तोल । - सिरीराग म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰44
3. सचि मिले सचिआरु कूड़ न पाईऐ ।।
   सचे सिउ चितु लाइ बहुड़ न आइऐ ।। - आसा म॰1, अस॰,आ॰ग्र॰419
4. सचिआरी सचु संचिआ साचउ नामु अमोलु ।
   हरि निरमाइलु उजलो पति साची सचुबोलु ।। - रामकली म॰1, ओअंकार, आ॰ग्र॰937
5. जो सचि लागे तिन साची सोइ । - मारू म॰3, सो॰आ॰ग्र॰1046
6. सचा साहिब एकु तूं जिनि सचो सचु वरताइआ ।
   जिस तूं देहि तिसु मिलै सचु ता तिन्हीं सचु कमाइआ ।
   सतिगुरि मिलिऐ सचु पाइआ जिन्ह के हिरदै सचु वसाइआ ।
   - आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 286

सचु ता पर जाणीऐ जा रिदै सचा होइ ।।
कूड़ु की मलु उतरै तनु करे हदा धोइ ।।
सचु ता पर जाणीऐ जा सचि धरे पिआरु ।।
नाउ सुणि मनु रहसीऐ ता पाए मोख दुआरु ।।
सचु ता पर जाणीऐ जा जुगति जाणै जीव ।।
धरति काइआ साधि कै विचि देइ करता बीउ ।।
सचु ता पर वाणीऐ जा सिख सची लेइ ।
दइआ वाणै जीअ की किछु पुंनु दान करेइ ।।
सचु तां परु जाणीऐ जा आतम तीरथ करे निवास ।
सतिगुरु नो पुछि कै बहि रहै करे निवासु ।।
सचु सभना होइ दारु पाप कटै धोइ ।।
नानकु वखाणै बेनती जिन सचु पले होइ ।। ।९ ।।

– आसा म॰।, वार, गु॰ना॰र॰ 290

अर्थात् मनुष्य को तभी सच्चा समझना चाहिए जब उसका हृदय सच्चा हो । उसके हृदय से कूड़ (झूठ) की मल उतर जाए तो उसका शरीर धुल कर अच्छा हो जाता है । मनुष्य को तभी सच्चा समझना चाहिए जब वह सत्यस्वरूप परमात्मा से अपना प्यार धारण कर ले । जो व्यक्ति नाम के सुनने से आनन्दित होता है वही मोक्ष का द्वार पाता है । मनुष्य को तभी सच्चा जानना चाहिए जब वह वास्तविक जीवन-यापन की विधि जान ले और अपनी धरती रूपी काया को साध कर उस में कर्त्ता के नाम का बीज बोए । मनुष्य को तभी सच्चा समझना चाहिए जब वह गुरु से सच्ची शिक्षा ग्रहण करे, जीवों पर दया भाव रखे और दान-पुण्य करे । मनुष्य को सच्चा तभी जानना चाहिए जब वह आत्मा रूपी तीर्थ में निवास करने लगे । सद्गुरु से ढंग पूछ कर आत्मा रूपी तीर्थ में बैठ जाए तथा उसी में निवास करने लगे । गुरु नानक का मत है कि जिन के पास सत्य आ जाता है उन के सभी दुःखों की दवा प्रभु आप बन जाता है और उन के सभी पापों को धोकर बाहर निकाल देता है ।

गुरु नानक वाणी में धर्म के अंग के रूप में सत्य का जो स्वरूप विवेचित हुआ है वह उपनिषदों में प्रतिपादित सत्य के स्वरूप के बहुत समीप है । गुरु

नानक द्वारा मान्य सत्य में सहजरूपता है तथा उस में कोई कृत्रिमता या पाखण्ड नहीं है ।

श्रद्धा -

श्रद्धा धर्म का एक आवश्यक अंग है । वस्तुत: धर्म श्रद्धा पर ही आधारित होता है । जब तक मनुष्य में ईश्वर के प्रति या धर्म के प्रति श्रद्धा न हो, वह धर्म का आचरण नहीं कर सकता । श्रद्धा के बिना किसी कृत्य का पूरा फल भी प्राप्त नहीं होता । इसी लिए श्रद्धा को धर्म का एक तत्त्व मानते हैं । भले ही मनुष्य कितने तप तपता रहे, शरीर को कितने भी कष्ट क्यों न देता रहे, परन्तु श्रद्धा के अभाव में धर्माचरण सम्भव नहीं है ।

ऋग्वेद में तो श्रद्धा को देवता के रूप में स्वीकार किया गया है । ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सम्पूर्ण सूक्त (10·151) ही श्रद्धा से सम्बन्धित है । इस सूक्त का देवता भी श्रद्धा ही है । सूक्त के प्रथम मन्त्र में बताया गया है कि श्रद्धा के द्वारा अग्नि प्रज्ज्वलित होती है और श्रद्धा के द्वारा ही यज्ञ सामग्री की आहुति दी जाती है ।[1]

मनुष्य तो एक ओर रहे देवता भी श्रद्धा की उपासना करते हैं । मन में कोई भी संकल्प होने पर लोग श्रद्धा की शरण में जाते हैं ।[2] क्योंकि बिना श्रद्धा के कोई भी धार्मिक कृत्य का पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता । अन्तिम मन्त्र में श्रद्धा से प्रार्थना की गई है कि वह उपासक को इस संसार में श्रद्धावान् बनावे ।[3]

देवताओं के प्रति श्रद्धा होने पर ही वे सहायता करते हैं । परन्तु यह श्रद्धा निष्कपट होनी चाहिए, कपटपूर्ण श्रद्धा होने पर देवता प्रसन्न नहीं होते हैं । तभी तो इन्द्र से प्रार्थना की जाती है कि वह हमारी अकपट श्रद्धा

1· श्रद्धयाग्नि: समिध्यते श्रद्धया हूयते हवि: । -ऋ· 10·151·1

2· श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्या याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ।। -ऋ·10·151·4

3· श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह न: ।। -ऋ· 10·151·5

को देखकर आए ।[1] यदि इन्द्र का रथ भी जोता जाता है तो वह भी श्रद्धा के साथ जोता जाता है ।[2] इन्द्र के लिए जब सोम अभिषुत किया जाता है तो वह भी श्रद्धा पूर्वक,[3] यदि हवि प्रदान की जाती है तो श्रद्धा से ।[4]

श्रद्धा हृदय की एक वृत्ति है और हृदय से ही उत्पन्न होती है । अत: जिस मनुष्य में जो गुण प्रधान होगा उस की श्रद्धा भी उसी प्रकार की होगी । सत्व गुण की प्रधानता वाले मनुष्य की श्रद्धा भी सात्विकी होगी । इसी प्रकार राजसी और तामसी श्रद्धा होती है । श्रद्धा मुख्य रूप से संगति से उत्पन्न होती है । जो मनुष्य सज्जनों की संगति करता है उस में उसी प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न होगी जो उसे प्रभु-चरणों में ले चले और उत्तम फल प्रदान करे ।

गुरु नानक वाणी में भी श्रद्धा को धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है । पदे-पदे मनुष्य को श्रद्धा धारण करने का उपदेश दिया गया है । क्योंकि देवताओं के पास तो संतोष का पाथेय होता है, परन्तु मनुष्य की वास्तविक पूंजी तो श्रद्धा और सब्र ही है । इसी के साथ ही वह परमात्मा के दरबार में कोई स्थान प्राप्त कर सकेगा ।[5] गुरु नानक की यह मान्यता है कि यदि सर्वव्यापक परमात्मा के दर्शन करने हों तो श्रद्धा को सिजदा बनाओ तथा मन को प्रभु प्राप्ति का लक्ष्य । फिर जिस ओर देखोगे, परमात्मा को मौजूद पाओगे ।[6] गुरु नानक वाणी में वास्तविक मुसलमान बनने के लिए भी श्रद्धा को परमावश्यक माना गया है ।[7] अत: धर्म कोई भी हो, श्रद्धा का होना नितान्ता-वश्यक है, तभी मनुष्य अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है ।

---

1. तां सत्यां श्रद्धामभ्या हि यात । -ऋ॰ 1॰108॰6
2. आ यदश्वान् वनन्वत: श्रद्धयाहं रथे रुहम् । - ऋ॰ 8॰1॰31
3. ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव । -ऋ॰9॰113॰2
4. श्रद्धा इत् ते मघवन् पार्योदिवि वाजी वाजं सिषासति ।-ऋ॰7॰32॰14
5. सिदकु सबूरी सादिका सबरु तोसा मलाइकां ।
   दीदारु पूरे पाइसा थाउ नाही खाइका ।। - सिरीराग श्री, वार, गु॰ना॰र॰96
6. सिदकु करि सिजदा मनु करि मखसूदु ।
   जिहि धिरि देखा तिह धिरि मउजूदु ।। - सिरीराग म॰1, वार, गु॰ना॰र॰98
7. माझ म॰1, सलोक 10, गु॰ना॰र॰ 108

तप -

तप धर्म का एक महत्त्व पूर्ण अंग है । तप का शाब्दिक अर्थ है तप करना या शरीर को तपाने वाले व्रत धारण करना, अर्थात् व्रत, उपवास एवं नियम के द्वारा शरीर को तपाया जाना ही तप है । डा॰ राजबली पाण्डेय के अनुसार "उपभोग विषयों का त्याग करके शरीर एवं मन को दृढ़ता पूर्वक सन्तुलन और समाधि की अवस्था में स्थिर रखना ही तप है । इस से उनकी शक्ति उद्दीप्त होती है । तप की विशुद्ध शक्ति के द्वारा मनुष्य असाधारण कार्य करने में समर्थ होता है, उस में अद्भुत तेज उत्पन्न होता है ।[1]

ऋग्वेद में तप से ही सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है । तप से सर्वप्रथम यज्ञ और सत्य उत्पन्न हुए । इस के अनन्तर जल तथा दूसरे पदार्थों की रचना हुई ।[2]

आरण्यकों में तप को और भी अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ । उस समय चारों आश्रमों के लिए अलग-अलग तरह का तप माना गया । स्वाध्याय ब्रह्मचारी का धर्म है । इस लिए ब्रह्मचारी के लिए स्वाध्याय को ही तप माना गया । गृहस्थ का धर्म है कि वह दान करे, इस लिए गृहस्थ के लिए दान को ही तप माना गया है । वानप्रस्थ का तप उपवास करना है । परन्तु परम तप तो मन की एकाग्रता और इन्द्रियों का दमन करना है, जो सन्यासी का तप माना गया है ।[3]

मनुस्मृति में चार वर्णों के जो धर्म हैं उन्हीं को तप स्वीकार किया गया है । ब्राह्मण का तप ज्ञान, क्षत्रिय का रक्ष, वैश्य का तप वार्ता {वाणिज्यादि} तथा शूद्र का तप सेवा करना है ।[4]

1॰ हिन्दु धर्म कोश, डा॰ राजबली पाण्डेय, पृ॰294

2॰ ऋ॰ 10॰190॰1

3॰ तपो हि स्वाध्याय: इति ब्रह्मचारि धर्म: । एतत् खलुवाव तप इत्याहुर्य: स्वं ददाति, इति गृहस्थ धर्म: । तपो नानशवात्परम् इति वानप्रस्थधर्म:। मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्येकाग्रं परमं तप: । तज्ज्याय: सर्वधर्मेभ्य: स धर्म: परमुच्यते । इति यतिधर्म: । - तैत्तिरीयारण्यक॰ 10॰62

4॰ ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तप: क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तप: शूद्रस्य सेवनम् ।। - मनु॰11॰266

गीता में साधन की दृष्टि से तप को तीन प्रकार का माना गया है - शारीरिक, वाचिक और मानसिक । देव, द्विज, गुरु, बुद्धिमान् एवं सन्त महात्माओं की पूजा करना शारीरिक तप के अन्तर्गत आता है । ऐसे व्रत में पवित्रता का बहुत ध्यान रखा जाता है ।[1] स्वाध्याय, सत्य, प्रिय, कल्याणकारी एवं अनुद्वेगकारी वाणी बोलना वाणी का तप है ।[2] मन का प्रसाद, अक्रूरता, मौन, आत्मसंयम तथा भावसंशुद्धि मानसिक तप के अन्तर्गत आते हैं ।[3]

तीनों प्रकार के तपों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता आती जाती है । इस प्रकार मानसिक तप को ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है । इससे मन में एकाग्रता आती है और मन की एकाग्रता से ब्राह्मण को ब्रह्मज्ञान एवं संन्यासी को कैवल्य की प्राप्ति होती है । इन तीनों प्रकार के तपों के सात्विक, राजसिक तथा तामसिक, तीन तीन भेद हैं । इन में से श्रद्धापूर्वक, फल की आकांक्षा को छोड़कर एकाग्रचित से किया गया तप सर्वोत्तम है तथा दूसरे को क्षति पहुंचाने के लिए अंधविश्वासपूर्वक किया गया तामसिक तप निकृष्टतम है ।

तान्त्रिक प्रभाव के कारण तप को लोगों ने हठ या यातना के रूप में ले लिया । शीर्षासन लगा कर देर तक पड़े रहने, सर्दियों में जल में खड़े होने तथा गर्मियों में पंचाग्नि लेने आदि क्रियाओं को ही तप माना जाने लगा । इस प्रकार तप का रूप वैदिक परम्परा से अलग होता गया ।

गुरु नानक शरीर को कष्ट देने वाले तपों को अच्छा नहीं मानते हैं । उन्होंने हठ तथा शारीरिक यातनाओं की कटु आलोचना की है । उन के मतानुसार वास्तविक तप तब होता है जब कोई प्रभु नाम में अनुरक्त होता है ।[4] कुछ तपस्वी ऐसे हैं जो वनों में जाकर तप करते हैं, तीर्थ स्थानों पर निवास करते हैं परन्तु वे तमोगुणी अपने आप को तो पहचानते नहीं हैं तो फिर विरक्त

---

1. गीता, 17·14
2. गीता, 17·15
3. गीता; 17·16
4. नामि रते सदा तपु होइ । - रामकली म·1, सिध गोसटि, आ·ग्र·941

किस लिए हुए हैं ।[1] गुरु नानक का मत है कि वास्तविक तपस्वी वही है जो मन एवं इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोके रखता है । शेष जप-तप, पूजा-पाठ एवं दूसरे सभी बहिर्मुखी कर्म इस प्रकार के हैं जिस प्रकार कोई मार्ग को भूला हुआ व्यक्ति उजाड़ में भटकता रहे । सत्य ज्ञान के विना वह अपने गन्तव्य को नहीं प्राप्त कर सकता और नाम के बिना व्यक्ति के माथे पर कलंक ही होता है ।[2]

गुरु अमरदास गुरु सेवा को ही श्रेष्ठतम मानते हैं ।[3] उन के मतानुसार वही जप, वही तप श्रेष्ठ है जो सद्गुरु को अच्छा लगता है ।[4] गुरु रामदास की यह मान्यता है कि वही जप, वही तप, वही व्रत एवं वही पूजा श्रेष्ठ है जिस से परमात्मा के साथ प्रीति हो ।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में जहाँ तप को धर्म का एक आवश्यक तत्त्व माना गया है वहाँ गुरु नानक वाणी में भी उसका रूप प्रकट हुआ है । गुरु नानक वाणी में तप का विशुद्ध रूप में चित्रण हुआ है । हठ एवं शारीरिक यातनाओं का उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा ।

शौच -

शौच या पवित्रता को भी धर्म का एक आवश्यक अंग माना जाता है । पवित्रता दो प्रकार की होती है -(1) बाह्य अथवा शारीरिक (2) आन्तरिक अथवा मानसिक । जो कुछ हम खाते पीते हैं वह शारीरिक प्रक्रिया के बाद मूत्र, पुरीष, तथा स्वेद के रूप में परिणत होकर शरीर से बाहर निकलता रहता है।

---

1. इकि तपसी बन महि तपु करहि नित तीरथ वासा ।
   आपु न चीन्हहि तामसी काहे भए उदासा ।। - आसा म॰1, अस॰आ॰ग्र॰419
2. सभि जप सभि तप सभ चतुराई । ऊझड़ भरमै राहि न पाई ।।
   बिन बूझे को थाइ न पाई । नाम विहूणै माथे छाई ।। - आसा म॰1, आ॰ग्र॰412
3. गुर सेवा तपा सिरि तपु सारु ।। -आसा म॰3, अस॰आ॰ग्र॰423
4. सो जप सो तप जि सतगुर भावै । गूजरी म॰3, वार, आ॰ग्र॰509
5. सो जपु सो तपु सा ब्रतपूजा जित हरि सिउ प्रीति लगाइ ।।
   - वैराड़ी म॰4, आ॰ग्र॰720

अगर देह उसका त्याग नहीं करती तो देहधारी रोगी हो जाता है । उस अवस्था को ठीक करना अर्थात् शरीर के अन्दर मल को संचित न होने देना ही शारीरिक अथवा बाह्य शौच है ।[1] परन्तु शारीरिक शौच इतने से नहीं हो जाती । शारीरिक शौच के लिए स्नान करना, दन्त साफ करना, निर्मल वस्त्र धारण करना तथा दूसरी सभी बाह्य क्रियाएं आती हैं जिन के करने से मनुष्य का शरीर साफ सुथरा एवं नीरोग रहता है तथा धर्म सिद्धि का उत्तम साधन बनता है ।

मानसिक अथवा आन्तरिक शौच इससे बहुत कठिन, परन्तु महत्त्वपूर्ण है । इसके लिए मन को सभी प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों से रोककर रखना पड़ता है । मन को काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार आदि दुष्प्रवृत्तियों से हटा कर रखना पड़ता है । केवल बाह्य शुचिता से मनुष्य पवित्र नहीं हो जाता उसके लिए मानसिक शौच अत्यावश्यक है । धर्म के पथ का पथिक बनने के लिए मनुष्य में शारीरिक एवं मानसिक, दोनों प्रकार की शुचिता आवश्यक है । फिर भी दोनों में से मानसिक पवित्रता अधिक महत्त्व रखती है ।

मानसिक पवित्रता के लिए मनुष्य को लोभ, विशेष रूप से अर्थ लोभ त्यागना पड़ता है । जिस के मन में अर्थ लोभ रहता है वह आभ्यन्तरिक दृष्टि से कभी भी पवित्र नहीं हो सकता । इसीलिए मनुस्मृति में सभी पवित्रताओं में से अर्थ-शुचिता (धन सम्बन्ध पवित्रता) को सर्वोत्तम माना है ।[2]

वैदिक साहित्य में पवित्रता को धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया है । जब भी कोई यज्ञ या धार्मिक कृत्य का सम्पादन करना होता था तो उसके सभी उपकरण जल से धोकर पवित्र कर लिए जाते थे ।[3] जिस स्थान पर वह कृत्य करना होता था उसको भी जल छिड़क कर या लीप कर पवित्र

---

1. मानवता का मान, विश्वबन्धु, पृ॰73
2. सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
   योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचि शुचि ।। -मनु॰5॰106
3. यजु॰ 1॰12; जल प्रोक्षण के अतिरिक्त यज्ञ के सभी उपकरणों को आग पर तपा कर भी पवित्र किया जाता था । (यजु॰ 1॰)

कर लिया जाता था ।[1]

वैदिक विचारधारा के अनुसार अपवित्र होने पर मनुष्य भी जल का स्पर्श करके पवित्र हो जाता है । असत्य वादन एवं काम, क्रोध आदि विकारों से आन्तरिक अशुद्धि होती है, उसको भी जल पवित्र करते हैं । इस प्रकार जल सभी को पवित्र करने वाला है ।

यजुर्वेद में यह कहा गया है कि माता के समान पालन करने वाले जल हमें पवित्र करें । क्षरित जलों से हम पवित्र हों । यह जल सभी पापों को अवश्य ही दूर कर देते हैं । मैं स्नान और आचमन द्वारा बाहर भीतर से पवित्र होकर इस जल द्वारा उत्थान करता हूं ।[2]

यजुर्वेद में सौम्यमूर्त्ति पितरों से भी प्रार्थना की गई है कि वे हमें पवित्र करें, पितामह मुझे पवित्र करें । शतायु वाले पवित्र से पितामह मुझे पवित्र करें, प्रपितामह मुझे पवित्र करें । इस प्रकार पितरों के द्वारा पवित्र किया गया मैं अपनी पूरी आयु को प्राप्त करूं ।[3] अग्नि तेजस्वी देव है, इस लिए उस से भी यही प्रार्थना की गई है कि वह अपने तेज से मुझे पवित्र करे ।[4]

देवता कर्म-अकर्म के ज्ञाता, सर्वज्ञ एवं पवित्र हैं तथा वे इतना सामर्थ्य रखते हैं कि दूसरों को भी पवित्र कर सकें । इसीलिए पवित्रता के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है ।[5]

---

1. यजु., 1.18
2. आपोऽस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
   विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि ।। -यजु.4.2
3. पुनंतु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहा पवित्रेण शतायुषा ।
   पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः ।
   पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ।। - यजु. 19.37
4. पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत् ।
   अग्ने क्रत्वा क्रतूं ऽनु । - यजु. 19.40
5. पवमानः सो ऽअद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः ।
   यः पोता स पुनातु मा । - यजु. 19.42

गुरु नानक वाणी में शौच सम्बन्धि बहुत से उद्धरण पाए जाते हैं । गुरु नानक वाणी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुरु नानक मानसिक शौच पर ही अधिक बल देते हैं, परन्तु इस के लिए वे आचमन करना मात्र ही पर्याप्त नहीं मानते । शौच के लिए गुरु नानक न जलों का स्पर्श ही उचित मानते हैं, न पितरों से प्रार्थना करना । वास्तविक शौच के लिए वे देवताओं से प्रार्थना नहीं करते बल्कि परमात्मा का नाम प्राप्त कर उसे दिल में बसा लेने का उपदेश देते हैं ।

गुरु नानक बाह्य शौच को अधिक महत्त्व नहीं देते । हालांकि उन्होंने यह स्वीकार किया है कि स्नान करके ही नमाज पढ़ी जाती है तथा स्नान करके ही देव पूजा की जाती है । मनुष्य के शेष सभी प्रमुख संस्कार भी स्नान करके ही किए जाते हैं । जीते जी तो क्या मरने पर भी व्यक्ति के सिर पर पानी डाल कर उसे पवित्र किया जाता है, फिर उसका संस्कार किया जाता है ।[1] किन्तु इस तरह का बाह्य स्नान सच्चा स्नान नहीं है । सच्चा स्नान तो परमात्मा को मन में बसा लेने पर ही होता है ।[2] गुरु नानक का मत है कि परमात्मा निर्मल जल है और मन उसमें स्नान करने वाला है ।[3] असत्य वादन एवं दूसरे विकारों से मन विकृत एवं अशुभ होता है, इसलिए शरीर को धोने से ही वास्तविक स्नान नहीं होता स्नान तो वही प्रामाणिक होगा जब कोई सत्य की कमाई करेगा ।[4] यदि मनुष्य के अन्दर लोभ, मोह आदि विकार एवं असत्य का मल भरा हुआ है तो बाहरी स्नान का कोई लाभ नहीं ।

---

1. नाइ निवाजा नातै पूजा नावन सदा सुनाणी ।
   मुइआ जीवदिआ गति होवे जां सिर पाईऐ पाणी ।। - माझ म॰१, वार, आ॰ग्र॰150
2. नानक साहिब मनि वसै सचा नावणु होइ ।। - माझ म॰१, वार, आ॰ग्र॰146
3. हरि जलु निरमलु मनु इसनानी मजनु सतगुरु भाई । -गूजरी म॰१, अस॰आ॰ग्र॰505
4. काइआ कूड़ विगाड़ काहै नाईऐ ।
   नाता सो परवाणु सचु कमाईऐ ।। - वडहंस म॰१, दुन्त, आ॰ग्र॰565

आन्तरिक शुद्धि तो निर्मल नाम के जाप से होगी ।[1] जल के साथ धुला हुआ शरीर पुन: मलिन हो जाएगा किन्तु ज्ञान रूपी महारस में स्नान कर लेने पर मन और तन दोनों निर्मल हो जाते हैं ।[2] संक्षेप में कहा जा सकता है कि मात्र शरीर को धो लेने से शौच नहीं हो जाती शुचिता तो तभी होगी जब मनुष्य मन में परमात्मा को बसा लेगा ।[ए]

सत्य स्वरूप परमात्मा को पाने के लिए आन्तरिक शुचित्व का होना आवश्यक है । आन्तरिक शुचिता तभी प्राप्त हो सकती है जब मनुष्य सच्चे प्रभु का ध्यान करेगा ।[3] जब तक मनुष्य के अन्दर विकारों की जूठन है वह शौच को कैसे प्राप्त कर सकता है ।[4] शौच प्राप्त करने के लिए मनुष्य को काम, क्रोध आदि पंच विकारों को त्यागना होगा और शब्द को बूझ कर अपने आप को संवारना होगा ।[5] शब्द (नाम) मिलने पर ही आचरण में पवित्रता आती है । यही पवित्रता प्रभु के दरबार में मान्य है ।[6] इस लिए जो दिन रात नाम में अनुरक्त रहते हैं वही पवित्र हैं दूसरे जो आवागमन के चक्र में फँसे रहते हैं वे कच्चे हैं ।[7] इस लिए मनुष्य को चाहिए कि वह शब्द

---

1. अंतरि मैलु लोभ बहु झूठे बाहरि नावहु काही जीउ ।
   निरमल नामु जपहु सद गुरमुखि अंतर की गति ताही जीउ ।।
   - सोरठ म॰1, आ॰ग्र॰ 598
2. जलि मलि काइआ माजीऐ भाई भी मैला तन होइ ।
   गिआनि महारसि नाईऐ भाई मनु तनु निरमल होइ ।। -सोरठ म॰1, अस॰आ॰ग्र॰ 637
ए. सूचे इहु न आखीऐ वहनि जि पिंडा धोइ ।
   सूचे सेई नानका जिन मनि वसिआ सोइ ।। - आसा म॰1, वार, आ॰ग्र॰472
3. कहु नानक सचु धिआईऐ ।
   सुचि होवै ता सचु पाईऐ ।। - आसा म॰1, वार, आ॰ग्र॰472
4. अंतरि जूठा किउ सुचि होइ ।
   सबदी धोवै विरला कोइ ।। - प्रभाती म॰1, अस॰आ॰ग्र॰1344
5. सो सूचा जि करोधु निवारे ।
   सबदे बूझै आपु सवारे ।। - मारु म॰3, सो॰आ॰ग्र॰1059
6. सबदि मिले से सूचाचारी साची दरगह माने । - प्रभाती म॰1, आ॰ग्र॰1332
7. अहिनिसि नामि रते से सूचे मरि जनमे से काचे । -सोरठ म॰1, आ॰ग्र॰597

प्राप्त करे क्योंकि शब्द में ही समस्त कर्म-धर्म, शुचि, संयम, जप, तप तथा तीर्थ आदि आ बसते हैं । हरि के मिलाने पर गुरु का मिलन होता है तथा गुरु से शब्द प्राप्त कर उसका अभ्यास करने से दु:ख, पाप एवं काल नष्ट हो जाते हैं ।[1]

धनासरी राग में गुरु नानक देव जी का कथन है कि जब तक मनुष्य का मन मलिन है, वह पवित्र कैसे हो सकता है ।[2] शरीर तो तभी पवित्र होगा जब उस में सच्चे प्रभु का नाम हो । ऐसा शरीर परमात्मा के भय और सत्य में अनुरक्त रहता है तथा जिह्वा सत्यानन्द का रसास्वादन करती है ।[3] जो अहर्निश प्रभु के गुणों के साथ रहते हैं वही पवित्र माने जातेस हैं ।[4] जब मनुष्य का मन पवित्र होगा तभी उस में सच्चे प्रभु का वास होगा जिससे मनुष्य का आचरण पवित्र होगा । किन्तु ऐसे पवित्र आचरण वाले लोग दुनियाँ में विरल ही है ।[5]

सारांश यह है कि गुरु नानक देव जी ने शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की पवित्रता को स्वीकार किया है, किन्तु अधिक बल उन्होंने मानसिक पवित्रता पर दिया है । शरीर वही पवित्र कहलाएगा जिसमें परमात्मा का नाम होगा और वह काम, क्रोध आदि विकारों को त्याग कर सत्य में अनुरक्त होगा । क्योंकि शरीर की पवित्रता भी हरि की भक्ति और प्यार के बिना नहीं पाई जा सकती ।[6]

---

1. सगले करम धरम सुचि संजम जप तप तीरथ सबद बसे ।
   नानक सतगुरु मिले मिलाइआ दूख पराछत काल नसे ।। - प्रभाती म॰१, आ॰ग्र॰1332
2. मनि मैले सूचा किउ होइ ।। - धनासरी म॰१, अस॰ आ॰ग्र॰686
3. तनु सूचा सो आखीऐ जितु महि साचा नाउ ।
   भै सचि राती देहरी जिह्वा सचु सुआउ ।। - सिरीराग म॰१, आ॰ग्र॰19
4. अनदिनु सूचे हरि गुण संगा । - आसा म॰१, आ॰ग्र॰354
5. सूचे भांडे साचु समावै विरले सूचाचारी ।। - सोरठ म॰१, आ॰ग्र॰597
6. कथने कहणि न छूटीऐ ना पड़ पुसतक भार ।
   काइआ सोच न पाईऐ बिनु हरि भगति पिआर । - सिरीराग म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰ 72

आन्तरिक शुचिता तीन प्रकार की मानी गई है; मन, वचन और कर्म की शुचिता । मन की शुचिता का उमर विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है । कर्म की पवित्रता पवित्र आचरण से होती है । उस का विवेचन भी हो चुका है । शेष रही वचन की पवित्रता । वचन को अपवित्र बनाने में सबसे अधिक योगदान झूठ का होता है । इस को सत्यवादन के द्वारा पूरा किया जा सकता है । किसी को दु:ख पहुँचाने वाला कठोर वचन न बोलना ही वचन की पवित्रता है । बहुत अधिक बोलना या व्यर्थ में बकवास करना भी वचन की अपवित्रता है । वचन में शुचित्व लाने के लिए पराई निन्दा का परिहार परमावश्यक है । पर-निन्दा से वचन में अपवित्रता आती है । गुरु नानक निन्दक के कट्टर आलोचक हैं । उन्होंने कहा कि पर निन्दा मानों मुख में पर-मल ही है ।[1] मनुष्य की पर-निन्दा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह बन्धन का कारण है । इससे मनुष्य मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता, उल्टा पर-निन्दा तो मनुष्य को ले डूबती है ।[2]

धी -

धी का अर्थ बुद्धि है । स्वधन के रूप में यह धर्म का एक आवश्यक अंग है । धी के द्वारा ही मनुष्य धर्म-अधर्म, सत्य-झूठ, लाभ-हानि तथा हिताहित में अन्तर कर पाता है । मनुष्य और पशुओं में अन्य बहुत सी बातें समान हैं, परन्तु बुद्धिमान होना मनुष्य की ही विशेषता है । यही उसे शेष प्राणियों से आकृष्ट बनाती है क्योंकि मनुष्य जैसी बुद्धि किसी दूसरे प्राणी में नहीं है ।

ऋग्वेद में धी शब्द का प्रयोग प्रार्थना या स्तुति के अर्थ में हुआ है ।[3] कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता को उपदेश दिया है कि "तू आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को लगाम, इन्द्रियों को

---

1. पर निंदा पर मलु मुख सुधी अगनि क्रोध चंडालु ।।
   - सिरीराग, म॰१, आ॰ग्र॰ 15
2. वाधे मुकति नाही नर निंदक डूबहि निंद पराई है ।
   - मारु म॰१, सो॰आ॰ग्र॰ 1026
3. ऋ॰ 1॰3॰5; 1॰135॰5; 1॰151॰6; 6॰2॰3; 8॰4॰5

घोड़े, विषयों को मार्ग तथा इन्द्रियों और मन से युक्त जीवात्मा को भोक्ता समझ ।[1] इस रूपक में बड़ी सुन्दरता से दर्शाया गया है कि भोगों के भोक्ता जीव रूपी स्वामी के पास शरीर रूपी रथ के द्वारा भोग साधन के निमित्त सारथी बुद्धि है । इस सारथी बुद्धि के वश में ही शेष सब कुछ है । मन एवं इन्द्रियाँ आदि शेष सभी अंग इसी की आज्ञा का पालन करते हैं । यह बुद्धि रूपी सारथी मन रूपी लगाम को खींचकर इन्द्रिय रूपी घोड़ों को उचित मार्ग पर चलाती है । इन्द्रिय रूपी घोड़े सदैव स्वेच्छा से मनमाने ढंग से दौड़ना चाहते हैं, परन्तु यदि बुद्धि रूपी सारथी मन रूपी लगाम को कस कर रखे तो घोड़े कभी भी मार्ग से भटक नहीं सकते । यदि सारथी नासमझ, किंकर्तव्यविमूढ़ एवं घोड़े को काबू में रखने में असमर्थ हो तो घोड़े मनमानी करने लगेंगे और रथ के मालिक को सारथी समेत किसी बुरे स्थान में लेजाकर पटक देंगे ।

जिनकी बुद्धि निर्मल है वे ठीक निर्णय और निश्चय करते हैं । इसी लिए धर्म के लक्षणों में धी को शामिल किया गया है ताकि व्यक्ति सदैव जागरूक होकर रहे और किसी घिसी-पिटी लकीर का फकीर बनने की अपेक्षा समयानुसार उचित निर्णय लेने में समर्थ हो सके । विवेक बुद्धि वाला व्यक्ति ही मन को वश में रखता है, जिससे उसकी सभी इन्द्रियाँ उसके वश में रहती हैं और उसके निर्दिष्ट मार्ग पर चलती हैं ।[2] इस प्रकार का व्यक्ति कभी कुमार्ग पर नहीं जाता, सदा धर्म के मार्ग पर ही चलता है । सद्बुद्धि के द्वारा वह मोक्ष को प्राप्त कर जन्म-मरण के चक्कर से छूट सकता है ।

बुद्धि रूपी सारथी के एक असत् निर्णय लेने से महान् अनर्थ हो सकता है ।

---

1. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
   बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।। 3 ।।
   इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
   आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।। - कठो॰ ।॰3॰3-4

2. यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
   तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ 6 ॥ कठो॰।॰3॰6

इस लिए कहा भी है "विनाशकाले विपरीत बुद्धिः" जब मनुष्य का सर्वनाश होने को होता है तो सर्वप्रथम उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है, अर्थात् वह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझने लग जाती है, तामसिक हो जाती है।[1]

मनुष्य में सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन गुणों में जो प्रधान होगा, उसकी बुद्धि भी वैसी होगी, सत्वगुण प्रधान मनुष्य की बुद्धि भी सात्त्विकी होगी, रजोगुण की प्रधानता वाले मनुष्य की राजसी एवं तमो गुण की प्रधानता वाले मनुष्य की बुद्धि भी तामसी होगी। तामसी नीच बुद्धि है और सात्विकी सद्बुद्धि। राजसी बुद्धि सात्विकी और तामसी के बीच में रहती है। इस पर दोनों का थोड़ा प्रभाव है। जब यह बुद्धि गिरावट की ओर बढ़ेगी तो तामसी कहलाएगी। अच्छाई की ओर बढ़ेगी तो सात्विकी।[2]

मलिन बुद्धि बुराइयों की जड़ होती है। परन्तु इसको निर्मल बनाया जा सकता है। गुरु नानक देव कहते हैं कि धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने से बुद्धि निर्मल हो जाती है।[3] इसके अतिरिक्त सत्संगति, संत महात्माओं के प्रवचन सुनने तथा सेवा करने से धी स्वच्छ हो जाती है। यदि बुद्धि पाप कर्मों की मल से मलिन हो जाए तो उसे प्रभु नाम का जाप कर धोया जा सकता है अर्थात् निर्मल किया जा सकता है।[4]

मनुष्य का स्वभाव है कि वह सदैव उन्नति की ओर अग्रसर रहता है। ऐसा तभी हो सकता है जब उसके पास सद्बुद्धि हो और वह श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त हो। तभी तो वह सविता देव से प्रार्थना करता है कि हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ कर्मों की ओर प्रेरित करो -

---

1. ब्रह्म-विद्या, स्वामी कृष्णानंद, पृ॰123-24
2. विश्वज्योति, जनवरी, 1983, पृ॰6
3. बेद पाठ मति पापा खाइ। - वार सूही म॰1, आ॰ग्र॰791
4. भरीऐ मति पापा कै संगि।
   ओहु धोपै नावै कै रंगि।। - जपुजी, गु॰ना॰र॰ 10

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।। - यजु॰3॰35

इन्द्र श्रेष्ठ बुद्धियों से सम्पन्न हैं । इस लिए उन से भी यही प्रार्थना की जाती है कि वे हमें श्रेष्ठ बुद्धि प्रदान करें ।[1] वरुण देव, ज्ञानस्वरूप अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु और धाता से भी यही प्रार्थना है कि वे हमें उत्तम बुद्धि प्रदान करें ।[2] अच्छी धी प्राप्त कर अश्विनी कुमारों से प्रार्थना की जाती है कि वे इसकी रक्षा करें ।[3] क्योंकि बुद्धिहीनता के कारण व्यक्ति नष्ट हो जाता है, इसलिए अग्नि देव की स्तुति की जाती है कि वह हमें बुद्धिहीनता के कारण नष्ट न होनें दे ।[4]

गुरु नानक वाणी में धी के लिए "अकल" विवेक, बुद्धि एवं "मति" शब्द प्रयुक्त हुए हैं । गुरु नानक देव जी का विचार है जो "अकल" {बुद्धि} व्यर्थ के वाद-विवाद में नष्ट की जाती है, वास्तव में वह बुद्धि नहीं है, उसे बुद्धि नहीं कहना चाहिए । बुद्धि वही है जिससे परमात्मा की सेवा की जाती है और जिस से सम्मान प्राप्त किया जाता है । बुद्धि से ही किसी विषय को पढ़कर समझा जाता है और बुद्धि से ही दान किया जाता है । यही वास्तविक मार्ग है, शेष बातें तो शैतान की बातें हैं ।[5] गुरु नानक यह मानते हैं कि मति का हमारे जीवन में बहुत महत्व है । यदि हम गुरु की शिक्षा सुनते हैं तो हमारी बुद्धि जवाहरात एवं माणिक्य की निधि हो सकती है।[6]

1॰ अथर्व॰ 20॰35॰16

2॰ मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः । मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ।। - यजु॰ 32॰15

3॰ ऋ॰ 1॰34॰5

4॰ मा नो अग्नेऽमत्ये मावीरतायै रीरधः । - ऋ॰ 3॰16॰5
यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । या मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ।।

5॰ अकलि एह न आखीऐ अकलि गवाईऐ वाद ।।
अकली साहिबु सेवीऐ अकली पाईऐ मानु ।।
अकली पढ़ि कै बुझीऐ अकली कीचै दानु ।।
नानकु आखै राहु एहु होरि गलां सैतानु ।। - वार॰सारंग म॰1, आदि ग्र॰ 1245

6॰ मति विचि रतन जवाहर माणिक जे इक गुर की सिख सुणी ॥ 6 ॥
-जपुजी ॰॰नार॰6

इस प्रकार की विवेक बुद्धि सद्गुरु से ही प्राप्त की जा सकती है ।[1] जिन के पास बुद्धि नहीं है वे मूर्ख और ज्ञान की ओर से अन्धे हैं ।[2] बुद्धि के निकृष्ट कर्मों में प्रवृत्त होने से व्यक्ति नष्ट हो जाता है और बुद्धि के द्वारा ही परमात्मा का नाम स्मरण कर व्यक्ति दु:खों से छुटकारा पा जाता है । इस लिए परमात्मा से ऐसी बुद्धि मांगनी चाहिए जिससे मनुष्य प्रभु का स्मरण करता रहे और उसी के ध्यान में लगा रहे ।[3]

अहिंसा -

किसी जीव की हत्या करना हिंसा है । इस के विपरीत अर्थात् किसी भी जीव की हत्या न करना अहिंसा है । अहिंसा धर्म का मुख्य तत्व है । अहिंसा का व्यापक अर्थ होगा मन वचन एवं कर्म से किसी जीवनको कष्ट न देना । अत: मनुष्य का व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि वह अपने कर्म एवं वचन से किसी को दु:खी न करे और न किसी के विषय में ऐसा सोचे जिसका पता चलने पर उस को कष्ट हो । जो कार्य अपने को कष्ट दे सकता है, वह दूसरों के लिए भी कष्टप्रद हो सकता है । इसलिए अपने लिए जो कार्य उचित नहीं समझते, दूसरों के लिए भी उसे नहीं करना चाहिए । अत: अपने व्यवहार से किसी को कष्ट न देना ही अहिंसा है ।

अहिंसा के विषय में सर्वप्रथम ऋग्वेद में वर्णन आया है । वहाँ अग्नि के विषय में कहा गया है कि अग्नि हिंसा रहित होते हुए बढ़ा रहे हैं ।[4] यजुर्वेद (11-28) में भी अग्नि को अहिंसक कहा गया है । ऋग्वेद में मित्र को भी अहिंसक कहा गया है ।[5]

अथर्ववेद में हिंसा शब्द हानि न पहुँचाने के अर्थ में आया है ।[6]

---

1. विवेक बुधि सतिगुर ते पाई । -टोडी म·4, आ·ग्र·71।
2. अंधे अकली बाहरे मूरख अंध गिआन । - सूही म·1, वार,गु·ना·र·420
3. सा बुधि दीजै जितु विसरहि नाही ।।
   सा मति दीजै जितु तुध धिआई ।। - माझ म·5, पदे, आ·ग्र·100
4. आदिन्मातृराविशद् यास्वा शुचिरहिंस्यमान उर्विया वि वावृधे ।।
   - ऋ· 1·141·5
5. ऋ· 5·64·3
6. अथर्व· 9·3·22; 12·3·21

यहाँ तक कि अथर्ववेद पशु पक्षियों की भी हिंसा का निषेध करता है। सभी प्रकार के जीव जन्तुओं को निर्देश दिया गया है कि खेतियों की हिंसा न करते हुए (हानि न पहुँचाते हुए) चलते जाएँ।[7]

छान्दोग्योपनिषद् में अहिंसा की गणना ब्रह्मलोक को प्राप्त कराने वाले मुख्य तत्वों में की गई है। वहाँ बताया गया है कि नियमानुसार गुरु के कर्तव्यों को समाप्त करता हुआ, वेद का अध्ययन कर आचार्यकुल से समावर्तन कर, कुटुम्ब में स्थित हो, पवित्र स्थान में स्वाध्याय करता हुआ इन्द्रियों को अन्तःकरण में स्थापित कर शास्त्र की आज्ञा से दूसरे प्राणियों की हिंसा न करता हुआ निश्चय ही ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।[2] छान्दोग्योपनिषद् में ही अहिंसा को यज्ञ के एक भाग के समकक्ष कहा गया है।[3]

व्यास जी के अनुसार किसी अवस्था में भी मन वचन एवं कर्म द्वारा किसी प्राणी से कभी द्रोह न करना अहिंसा है अर्थात् दूसरे को पीड़ा पहुँचाने का विचार तक न पैदा होना अहिंसा है। अहिंसा शेष सब यम नियमों का मूल है। इसकी सिद्धि के लिए शेष यम-नियमों का प्रतिपादन किया जाता है। अहिंसा का व्रत इनके बिना पूर्णतया शुद्ध नहीं होता।[4] क्योंकि जब तक सत्य अक्रोध एवं अस्तेय आदि का पालन नहीं किया जाता तब तक अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। इस प्रकार सत्य आदि सभी तत्व अहिंसा के व्रत में ही समा जाते हैं। इसीलिए महाभारत में "अहिंसा परमोधर्मा"[5] कहा गया है।

श्री कृष्ण ने गीता में हिंसा को तामसिक कर्म[6] तथा अहिंसा को ज्ञान

---

1. तर्द है पतङ्ग है जभ्य हा उपकूस।
   ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपेदित।।
   - अथर्व. 6.50.2
2. छान्दो. 8.15.1
3. छान्दो. 3.17.4
4. योग दर्शन 2.30 पर व्यास भाष्य।
5. अनुशासन पर्व 151.1
6. गीता, 18.25

कहा है ।[1] गीता में यह भी बतलाया गया है कि अहिंसा, समता, आनन्द, तप, दान, यश और अपयश विविध प्रकार के इन सब भावों का स्रोत भगवान् ही है ।[2]

अहिंसा के महत्त्व को देखते हुए ही योग दर्शन के पाँच यमों में अहिंसा को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है । इसी तरह जैनधर्म ने भी अहिंसा को अपना मुख्य सिद्धान्त बनाया । जैन धर्म के पाँच महाव्रतों अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह में अहिंसा की सर्वप्रथम गणना की है ।

मनुस्मृति में हिंसा आठ प्रकार की मानी गई है -

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकः । - मनु·5·51

1· अनुमन्ता - वध के लिए अनुमति देने वाला
2· विशसिता - वध किए हुए प्राणियों के अंगों को काटने वाला
3· निहन्ता - वध करने वाला
4· क्रेता - मांस को खरीदने वाला
5· विक्रयी - मांस बेचने वाला
6· संस्कर्ता - मांस पकाने वाला
7· उपहर्त्ता - उपहार के रूप में मांस को देने वाला
8· खादकः - मांस खाने वाला ।

इस प्रकार मनुस्मृति के अनुसार पशुओं का वध करना-करवाना, मांस खरीदना-बेचना, खाना-पकाना सभी हिंसा के अन्तर्गत आते हैं । इसलिए इन सभी का वहाँ निषेध किया गया है । परन्तु गुरु नानक देव इस विषय में इतने कट्टर नहीं है । मलार राग में उनका यह मांस विषक शब्द दर्शनीय है -

---

1· गीता, 13·7
2· अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधः ।। -गीता· 10·5

पहिलां मासहु निंमिआ मासै अंदरि वासु ।।
जीउ पाइ मासु मुहि मिलिआ हडु चंमु तनु मासु ।।
मासहु बाहरि कढिआ मंमा मासु गिरासु ।
मुहु मासै का जीभ मासै की मासै अंदरि सासु ।।
वडा होआ विआहिआ घरि ले आइआ मासु ।
मासहु ही मासु ऊपजै मासहु सभो साकु ।।
सतिगुरि मिलिऐ हुकमु बुझीऐ तांको आवै रासि ।
आपि छुटे नह छुटीऐ नानक क्वनि विणासु ।। ।8 ।।
मासु मासु करि मूरखु झगड़े गिआनु धिआनु नही जाणै ।
कउणु मासु कउणु सागु कहावै किसु महि पाप समाणे ।।
गैंडा मारि होम जग कीए देवतिआ की बाणे ।
मासु छोडि वैसि नकु पकड़हि रातीमाणस खाणे ।।
पहु करि लोकां नो दिखलावहि गिआनु धिआनु नही सूझै ।।
नानक अंधे सिख किआ कहीऐ कहै न कहिआ बूझै ।।
अंधा सोइ जि अंधु कमावै तिसु रिदै सि लोचन नाही ।
मात पिता की रकतु निपंने मछी मासु न खांही ।।
इसत्री पुरखै जां निसि मेला ओथै मंधु कमाही ।।
मासहु निंमे मासहु जंमे हम मासै के भांडे ।
गिआनु धिआनु कछु सूझै नाही चतुरु कहावै पांडे ।।
बाहर का मासु मंदा सुआमी घर का मासु चंगेरा ।
जीअ जंत सभि मासहु होए जीइ लइआ वासेरा ।।
अभखु भखहि भखु तजि छोडहि अंधु गुरू जिन केरा ।।
मासु पुराणी मासु कतेबीं चहु जुगि मासु कमाणा।
जंजि कजि विआहि सुहावै ओथै मासु समाणा ।।
इसत्री पुरख निपजहि मासहु पातिसाह सुलतानां ।
जे ओइ दिसहि नरकि जांदे तां उन का दानु न लैणा ।।
देंदा नरकि सुरगि लैदे देखहु एहु धिङ्गाणा ।
आपि न बूझै लोक बुझाए पांडे खरा सिआणा ।।

पांडे तू जाणै ही नाही कियहु मास उपंना ।
तोइअहु अंनु कमादु कपाहां तोइअहु त्रिभवणु गंना ।।
तोआ आखै हउ बहु विधि हट्टा तोऐ बहुतु बिकारा ।
एते रस छोडि होवै संनिआसी नानकु कहै विचारा ।। 19 ।।[1]

इस शब्द में गुरु नानक देव जी ने मांस का विवेकपूर्ण विवेचन कर अन्त में अपना मत व्यक्त करते हुए बतातें हैं कि हे पण्डित ! अन्न, गन्ना, कपास एवं त्रिभुवन की तरह यह मांस भीजल से ही उत्पन्न होता है । जल को मैं अनेक प्रकार से अच्छा कहता हूँ लेकिन इस में भी बहुत विकार हैं । क्योंकि जल ही अपना रूप परिवर्तित करके रसों में परिणित हो जाता है । अतएव मांस आदि सभी वस्तुएं इसी से बनती हैं । अत: इन सभी रसों को त्यागकर ही सन्यासी या त्यागी हुआ जा सकता है । किन्तु संसार में रहते हुए इन सभी रसों का त्याग करना सम्भव नहीं है ।

गुरु नानक वाणी के अनुसार हिंसा से अभिप्राय वध, चोरी या जीवों पर अत्याचार करने से है । अपने सुख या वैभव के लिए जीवों का वध करना, अत्याचार कर प्राणियों को कष्ट पहुंचाना तथा किसी दूसरे व्यक्ति का "हक"। (अधिकार या स्वत्व) छीनना आदि भी हिंसा के अन्तर्गत आते हैं । इसलिए गुरु नानक वाणी में उनका निषेध किया गया है ।

गुरु नानक की धारणा है कि जिसका मन परमात्मा में अनुरक्त है उसे अभिमान नहीं होता और वह हिंसा एवं लोभ को भूल जाता है ।[2] हिंसा करने वाला नष्ट हो जाता है क्योंकि हिंसा, लोभ, मोह एवं क्रोध, ये चारों अग्नि की नदियां हैं । जो-जो नर इन नदियों में पड़ते हैं वे दग्ध हो जाते हैं ।[3] इसलिए यदि किसी को सम्मानपूर्वक प्रभु-धाम को प्राप्त करना है तो उसे किसी भी प्राणी को दु:ख नहीं देना चाहिए ।[4] इस प्रकार गुरु नानक का

---

1. मलार म॰1, वार, श्लोक 18, 19 गु॰ना॰र॰ 736-38
2. जिस मन मानै अभिमान न ताकउ हिंसा लोभ विसारे ।। - सारंग म॰1
3. वार माझ म॰1, आ॰ग्र॰ 147
4. दुखु न देई किसै जीअ पति सिउ घरि जावउ ।।
   - गउड़ी म॰5, आ॰ग्र॰ 322

मूल सिद्धान्त यही है कि मनुष्य जीवों पर दया करे, उनको किसी प्रकार का कष्ट न दे तथा कुछ पुण्य एवं दान करे :-

दइआ जाणै जीअ की किछु पुंनु दानु करे ।। - आसा म॰।,वार, गु॰ना॰र॰290

इस प्रकार धर्म के कतिपय सामान्य तत्त्वों का विवेचन करने के उपरान्त अब धर्म के कुछ विशेष तत्त्वों का निरूपण किया जाएगा । सत्य, क्षमा तथा अहिंसा आदि सामान्य धर्म के अन्तर्गत आते हैं । विशेष धर्म में चिह्न एवं संस्कार आदि आते हैं जिनका आगे वर्णन किया जाएगा । वैदिक साहित्य में तो अनेकों संस्कारों का वर्णन हुआ है किन्तु यहाँ पर उन्हीं चिह्नों और संस्कारों का वर्णन किया जाएगा जिनका निरूपण गुरु नानक वाणी में हुआ है ।

यज्ञोपवीत (जनेऊ) -

प्रत्येक धर्म का पालन करने वाला कुछ न कुछ बाह्य चिह्नों को धारण करता है जिसका उसकी दृष्टि में अत्यन्त महत्त्व होता है । हिन्दु धर्म में यज्ञोपवीत धारण करने की प्रथा है । वैदिक काल से ही इस चिह्न को धारण करने का उल्लेख मिलता है । उस समय यज्ञोपवीत धारण करने की तीन विधियाँ थीं - निवीत, प्राचीनावीत एवं उपवीत ।[1] इन में उपवीत ढंग से उत्तरीय धारण करने का प्रचलन देवों में था । तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है कि प्राचीनावीत ढंग से होकर वह दक्षिण और आहुति देता है, क्योंकि पितरों के लिए कृत्य दक्षिण की ओर ही किए जाते हैं । इसके विपरीत उपवीत ढंग से उत्तर की ओर आहुति देनी चाहिए, देवता और पितर इसी प्रकार पूजे जाते हैं ।[2]

प्राचीन काल में यज्ञोपवीत साधारणत: मृगचर्म का होता था । इस के विकल्प में सूत्र भी धारण किया जा सकता था । तैत्तिरीय आरण्यक से

---

1. निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं देवानाम् ।
   उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते ।। - तै॰सं॰ 2॰5॰11॰1
2. तै॰ब्रा॰ 1॰6॰8

ज्ञात होता है कि उपवीत के लिए कृष्ण मृगचर्म या कपास का वस्त्र, प्रयोग में लाया जा सकता है । जो यज्ञोपवीत धारण करके यज्ञ करता है उसका यज्ञ फैलता है जो यज्ञोपवीत नहीं धारण करता उसका यज्ञ ऐसा नहीं होता । यज्ञोपवीत धारण करके ब्राह्मण जो कुछ पढ़ता है, वह यज्ञ है । अतः अध्ययन, यज्ञ या आचार्य-कार्य करते समय यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए । मृगचर्म या वस्त्र दाहिनी ओर धारण कर, दाहिना हाथ ऊपर उठाकर तथा बायां गिरा कर ही यज्ञोपवीत धारण किया जा सकता है । जब यह ढंग उलट दिया जाता है तो इसे प्राचीनावीत कहते हैं । सवीत स्थिति मनुष्यों के लिए होती है ।[1] इस से स्पष्ट है कि इस समय तक सूत्र के यज्ञोपवीत के स्थान पर मृगचर्म या वस्त्र का प्रयोग होता था । सूत्र के बने हुए जनेऊ का प्रयोग सूत्र युग में होने लगा था ।

"आरम्भिक युग में यज्ञोपवीत धारण करने के लिए अवसर नियत थे - गुरु, वृद्ध और अतिथियों की उपासना करते समय, होम और जप करते समय, भोजन, आचमन और स्वाध्याय के समय यज्ञोपवीत धारण किया जाता था । इससे प्रतीत होता है कि उस युग में सदा यज्ञोपवीत धारण करना, चाहे वह उत्तरीय अथवा सूत्र रूप में हो, आवश्यक नहीं था । यज्ञ के अवसर पर यज्ञोपवीत धारण करना परमावश्यक नियत किया गया है ।"[2] गोभिलगृह्य सूत्र काल में जनेऊ का आधुनिक रूप प्रचलित था । गोभिलगृह्यसूत्र (।•2•।) में बताया गया है कि विद्यार्थी यज्ञोपवीत के रूप में सूत्र की डोरी, वस्त्र या कुशा की रस्सी धारण करता था । सूत्र के जनेऊ का प्रचलन होने पर उसकी रचना सम्बन्धी कई नियम बने । मुख्य रूप से जनेऊ में तीन सूत्र होते हैं जिनमें प्रत्येक सूत्र में 9 धागे (तन्तु) होते हैं जो भली भान्ति बटे हुए एवं मांजे हुए रहते हैं । ये 9 तन्तु 9 देवताओं से सम्बन्धित हैं ।[3]

यज्ञोपवीत की व्यवस्था तीनों वर्णों के लोगों के लिए थी ।

1• तैत्तिरीय आरण्यक 2•।

2• भारत की संस्कृति-साधना, डा• रामजी उपाध्याय, पृ•43

3• धर्म शास्त्र का इतिहास, वही, पृ•218

ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य यज्ञोपवीत धारण करने पर ही धार्मिक कर्मों में पादारोपण करते थे । तभी इनकी द्विज संज्ञा होती थी । कुछ समय पश्चात् क्षत्रियों एवं वैश्यों ने इसका प्रयोग छोड़ दिया या सदैव यज्ञोपवीत पहनना न चाहा । इसलिए बहुत पहले से ही ब्राह्मण के लिए ही इसकी मान्यता थी और यही ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व माना जाता था । वेणीसंहार में अश्वत्थामा जब कर्ण पर पांव से प्रहार करने लगता है तो कर्ण क्रोध से उसे कहता है कि जाति से यद्यपि तुम अवध्य हो, किन्तु इस ऊपर उठाए गए पैर को इस खड्ग से कटा पृथ्वी पर गिरा देखोगे ।[1] इस पर अश्वत्थामा कहता है कि यदि मैं ब्राह्मण होने से अवध्य हूं, तो इस जाति को छोड़ता हूं । ऐसा कहकर वह यज्ञोपवीत को तोड़ देता है ।[2] इससे स्पष्ट होता है कि जिस समय वेणीसंहार की रचना हुई उस समय तक यज्ञोपवीत ब्राह्मण जाति का एक विशिष्ट लक्षण हो गया था ।

गुरु नानक वाणी में भी यज्ञोपवीत के विषय में वर्णन मिलता है । गुरु नानक वाणी में इसके लिए "जनेऊ" या "तग" शब्द का प्रयोग हुआ है । गुरु नानक देव जी के समय हिन्दू लोग जनेऊ पहना करते थे जो कि सूत्र (सूत) का बना होता था । इसे पहनते समय मन्त्र-उच्चारण किया जाता था परन्तु लोग यज्ञोपवीत को पहन कर भी बुराई करते थे ।[3] वे इसके वास्तविक महत्व को भूल गए थे । इसलिए गुरु नानक देव उनसे प्रश्न करते हैं कि बिना प्रतीति के पूजा, बिना "सत" के संयम और बिना सत्य के जनेऊ किस काम का । यह पवित्रता नहाने-धोने या तिलक लगाने से नहीं आती, यह तो सत्य से प्राप्त होती है ।[4] बाहरी यज्ञोपवीत तो तब तक मनुष्य के साथ है जब तक शरीर के साथ प्राण-ज्योति है । मृत्यु होने पर तो परमात्मा का नाम ही [illegible] ।

---

1. वेणीसंहारनाटकम् 3·4।
2. किं नाम जात्या काममबध्योऽहम् । इयं सा जातिः परित्यक्ता । (इति यज्ञोपवीतं छिनत्ति) वेणीसंहारनाटकम्, तृतीयो ऽङ्क ।
3. हिंदू कै घरि हिंदू आवै ।। सूतु जनेऊ पड़ि गलि पावै ।।
   सूतु पाइ करे बुरिआई ।। नाता धोता थाइ न पाई ।
   - रामकली म·१, गु·ना·र· 530
4. पति विणु पूजा सत विणु संजमु जत विणु काहे जनेऊ ।
   नावहु धोवहु तिलक चढ़ावहु सचु विणु सोच न होई ।।-रामकली म·१,

साथ जाएगा ।[1]

पण्डित तो चार कौड़ी मूल्य का जनेऊ मंगवा कर पहना देते हैं और कानों में उपदेश देते हैं कि आज से तेरा गुरु ब्राह्मण हुआ । परन्तु जब व्यक्ति की मृत्यु होती है तो यह यज्ञोपवीत शरीर के साथ ही जलकर नष्ट हो जाता है और जीव बेचारा अकेला ही जनेऊ के बिना संसार से चला जाता है ।[2]

इसीलिए जब गुरु नानक देव जी को यज्ञोपवीत पहनाया जाने लगा तो उन्होंने पुरोहित से आध्यात्मिक यज्ञोपवीत की कामना की, जिसकी कपास दया हो, संतोष सूत हो, गांठ संयम हो और पूरन (वट) सत्य का हो । यही जीव का वास्तविक जनेऊ है । न यह कभी टूटता है, न मलिन होता है, न जलता है और न कभी नष्ट होता है । गुरु नानक कहते हैं कि वे मनुष्य धन्य हैं जिन्होंने ऐसा यज्ञोपवीत धारण कर रखा है:-

दइआ कपाह संतोखु सूतु जतु गंढी सतु वटु ।
एहु जनेऊ जीउ का हई त पांडे घतु ।।
न एहु तूटै न मलु लगै न एहु जलै न जाइ ।
धंनु सु माणस नानका जो गलि चले पाइ ।। (आसा म॰१, वार गु॰ना॰र॰ 298)

गुरु नानक वाणी के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय यज्ञोपवीत कपास का बनाया जाता था तथा इसे ब्राह्मण ही बनाता था । इस अवसर पर यजमान अपने सम्बन्धियों को आमन्त्रित करता था और उनके भोजन के लिए बकरा मार कर उस का मांस पकाया जाता था यज्ञोपवीत पुराना होने पर

---

1. बाहरि जनेऊ जिचरु जोति है नालि ।
धोती टिका नामु संमालि ।।
ऐथै ओथै निबही नालि ।
विणु नावै होरि करम न भालि ॥ 2 ॥ -आसा म॰१, आ॰ग्र॰355

2. चउकड़ि मुलि अणाइआ वहि चउके पाइआ ।
सिखा कंनि चड़ाईआ गुरु ब्राह्मणु थिआ ।।
उह मूआ उहु झड़ि पइआ बे तगा गइआ ।। - आसा म॰१, वार, - गु॰ना॰र॰ 298

फेंक दिया जाता और नया पहन लिया जाता था । गुरु नानक कहते हैं कि यदि जनेऊ में शक्ति हो तो वह टूट नहीं सकता ।[1] ऐसे कृत्रिम जनेऊ से परमात्मा के दरबार में सम्मान नहीं प्राप्त होता, वहाँ तो तभी प्रतिष्ठा मिलती है जब हृदय से परमात्मा का नाम माना जाए क्योंकि परमात्मा की स्तुति और प्रशंसा ही वास्तविक जनेऊ है । इस प्रकार का जनेऊ धारण करने से परमात्मा के दरबार में मान प्राप्त होता है और ऐसा पवित्र जनेऊ कभी टूटता भी नहीं ।[2]

गुरु नानक वाणी में जनेऊ पहनाने वाले पण्डितों के विषय कहा गया है कि पण्डित ने अपनी नाड़ियों एवं इन्द्रियों को जनेऊ नहीं पहनाया कि वे विकारों की ओर न जाएं, पैरों को जनेऊ नहीं पहनाया कि वे बुरे लोगों के पास न जाएँ, हाथों को यज्ञोपवीत नहीं पहनाया कि वे बुरे कर्म न करें, जिह्वा जनेऊ रहित है जो परायी निन्दा करती है, आंखों को यज्ञोपवीत नहीं पहनाया कि पर-स्त्री और पर-धन को न देखें । इस प्रकार हे पण्डित तू स्वयं तो जनेऊ के विना भटक रहा है और कपास के धागे को बल चढ़ा कर औरों को पहनाता है । दक्षिणा लेकर विवाह कराता है और पन्ना शोध कर उन्हें (यजमानों को) मार्ग दिखाता है । पण्डित पर व्यंग करते हुए गुरु नानक कहते हैं कि ऐ लोगों सुनो और देखो यह कैसा आश्चर्यमय कौतुक है कि पण्डित मन से तो अन्धा है परन्तु नाम "सुजाण" (बुद्धिमान्) रखा है ।[3]

इस प्रकार गुरु नानक देव जी ने यज्ञोपवीत का निषेध नहीं किया प्रत्युत् धागे के जनेऊ के स्थान पर आध्यात्मिक यज्ञोपवीत पहनने पर बल दिया, जो दया, संतोष, संयम, सत्य और प्रभु नाम का बना हो । ऐसे जनेऊ का धारणी होने पर मनुष्य इहलोक एवं परलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ।

---

1. तगु कपाहहु कतीऐ बाम्हण वटे आइ । कुहि बकरा दिन्हि खाइआ सभु को होइ पुराणा सुटीऐ भी फिर पाईऐ होरु । नानक तगु न तुटई आखे पाइ। जे तगि होवै जोरु।आसा म॰।, वार,गु॰ना॰र॰298
2. नाइ मनिऐ पति ऊपजै सालाही सचि सूतु । दरगह अंदरि पाईऐ तगु न तुटसि पूतु ।। -आसा म॰।,वार,गु॰ना॰र॰298
3. तगु न इंद्री तगु न नारी । भलके थूक पवे नित दाड़ी ।।
तगु न पैरी तगु न हथी । तगु न जिहवा तगु न अखी ।
वे तगा आपे वते । वटि धागा अवरा धते ।
ले भाड़ि करे वीआहु । कटि कागलु दसे राहु ।।
सुणि वेखहु लोका एहु विडाणु । मनि अंधा नाउ सुजाणु ।।-आसा म॰।,

अशौच या सूतक -

धार्मिक जीवन में अशौच या सूतक के ऊपर भी विचार हिन्दु समाज में होता रहा है । अशौच का अर्थ है अपवित्रता, परन्तु यह अपवित्रता स्वयं कोई बुरा कर्म करने से नहीं होती । यह किसी व्यक्ति के जन्म एवं मृत्यु के अवसर पर हुआ करता है । इसे ही सूतक-पातक के नाम से पुकारा जाता है । इस प्रकार की अशुचिता होने पर व्यक्ति को कुछ धार्मिक अधिकारों से वंचित रहना पड़ता है तथा उसके घर लोग भोजन आदि भी नहीं करते ।

वैदिक संहिताओं में अशौच या अशुचिता शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और न ही वहाँ इसका कोई विधान बताया गया है । ब्राह्मण ग्रन्थों में अशौच का विवेचन हुआ है तथा उस समय लोग इसका पालन भी करते थे । यज्ञ प्रकरण में यजमान एवं उसकी पत्नी को अशौच के कारण यज्ञ में भाग न लेने का वर्णन मिलता है । यजमान की पत्नी ऋतुमती होने पर भी यज्ञ में भाग नहीं ले सकती थी ।

डा॰ निरूपण विद्यालंकार के अनुसार "धार्मिक कर्मों को करने के विशेषाधिकार का न हो, उसके (अशौच वाले व्यक्ति को) घर किसी भी व्यक्ति द्वारा भोजन न किया जा सकता, अस्पृश्यता और धार्मिक दान आदि के विषय में अधिकार का न होना अशौच के अन्तर्गत आता है ।"[1] उपर्युक्त परिभाषा से यह व्यक्त होता है कि यह अशुचित्व दो प्रकार का होता है :- (1) धार्मिक कृत्यों को करने का अधिकार न होना (2) अस्पृश्य होना ।

जन्म सम्बन्धि अशौच केवल माता के लिए होता है । अशौच की इस अवस्था में माता अस्पृश्य समझी जाती है । इस प्रकार जननी दश दिन तक अपवित्र रहती है तदुपरान्त वह स्पृश्य समझी जाती है ।

जन्म मरण से होने वाले सूतक की अवधि विभिन्न वर्णों के लिए

---

1. भारतीय धर्मशास्त्रों में शूद्रों की स्थिति, डा॰ निरूपण विद्यालंकार, पृ॰180

अलग-अलग है । इस विषय में लगभग सभी धर्मशास्त्र एक मत है कि सजातियों के जन्म-मरण के अवसर पर ब्राह्मण के लिए दश दिन और शूद्र के लिए एक मास का सूतक होता है । कालान्तर में शास्त्रीय शुद्धता पर इतना अधिक बल दिया जाने लगा कि यदि ब्राह्मण के घर में कुत्ते की मृत्यु हो जाती है तो घर दश दिन के लिए अपवित्र हो जाता है । यदि शूद्र, पतित या मलेच्छ की ब्राह्मण के घर मृत्यु हो जाती है तो घर क्रमशः एक, दो और चार मास के लिए अपवित्र रहता है और यदि घर में श्वपाक की मृत्यु हो जाए तो घर ही छोड़ देना चाहिए ।[1]

गुरु नानक देव जी ने इस प्रकार का सूतक-पातक स्वीकार नहीं किया प्रत्युत इसकी कटु आलोचना की है क्योंकि यह मानना न उचित है न युक्ति-युक्त । इसका खण्डन करते हुए वे अपना मत व्यक्त करते हैं कि सूतक तो केवल भ्रम मात्र है । यह द्वैतभाव में फंसे हुए (मायासक्त) लोगों को ही लगता है । जीवों का जन्म तथा मृत्यु, इस संसार में आना तथा जाना सब कुछ प्रभु की आज्ञानुसार होता है । परमात्मा ही सभी को खाद्य पदार्थ उपलब्ध करवाता है और ये खाद्य पदार्थ पवित्र है । इस प्रकार इस भेद को जो मनुष्य जान लेते हैं उन्हें सूतक नहीं लगता ।[2]

अशुचिता को मानना युक्ति युक्त क्यों नहीं है, इस विषय में गुरु नानक का मत है कि यदि अशुचित्व को स्वीकार कर लिया जाए तो सभी स्थानों पर सूतक होता है । क्योंकि गोबर तथा लकड़ी, जिनके साथ भोजन तैयार किए जाते हैं, इस में भी कीड़े होते हैं जो आग से मर जाते हैं । अन्न के दाने भी जीव के बिना नहीं हैं । सर्वप्रथम जल ही जीवन है जिसके साथ सब कुछ हरा भरा रहता है और इसी जल से ही भोजन तैयार किया जाता है । अतएव सूतक का विचार किस प्रकार रखा जा सकता है । सूतक हर समय हमारी रसोई में पड़ा रहता है । इस प्रकार हमारे मन से सूतक नहीं उतर सकता, इसे तो प्रभु का ज्ञान ही धोकर उतार सकता है ।

---

1. निर्णयसिन्धु द्वारा उद्धृत शुद्धितत्व ।
2. आसा म०१, वार, गु०ना०र० 304

जे करि सूतकु मंजीऐ सभ तै सूतकु होइ ।
गोहे अते लकड़ी अंदरि कीड़ा होइ ।।
जेते दाणे अंन के जीआ बाझु न कोइ ।
पहला पाणी जीउ है जितु हरिआ सभु कोइ ।।
सूतकु किउ करि रखीऐ सूतकु पवै रसोइ ।
नानक सूतकु एव न उतरै गिआनु उतारै धोइ ।।
- आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 302

अत: गुरु नानक देव इस प्रकार की अपवित्रता को नहीं मानते । क्योंकि इस प्रकार की अशुद्धि तो जीवन में प्रतिदिन होती ही रहती है । यदि इस को मान लिया जाए तो मनुष्य सदैव अपवित्र और अस्पृश्य ही रहे और शायद जीवन में कई बार उसे अपवित्रता के कारण ही घर छोड़ना पड़े ।

इस प्रकार तर्क पूर्वक सूतक के इस रूप को अस्वीकार करते हुए वे वास्तविक सूतक को बताते हैं कि मन का सूतक लोभ है और जिह्वा का असत्य। आंखों की अपवित्रता दूसरे के धन तथा स्त्री के रूप को देखना है । दूसरे की निन्दा को सुनना कानों की अशुचिता है । यदि किसी मनुष्य में इस प्रकार की अपवित्रता है तो वह बांध कर यमपुरी को ले जाया जाएगा ।[1]

श्राद्ध -

श्रद्धा के साथ किया गया कार्य श्राद्ध कहलाता है । यह कर्म मुख्य रूप से पितरों के लिए किया जाता है । अत: श्राद्ध से अभिप्राय पितरों के निमित्त श्रद्धापूर्वक किया गया यज्ञ या दान आदि से है । डा॰ निरूपण विद्यालंकार के मतानुसार "श्राद्ध अपने पूर्वजों की स्मृति में दी गई श्रद्धांजलि, पितरों को दिया गया भोजन और मृत व्यक्ति का पवित्र प्रीतिभोज है ।"[2]

1॰ मन का सूतकु लोभु है जिह्वा सूतकु कूड़ु ।
अखी सूतकु वेखणा परतृअ परधन रूप ।।
कनी सूतकु कीन पै लाइतबारी खाहि ।
नानक हंसा आदमी बधे जंम पुरि जाहि ।। -आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰304

2॰ भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति, पृ॰१९।

श्राद्ध प्रतिदिन किए जाने वाले पंच महायज्ञों में से एक हैं । इसे पितृयज्ञ या पिण्डपितृयज्ञ भी कहते हैं । डा॰ निरूपण विद्यालंकार इसको तीन भागों में विभक्त करते हैं - प्रथम, मध्यम और अन्त । प्रथम भाग में आने वाली वे क्रियाएं हैं जो शव की दाह क्रिया से लेकर अशौच की समाप्ति पर्यन्त सम्पन्न होती हैं । मध्य भाग में श्राद्ध का नम्बर आता है, जो मृत्यु के उपरान्त प्रथम वर्ष के भीतर किया जाता है । सपिण्डीकरण एवं प्रथम वर्षी भी इसी के अन्तर्गत आती है । इसके पश्चात् की जाने वाली क्रियाएं अन्त में आती हैं । इस अन्त श्राद्ध में पिता, पितामह और प्रपितामह देवता होते हैं और भोजन करने वाले ब्राह्मण आहवनीय के लिए होते हैं । इस में होम, ब्राह्मण-भोजन एवं पिण्डदान अवश्य करना होता है ।[1]

ऐसी धारणा है कि मृत्यु के पश्चात् पितर परलोक में चले जाते हैं । उनकी मृत्यु के पश्चात् यदि पिण्डदान आदि कर दिए जाएं तो उन्हें स्वर्ग मिलता है, अन्यथा उन्हें नरक में ही जाना पड़ता है । पितरों को भोजन एवं वस्त्रों की आवश्यकता होती है, इसलिए मनुष्य उन की तृप्ति के लिए ये वस्तुएं यहाँ दान कर देता है । इस प्रकार दान की हुई वस्तुएं ही पितरों को परलोक में प्राप्त होती हैं । इस तरह श्राद्ध एवं तर्पण आदि से पितरों को तृप्त किया जाता है । इस सामग्री के अभाव में जल से ही तर्पण मात्र किया जाता है ।

इस प्रकार श्राद्ध का लक्षण होगा - पितरों को उद्देश्य करके श्रद्धापूर्वक किया गया द्रव्य दान । यह तीन प्रकार का होता है । भाई कान्ह सिंह नाभा इसे चार प्रकार का मानते हैं - नित्य, काम्य, पार्वण और महालय ।[2] डा॰ निरूपण विद्यालंकार ने वर्ष में किए जाने वाले श्राद्धों को इस प्रकार वर्गीकृत किया है - अमावस्या - 12, मन्वन्तर-14, युगादि-4, संक्रम-12, व्यतिपात-13, महालय-15, अष्टक 12, गजच्छाया - 1 ।[3]

1॰ भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति, पृ॰ 191

2॰ महान् कोश, भाई कान्ह सिंह नाभा, पृ॰169

3॰ भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति, पृ॰192

वैदिक संहिताओं में श्राद्ध शब्द नहीं पाया जाता और न ही इस का पर्यायवाची शब्द पिण्डपितृयज्ञ प्रयुक्त हुआ है । पितृमेध, पिण्डपितृयज्ञ तथा पितरों को आहुति आदि का प्रचलन ब्राह्मण काल में था । श्राद्ध शब्द का प्रयोग उपनिषद् ग्रन्थों में प्राप्त होता है । कठोपनिषद् में श्राद्ध शब्द का प्रयोग मिलता है । वहाँ पर नचिकेता उपाख्यान का महत्व प्रकट करते हुए बताया गया है कि जो मनुष्य श्राद्ध काल में भोजन करने वाले ब्राह्मण को यह उपाख्यान सुनाता है, उसका यह कर्म अनन्त फल प्रदायी होता है ।[1] इस से यह बात सामने आती है कि जिस समय कठोपनिषद् की रचना हुई, उस समय समाज में श्राद्ध का प्रचलन था तथा श्राद्ध में ब्राह्मण को भोजन आदि करवाया जाता था । इससे पूर्व संहिताओं में भी कुछ मन्त्र ऐसे प्राप्त होते हैं जिन में श्राद्ध या पितरों की ओर संकेत किया गया है ।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के 14 और 15 सूक्त ही पितृसूक्त हैं । चौदहवें सूक्त में मरे हुए पुरुष को सम्बोधन करके उसका पुत्र कहता है कि आप इष्टापूर्त, यज्ञ, दान आदि साधन के द्वारा परमाकाश में पितरों और यम के साथ संगत हो । फिर पाप से मुक्त होकर परलोक को प्राप्त हों और पितृलोक के भोग प्राप्त करके सुन्दर तथा कान्तियुक्त शरीर धारण करें ।[2] ऋग्वेद में ही मरते हुए पिता के प्रति उसका पुत्र कहता है कि पूषा देव तुम्हें इस शरीर से पृथक् करें और अग्नि देवता तुम्हें पितर और देवताओं के पास ले जाएँ ।[3] अथर्ववेद में पितरों को स्वर्ग लोक में रहने वाले बताया गया है ।[4] अथर्ववेद के ही एक और मन्त्र में बताया गया है कि पितर पृथ्वी

---

1. य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
   प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥ 17 । -कठो॰ 1॰3॰17
2. संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
   हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥ -ऋ॰10॰14॰8
3. ऋ॰ 10॰17॰3
4. उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा ।
   तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥ - अथर्व॰ 18॰2॰48

अन्तरिक्ष एवं द्यु या स्वर्ग में रहते हैं ।[1] यजुर्वेद में तो पितरों को अन्न देने का भी विधान है । वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि आज यह अन्न पितरों को प्राप्त हो । जो पूर्व पितर स्वर्ग में जा चुके हैं, जो मुक्ति को प्राप्त कर परब्रह्म में मिल चुके हैं, जो पृथ्वी में स्थित अग्नि रूप ज्योति में रम गए हैं अथवा जो पितर धर्म रूप और बल से युक्त प्रजाओं में देह धारण कर आ गए हैं, उन सभी प्रकार के पितरों को अन्न देते हैं ।[2] उपर्युक्त विवेचन से यह बात सामने आती है कि मृत्यु के उपरान्त मनुष्य की आत्मा पितृलोक को प्राप्त होती है । पितृलोक में सावधि भोगों को भोग कर वह पुनर्जन्म को प्राप्त होता है । पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त को अथर्ववेद स्पष्ट करता है -

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञिया: ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ।।[3]

जो मृत है अर्थात् मर कर लोकान्तर में स्थित है, जो जीवा:-जीवन धारण करने वाले (गर्भस्थ) हैं, जो पैदा हो चुके, एवं जो यज्ञिय हैं उन सब को घृत की कुल्या प्राप्त हो ।

इस प्रकार हमने देखा है कि संहिताओं के समय भी पितरों की मान्यता थी तथा उनके लिए विभिन्न प्रकार की आहुतियां दी जाती थीं । उस समय ऐसा विश्वास किया जाता था कि यहाँ पितरों के लिए जो कुछ श्राद्ध में दिया जाता है वही परलोक में पितरों को प्राप्त होगा । परन्तु गुरु नानक देव जी का विचार है कि पितरों को, उनकी मृत्यु के पश्चात् दिया गया अन्नदान आदि उन्हें प्राप्त नहीं होगा । उन्हें तो वही प्राप्त होगा जो उन्होंने अपने जीवन-काल में प्राप्त किया है, कमाया है या अपने

---

1. स्वधा पितृभ्य: पृथिवीषद्भ्य: ।
   स्वधा पितृभ्य: अन्तरिक्षसद्भ्य: ।
   स्वधा पितृभ्य: दिविषद्भ्य: । - अथर्व. 18.4.78-80
2. यजु. 19.68
3. अथर्व. 18.4.57

हाथों से दान किया है ।[1] मनुष्य इस संसार में जो भी अच्छा या बुरा कर्म करता है, परलोक में उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है ।[2] इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीते जी स्वयं अपने हाथों से अपना कार्य संवार ले, उसकी मृत्यु के बाद उस के संबन्धियों द्वारा किए गए दान-पुण्य में से उसे कुछ नहीं प्राप्त होगा ।[3]

किसी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् दीपक जलाया जाता था । एक धारणानुसार यह दीपक प्राणी के लिए यम लोक जाते समय अंधेरे मार्ग में प्रकाश करता है । इस सांसारिक दीपक के स्थान पर प्राणी के आत्म-प्रकाश के लिए गुरु नानक देव जी ने एक नए दीपक की सृष्टि की जिस से यम-लोक के भयावह मार्ग का भय नहीं रहता । उन्होंने बताया कि परमात्मा का नाम ही मेरा दीपक है और उस में दु:ख रूपी तेल डाला गया है । उस दीपक के प्रकाश ने दु:ख रूपी तेल को सोख लिया है और यमराज से मिलाप का भय भी समाप्त हो गया है ।[4] भाव यह कि यदि मनुष्य ने प्रभु नाम का स्मरण किया तो उसे यम के पास नहीं जाना पड़ता, फिर उसके मार्ग के लिए किसी प्रकार के दीपक की आवश्यकता नहीं ।

मृतक के संस्कार और क्रियाएं कैसी होनी चाहिएं इस विषय में राग आसा में गुरु नानक ने अपना मत व्यक्त किया है कि परमात्मा ही मेरे पिण्ड और पत्र्न हैं और कर्तार का सच्चा नाम ही मेरी क्रिया है । इहलोक तथा परलोक में यही मेरा आधार है । प्रभु-स्तुति ही गंगा और बनारस के तीर्थ हैं और आत्मा में रमण करना ही सच्चा स्नान है । श्राद्ध में देवताओं एवं पितरों के लिए पिण्ड-दान किया जाता है । पिण्ड बनाने के उपरान्त ब्राह्मण

---

1. नानक अगै सो मिलै जि खटे घाले देइ । - आसा म॰१, वार,गु॰ना॰र॰302
2. मंदाचंगा आपणा आपे ही कीता पावणा । - आसा म॰१,वार, गु॰ना॰र॰ 296
3. आपण हथी आपणा आपे ही काज सवारीऐ । -आसा म॰१,वार, गु॰ना॰र॰ 308
4. दीवा मेरा एकु नामु दुखु विचि पाइआ तेलु ।
   उन चानणि ओहु सोखिआ चूका जम सिउ मेलु ।। - आसा म॰१,पदे, गु॰ना॰र॰ 220

भोजन करते हैं, परन्तु जो ईश्वर-कृपा का पिण्ड है वह कभी समाप्त नहीं होता।[1]

श्राद्ध में कौओं के लिए भी बलि दी जाती है । गुरु नानक इस प्रकार की बलि प्रदान करने वालों को "मनमुख" (मन के पीछे चलने वाले) कहते हैं । जीव जो इस संसार में आया था, चला गया, उसका नाम भी समाप्त हो गया । बाद में लोग श्राद्धान्न खाने के लिए पत्तलों पर कौए बुलाते हैं । ऐसे लोगों का जगत् के साथ अन्धा प्यार होता है और वे गुरु की शरण में न जाने के कारण इसी में डूब जाते हैं ।[2] श्राद्ध के विषय में ऐसा ही मत भक्त कबीर का है । गउड़ी राग में उन्होंने लिखा है कि जीवित पितरों को तो कोई मानता नहीं, परन्तु मरने के पीछे श्राद्ध करवाते हैं । इस पर व्यंग्य करते हुए भक्त कबीर कहते हैं कि इस प्रकार दिया गया दान बेचारे पितरों को कहाँ प्राप्त होगा, इसको तो कौए और कुत्ते ही खा जाते हैं ।[3]

श्राद्ध श्रद्धापूर्वक किया जाने वाला कृत्य है । वैदिक काल में इस का सही रूप पाया जाता था । कालान्तर में इसमें कई प्रकार के दोष आ गए । गुरु नानक देव जी के समय इसमें कई प्रकार की विकृतियां घर कर गई थीं । जिनकी गुरु नानक वाणी में आलोचना की गई है । गुरु नानक के समय में लोग सामर्थ्य न होने पर भी श्राद्ध अवश्य करते थे, भले ही उन्हें इसके लिए चोरी ही क्यों न करनी पड़े । गुरु नानक वाणी में उल्लेख है कि इस प्रकार चुराई हुई वस्तु का दान करने पर, यदि आगे (परलोक में) जाकर वह वस्तु पहचान

---

1. पिंडु पतलि मेरी केसउ किरिआ सचु नामु करतारु ।
एथै ओथै आगै पाछै एहु मेरा आधारु ॥ 2 ॥
गंग बनारस सिफति तुमारी नावै आतम राउ ।
सचा नावणु तां थीऐ जां अहिनिसि लागै भाउ ॥ 3 ॥
इक लोकी होर छमिछरी ब्राह्मणु वटि पिंडु खाइ ।
नानक पिंडु बखसीस का कबहु निखूटसि नाहि । -आसा म॰१, पदा, गु॰ना॰र॰222

2. आइआ गइआ मुइआ नाउ । पिछै पतलि सदिहु काव ।।
नानक मनमुखि अंधु पिआरु । बाझु गुरू डूबा संसारु ।। -माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰102

3. जीवत पितर न मानै कोऊ मूए सिराध कराही ।
पितर भी बपुरे कहु किउ पावहि कउआ कूकर खाही । - गउड़ी बैरागणि, कबीर, आ॰ग्र॰ 332

ली जाती है तो व्यर्थ में पितरों को चोर घोषित कर दिया जाएगा और दलालों (पुरोहितों) के भी हाथ काट दिए जाएंगे ।[1]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गुरु नानक श्राद्ध में विश्वास नहीं रखते थे । श्राद्ध करने वालों को उन्होंने "मनमुख" कहा । उनकी मान्यता है कि व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में जैसे कर्म किए हैं उन्हीं के अनुरूप उसे भावी जन्म एवं भोग्य पदार्थ प्राप्त होंगे । उसकी मृत्यु के पश्चात् श्राद्ध एवं तर्पण करने से कोई लाभ नहीं हो सकता ।

तीर्थ -

वर्षों से भारत में तीर्थों के प्रति अगाध श्रद्धा बनी रही है । अनेक लोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रतिवर्ष तीर्थों पर जाते हैं और वहाँ नदियों या सरोवरों के जलों में स्नान करते हैं । लोगों का विश्वास है कि तीर्थ पर स्नान करने से पाप दूर हो जाते हैं तथा सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के साथ-साथ मोक्ष भी प्राप्त हो जाती है । लोगों का यह भी विश्वास है कि यदि जीवनकाल में व्यक्ति तीर्थ नहीं कर सका तो मृत्यु के पश्चात् उसकी अस्थियाँ तीर्थों के जलों में छोड़ने से भी उसको स्वर्ग प्राप्त हो सकता है । अतः तीर्थ वे पवित्र स्थान हैं जहाँ धर्म-भाव से लोग पाप दूर करने के लिए जाते हैं । (परन्तु तीर्थों पर जाकर स्नान मात्र करने से पाप दूर नहीं हो जाते)

तीर्थ शब्द तृ धातु से थक् प्रत्यय करने से बनता है जिसका अर्थ है मार्ग, सड़क, नदी में उतरने का स्थान, मन्दिर आदि जो किसी पुण्य कर्म के लिए अर्पित कर दिया गया हो, अध्यापक तथा धर्मोपदेष्टा ।[2] तीर्थ शब्द का अर्थ करते हुए श्री बलदेव नैष्ठिक लिखते हैं "तरन्ति जना दुःखेभ्यो यैस्तानि

---

1. जे मोहाका घरु मुहे धरु मुहि पितरी देइ ।
   अगै वसतु सिआणीऐ पितरी चोर करेइ ।।
   वढीअहि हथि दलाल के मुसफी एह करेइ ।
   नानक अगै सो मिलै जि खटे घाले देइ ।। - आसा म॰१, वार,गु॰ना॰र॰ 302
2. संस्कृत हिन्दी कोश,
   वामन शिवराम आप्टे ।

तीर्थानि" अर्थात् जिन के द्वारा लोग दु:खों से तैर जाते हैं वे तीर्थ हैं। जो डुबो कर मारने वाले हैं उन का नाम तीर्थ नहीं है।[1] इस प्रकार सामान्य दु:खों की क्षणिक निवृति से लेकर महान् दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति कराने वाले भावों को तीर्थ कहा जा सकता है।

ऋग्वेद में तीर्थ शब्द तट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2] ऋग्वेद में यज्ञ के लिए तीर्थ शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में एक ऐसा मन्त्र आया है जिस से ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक काल में भी लोग तीर्थों पर जाया करते थे। मन्त्र में बताया गया है कि उसी प्रकार यज्ञपरायण व्यक्ति यज्ञ द्वारा इन्द्र की वृद्धि करता है और कुटिलगति व्यक्ति मन ही मन सदा चिन्तापरायण रहता है जिस प्रकार तीर्थ मार्ग में सम्मुख स्थित जल तुरन्त लोगों को प्रसन्न करता है और दीर्घ पथ का जल तृषार्त व्यक्ति को निराश करता है।[4] छान्दो० में तीर्थ शब्द शास्त्राज्ञा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[5]

धर्म में विश्वास रखने वाले लगभग सभी देशों में लोग तीर्थों पर जाते हैं। परन्तु भारतवर्ष में इसका प्रचलन बहुत अधिक है। यहाँ विशेष अवसरों पर लोग अलग-अलग तीर्थों पर जाते हैं, क्योंकि शास्त्रों में ऐसे अवसरों के लिए विशेष तीर्थ लिखे गए हैं।

भारत में ग्रहण के समय विशेष तीर्थों पर स्नान करने का विधान है। निर्णय सिन्धु में उल्लेख है कि चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहण में महानदी का अन्य नदियों में विधि से स्नान करे।[6] मेष की संक्रान्ति अर्थात् वैशाख मास में

---

1. तीर्थ-सन्देश, बलदेव नैष्ठिक, पृ०3
2. ऋ० 1०46०8, 1०168०6; 8०72०7; 10०40०13
3. उत न एना पवया पवस्वाऽधिश्रुत श्रवाप्यस्य तीर्थे। - ऋ०9०97०53
4. यज्ञो हिष्मेन्द्रं श्रीः कश्चिदन्धस्तुहुरागश्चिन्मनसा परियन्।
   तीर्थो नाच्छा तातृषाणमोको दीर्घो न सिध्रमा कृणोत्यध्वा ।।-ऋ०1०173०11
5. तीर्थं नाम शास्त्रानुज्ञा विषय:। - छान्दो० 8०15०1 पर शंकर भाष्य
6. निर्णय सिन्धु, प्रथम परिच्छेद, पृ०91

महानदी, तीर्थ, नद, तालाब, झरने, देवताओं की खोदी नदियां अथवा जो मिले उसी जल स्थान में सावधानी से हरि-नाम स्मरण करता हुआ स्नान करे और संकल्प में उसी तीर्थ का नाम ले । नाम का ज्ञान न होने पर विष्णु तीर्थ कहे क्योंकि सब जगह तीर्थों का देवता विष्णु ही है ।[1]

तीर्थों पर सभी व्यक्ति नहीं जा सकते । उस के लिए भी कुछ शर्तें हैं जो उन को पूरा करेगा वही तीर्थ स्नान पर जाने का अधिकारी है, नहीं तो प्रायश्चित करना पड़ता है । तीर्थों पर अग्नि और पत्नि सहित जाने का ही अधिकार है जो पत्नि के बिना तीर्थ में जाता है वह प्रायश्चित का भागी होता है और यज्ञ का अनधिकारी होता है ।[2]

स्कन्द पुराण में लिखा है कि तीर्थ यात्रा को चाहता हुआ पुरुष उपवास करे । गणेश, पितर, विप्र तथा साधु, इनकी यथाशक्ति पूजा करे तथा पारण के अनन्तर नियमों को धारण करके फिर आकर पितरों की पूजा करने से यथोक्त फल का भागी होता है । गौतम का वचन है कि तीर्थ यात्रा के प्रारम्भ में और तीर्थ यात्रा से लौटने पर बहुत घी से वृद्धि श्राद्ध करे ।[3]

तीर्थ में पूर्व आवाहन, फिर मुण्डन और उस के पीछे स्नान आदि, तत: श्राद्ध करे । जिस दिन तीर्थ मिले उस दिन श्राद्ध करे और उस से पहले दिन उपवास करे । देवल का वचन है कि मुण्डन और उपवास सब तीर्थों की विधि है । अशौच में भी तीर्थ, श्राद्ध करे क्योंकि तीर्थ कर्म में सूतक नहीं होता ।[4]

वस्तुत: तीर्थ महापुरुषों के तपोस्थान होते हैं । उन का अभिप्राय यह होता है कि महापुरुषों का इतिहास एवं शिक्षाएं जान कर उन से उत्साह एवं प्रेरणा ली जाए । परन्तु लोग यह सब न करते हुए केवल जल में डुबकी मात्र लगा लेने से ही अपने को पाप रहित एवं मुक्त हुआ समझने लग जाते हैं । गुरु

---

1. निर्णय सिन्धु, द्वितीय परिच्छेद, पृ. 129
2. वही, चतुर्थ परिच्छेद, पृ. 763
3. वही, पृ. 765
4. वही, पृ. 768

नानक ने इस विचारधारा पर टिप्पणी की है -

नावहि धोवहि पूजहि सैला । बिन हरि राते मैलो मैला ।।
- रामकली म॰1, गु॰ना॰र॰ 462

तीर्थों की संख्या -

गुरु नानक देव जी के समय भारत में बहुत से तीर्थ थे जहाँ पर लोग विशेष पर्वों पर स्नान आदि के लिए जाया करते थे । इनकी संख्या गुरु नानक 68 मानते हैं ।[1] गुरु नानक वाणी में उल्लेख है कि गुरु से विमुख होकर लोग अठसठ तीर्थों पर भ्रमण कर विनष्ट होते हैं । इस ढंग से पापों की मल नहीं धुल सकती ।[2] उन का विचार है कि परमात्मा का नाम ही 68 तीर्थ हैं, जो हमारे दु:खों को दूर कर सकता है ।[3] गुरु अर्जुन देव भी तीर्थों की संख्या 68 मानते हैं ।[4]

मनुष्य को चाहिए कि सदैव अच्छे कर्म करे जिससे वह परमात्मा को अच्छा लगे, क्योंकि यदि वह परमात्मा को अच्छा लगता है तो समझो उसने सभी तीर्थ कर लिए वरना पानी में नहाने से कोई लाभ नहीं होगा ।[5] लोग तीर्थों पर स्नान करने तो जाते हैं परन्तु उन के मन में कालुष्य (खोट) होता है और वे शरीर के चोर होते हैं । स्नान करने से उनके शरीर का मल तो उतर जाता है, परन्तु मानसिक मल और भी बढ़ जाता है ।[6] इस प्रकार यदि

1॰ गावनि रतन उपाए तेरे अठसठि तीरथ नाले ।। - जपु जी, आ॰ग्र॰6

2॰ अठसठि तीरथ भरमि विगूचहि किउ मलु धोवै पापै ।। 3 ॥
- मारू॰ म॰1, गु॰ना॰र॰ 562

3॰ अठसठि तीरथ हरिनामु है किलविख काटणहारा ।।
- मारू म॰1, आ॰ग्र॰ 1009

4॰ अठसठि तीरथ जह साध पग धरहि । - रामकली म॰5

5॰ तीरथि नावा जे तिसु भावा विणु भाणे कि नाइ करी । - जपु जी, आ॰ग्र॰2

6॰ नावण चले तीरथी मनि खोटै तनि चोर ।
इक भाउ लथी नातिआ दुइ भा चड़ीअसु होर । - सूही म॰1, वार, आ॰ग्र॰ 789

मन में अभिमान का मल है तो तीर्थों पर स्नान कर के क्या करेगा ।[1] इसका कुछ लाभ नहीं होगा । क्योंकि यदि मन ही पवित्र नहीं तो बाहरी पवित्रता क्यों करते हो ।[2] यह यदि सचमुच दु:खों से छुटकारा पाना है तो मनुष्य को चाहिए कि वह सत्य तीर्थ में निवास करे, हरि के गुण गाए, तथा तत्त्व का विचार कर परमात्मा में लीन हो जाए ।[3] इस प्रकार वह तीनों प्रकार के दु:खों से छुटकारा पा सकता है ।

अब जिज्ञासा होती है कि वह सत्य तीर्थ कौन सा है जिस में स्नान करने से सब प्रकार के दु:खों से छुटकारा मिल सकता है । गुरु नानक वाणी में ऐसे चार तीर्थ माने गए हैं, जिन से मनुष्य को शान्ति प्राप्त हो सकती है और वह दु:खों से छूट सकता है । (1) धर्म (2) आत्मा (3) गुरु (4) प्रभु नाम ।

1. धर्म-तीर्थ -

जैसा कि पहले बताया है कि तीर्थ वही होता है जिससे दु:खों से तैरा जा सके । क्योंकि धर्म के पथ पर चलकर ही मनुष्य त्रिविध दु:खों से छुटकारा पा सकता है, इसलिए धर्म ही तीर्थ है । गुरु नानक वाणी में बताया गया है कि धर्म तीर्थ है और विचार पर्व का स्नान है -

तीरथ धरम वीचार नावण पुरबाणिआ ।[4]

आत्मा तीर्थ -

गुरु नानक देव जी ने अपनी वाणी में आत्मा को भी तीर्थ रूप में स्वीकार किया है । उन का विचार है कि मनुष्य तभी सच्चा और पवित्र हो

---

1. तीरथ नाता किआ करे मन महि मैल गुमानु ।। -सिरीराग म॰१, अस, गु॰ना॰र॰ 78
2. अंतरि मैलु तीरथ भरमीजै ।
   मनु नही सूचा किआ सोच करीजै । - रामकली म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰464
3. सचु तीरथि नावहु हरि गुण गावहु ।
   तत वीचारहु हरि लिव लावहु ।। - मारू म॰१, सो॰ आ॰ग्र॰1030
4. मलार म॰१, वार, आ॰ग्र॰ 1279

सकता है यदि वह आत्मा रूपी तीर्थ में निवास करे । सद्गुरु से पूछकर आत्मा रूपी तीर्थ में बैठ जाए और उसी में शाश्वत निवास करने लगे ।[1] "जपु जी" में भी उन्होंने आन्तरिक तीर्थ में स्नान करने का उपदेश दिया है ।[2]

गुरु तीर्थ -

बृहदारण्यकोपनिषद् में तीर्थ शब्द गुरु अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[3] गुरु नानक देव जी ने भी गुरु को ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ माना है । उन का मत है कि गुरु के समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है और वह भगवान् ही सच्चे गुरु हैं ।[4] तीर्थ पर जाकर स्नान करना होता है, जिसके लिए गुरु नानक बताते हैं कि गुरु ही सर्वोत्तम तीर्थ है और संतोष रूपी सरोवर भी वह गुरु ही है ।[5] इस संतोष रूपी सरोवर में स्नान करने पर पापों की मल उतर सकती है । सारंग की वार में भी उन्होंने संतोष को तीर्थ रूप बताया है ।[6] रामकली राग में वे लिखते हैं कि मेरा मन उस परमात्मा में अनुरक्त हो गया है । उसी में सभी तीर्थ, व्रत और तप आ जाते हैं ।[7] इस प्रकार गुरु नानक परमात्मा को ही अपना गुरु मानते हैं[8] और गुरु को ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ स्वीकार करते हैं ।

---

1. सचु ता परु जाणीऐ जा आतम तीरथि करे निवासु ।
   सतिगुरु नो पुछि कै बहि रहै करे निवासु ।। - आसा म॰१, वार, आ॰ग्र॰ 468
2. अंतर गति तीरथि मलि नाउ ।। - जपु जी, आ॰ग्र॰4
3. बृहद्॰ 6॰2॰7
4. नानक गुर समानि तीरथु नही कोई साचे गुर गोपाला । - आसा म॰१, आ॰ग्र॰437
5. गुर समानि तीरथु नही कोइ ।
   सरु संतोखु, तासु गुरु होइ ।। - प्रभाती म॰१, पदा, आ॰ग्र॰1328
6. सारंग म॰१, वार, आ॰ग्र॰ 1245
7. मनु राता सारंगपाणी ।। तहा तीरथ वरत तप सारे ।
   गुर मिलिआ हरि निसतारे ।। - रामकली म॰१, पदा, आ॰ग्र॰879
8. अपरंपर पारब्रह्मु परमेसरु नानक गुर मिलिआ सोई जीउ ।
   - सोरठ म॰१, पदा, गु॰ना॰र॰ 352

हरि-नाम तीर्थ -

गुरु नानक वाणी में हरि-नाम को भी तीर्थ कहा गया है । मारु राग में ऐसा उल्लेख है कि हरि-नाम ही 68 तीर्थ हैं और वही दु:खों को दूर करने वाला है ।[1] गुरु नानक का मत है कि हरि-नाम ही वास्तविक तीर्थ है । नाम का विचार करना एवं हृदय के अन्दर हरि का ज्ञान होना ही सच्चा तीर्थ है । गुरु द्वारा प्रदत्त सच्चा ज्ञान ही वास्तविक तीर्थ है, यही दस पर्व है और यही "दशहरा" पर्व है । गुरु नानक कहते हैं कि मैं सदैव प्रभु-नाम की ही याचना करता हूँ । हे धरणीधर प्रभु । मुझे हरि नाम प्रदान करो । यह संसार अज्ञानता के कारण रुग्ण हो गया है और नाम ही इसकी औषधि है । सत्य को अपनाए बिना मैल लगती है । गुरु का पवित्र वाक्य (नाम) ही शाश्वत ज्ञान का प्रकाश है यही वास्तविक तीर्थ का स्नान है ।[2]

गुरु नानक वाणी के अनुसार पानी में डुबकी लगा लेना ही तीर्थ नहीं है । अत: तीर्थ वही है जिस से आन्तरिक मल दूर हो तथा हरि-चरणों में मन स्थिर हो । ऐसे तीर्थ से ही संसार-रूपी सागर को पार किया जा सकता है ।

3·3 देववाद का स्वरूप -

संचरणशील सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड का संचालन एक परमसत्ता करती है । जगत् के विभिन्न कार्यों का सम्पादन करने में उसकी विभिन्न शक्तियां अलग-अलग नामों से काम करती हैं जो मूलत: उसी का भेद हैं । इन्हीं शक्तियों को देवता मानकर वेदों में उन्हें यज्ञ सम्पादन के लिए चुन लिया गया । उस महाशक्ति से प्रस्फुटित इन विविध शक्तियों के अनेक नाम हैं । वस्तुत: इन सभी नामों के

1· मारु म·1, अस·आ·ग्र· 1009

2· तीरथि नावणु जाउ तीरथ नामु है । तीरथु सबद बिचारु अंतरि गिआनु है।।
गुर गिआनु साचा थानु तीरथु दस पुरब सदा दसाहरा ।
हउ नामु हरि का सदा जाचउ देहु प्रभ धरणी धरा ।।
संसारु रोगी नामु दारु मैलु लागे सच बिना ।
गुरवाकु निरमलु सदा चानणु नित साचु तीरथु मजना ।।
- धनासरी म·1, छंत, गु·ना·र· 376

द्वारा परमात्मा का ही स्तुतिगान किया जाता है ।

वैदिक देवताओं का निम्नलिखित विभागों में विभाजन किया गया है -

1) द्यु स्थानीय देवता - द्यौ, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषा, विष्णु, उषा, अश्विन्, विवस्वान् और आदित्यगण ।

2) अन्तरिक्ष स्थानीय देवता - इन्द्र, अपां नपात्, वायु, पर्जन्य तथा अज एकपाद् ।

3) पृथ्वी स्थानीय देवता - अग्नि, सोम, पृथ्वी, बृहस्पति, नदियां एवं समुद्र ।

4) भावात्मक देवता - मन्यु, श्रद्धा, काल तथा प्राण ।

इसके अतिरिक्त विश्वकर्मा तथा त्वष्टा भी देवकोटि में आते हैं ।

वैदिक साहित्य में देवताओं की संख्या 33 मानी गई है । देवताओं की इतनी ही संख्या ऋग्वेद को मान्य है ।[1] कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता (1·4·104) में भी देवताओं की संख्या 33 मानी है । यजुर्वेद (14·31) में "त्रयस्त्रिंश-तास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्" कह कर स्पष्ट ही तैंतीस देवता माने गए हैं । अथर्व वेद को भी यही संख्या मान्य है ।[2]

ऋग्वेद में देवताओं को भूलोक, द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक में निवास करने वाले बताया गया है ।[3] अथर्ववेद में भी देवताओं का तीन भागों में विभाजन किया गया है ।[4] इन में से ग्यारह द्युलोक में, ग्यारह अन्तरिक्ष में और ग्यारह भूलोक में निवास करते हैं ।[5]

ब्राह्मण साहित्य में भी देवताओं की संख्या 33 मानी गई है । शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि कुल 33 देवता हैं ।[6] इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण[7] में भी

1· ऋ· 1·34·11; 1·45·2; 3·6·9; 8·35·3; 8·39·9; 8·28·1; 8·30·2; 9·63·2; 10·55·3

2· यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः । - अथर्व· 10·7·13

3· शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः । - ऋ· 7·35·11
ये पार्थिवासो दिव्यासो अप्सु ये ।। - ऋ· 10·65·9

4· ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसश्च ये चेमे भूम्यामधि । - अथर्व·10·9· 12

5· ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ ।
अप्सु क्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ।। -ऋ·1·139·11

6· शत·ब्रा· 4·5·7·2

7· ऐ·ब्रा· 2·28

देवताओं की संख्या 33 मानी गई है जिन में ।। प्रयाजदेव ।। अनुयाजदेव और ग्यारह उपयाज देव हैं । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह-आदित्य, इन्द्र और प्रजापति सम्मिल कर कुल 33 देवता माने जाते हैं ।[1]

ऋग्वेद में एक मन्त्र ऐसा भी आया है जिस में देवताओं की संख्या 3339 बताई गई है । वहाँ वर्णन आता है कि 3339 देवताओं ने अग्नि की सेवा की । अग्नि को उन्होंने घृत से अभिषिक्त किया । उसके लिए कुश बिछा दिया और उन्हें होता के रूप में यज्ञ में बैठा दिया ।[2]

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी 33 देवता माने गए हैं । जो शतपथ ब्राह्मण की तरह 8 वसु, ।। रुद्र, 12 आदित्य इन्द्र और प्रजापति हैं ।[3] इन में अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक और नक्षत्रगण ये वसु हैं । इन में सारा वसने योग्य संसार आश्रित है, इसलिए ये वसु हैं ।[4] दस प्राण और ग्यारहवां आत्मा, ये एकादश रुद्र हैं । ये रुद्र जब मरणशील शरीर से बाहर जाते हैं तो मृत मनुष्य के बन्धुओं को रुलाते हैं । जो रुलाते हैं इसीकारण रुद्र हैं ।[5] बारह मास ही आदित्य हैं । वे आदित्य जो सारे जगत् को क्षय की ओर लिए हुए जाते हैं, इसी कारण आदित्य कहे गए हैं ।[6] गर्जने वाला बादल ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है ।[7]

वेदों में पाई जाने वाली देवताओं की स्तुति में एक यह विशिष्टता है कि वैदिक ऋषि जिस देवता की स्तुति करता है, उसे ही सर्वोत्कृष्ट कहता है,

---

1. अष्टौ वसव एकादश रुद्र द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ।। - शत॰ ।।॰6॰3॰5
2. त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् । औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ।। - ऋ॰ 3॰9॰9; 10॰52॰6
3. बृहदा॰ 3॰9॰2
4. वही, 3॰9॰3
5. वही, 3॰9॰4
6. वही, 3॰9॰5
7. वही, 3॰9॰6

कहीं अग्नि को पूर्ण देव माना गया है तो कहीं इन्द्र का पूर्ण प्रभुत्व स्वीकार किया गया है । कहीं वरुण को सर्वोतम माना गया है तो कहीं रुद्र का ईश्वरत्व प्रकट किया गया है । कहीं मित्र और सविता के गीत गाए जाते हैं तो कहीं पूषा के । कहीं पर विष्णु को ही तीनों लोकों का आराधक माना गया है । यह सब होते हुए भी वैदिक ऋषि इन सभी शक्तियों के पीछे एक अज्ञात शक्तिमती सत्ता को स्वीकार करते थे । सारे जगत् को एक ईश्वर रचित मानकर उसकी अन्तिम एकता को मानते थे । विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ प्रजापति एवं अदिति ये सभी एक ईश्वर के ही नामान्तर हैं । ऋग्वेद में ही विराट पुरुष के यज्ञ से सृष्टि का उत्पन्न होना[1] अथवा असत् से सत् रूप में आना[2] स्वीकार किया गया है । ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से विभिन्न देवताओं के रूप में एक परमेश्वर तत्त्व का उल्लेख मिलता है । विप्र लोग उस एक ईश्वर को ही विभिन्न नामों से पुकारते हैं । वे इस एक को ही अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि नामों से अभिहित करते हैं ।[3] सर्वप्रथम एक ही देव उत्पन्न हुआ ।[4] मेधावी कवि एक ही सुपर्ण को अनेक प्रकार से कल्पना करते हैं ।[5] वास्तव में अदिति ही आकाश अन्तरिक्ष, माता, पिता और समस्त देव हैं । अदिति पंचजन हैं और अदिति ही जन्म और मृत्यु का कारण है ।[6] इसी प्रकार दशम मण्डल में हिरण्यगर्भ को ही संसार का सर्वप्रथम जनक, सर्वशक्तिमान् तथा सम्पूर्ण देवों का एक मात्र अधिष्ठाता कहा गया है -

---

1. ऋ॰ 10·90·5

2. ऋ॰ 10·129·4

3. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
   एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।
   - ऋ॰ 1·164·46

4. एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ।
   - अथर्व॰ 10·8·28

5. सुपर्ण विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
   - ऋ॰ 10·114·5

6. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
   विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।।
   - ऋ॰ 1·89·10

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।।- ऋ॰।०।121।०।

प्रजापति भी देवों के ऊपर एक देव ही नहीं अपितु वे अपने पदार्थगत को अपने अधीन किए हुए हैं ।[1] इस प्रकार सब नामधारी देवताओं का उसी को आधार कहा गया है । उसे ही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, जल तथा प्रजापति कहा गया ।[2] उसे ही अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य और महायम कहा जाता है ।[3] वेदों की इन्हीं धारणाओं के अनुसार ही यास्क मुनि ने "महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते" कहा है ।[4]

वेदों का यह एकेश्वरवाद का सिद्धान्त पौराणिक काल में फिर ढीला पड़ गया और मध्यकाल में गुरु नानक देव जी के प्रादुर्भाव के समय तक यह अत्यधिक शिथिल पड़ गया । लोग अपना अलग-अलग देव मानने लगे । वे अपने देव को श्रेष्ठ मानते तथा दूसरे देव को निकृष्ट । एक देवता के उपासक दूसरे का विरोध करते । इस से देश की अखण्डता भंग होने लगी, जिसका लाभ उठाकर विदेशियों ने भारत पर आक्रमण किए ।

ऐसे समय में गुरु नानक देव जी ने फिर से लोगों को वेदों के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का उपदेश दिया । उन्होंने देवताओं का विरोध तो नहीं किया प्रत्युत इन देवी देवताओं को परमात्मा के सम्मुख अशक्य एवं इनके सामर्थ्य एवं वरदानों को परमात्मा के समक्ष तुच्छ माना । उन्होंने अपनी वाणी में शक्ति-पूजा या देव-पूजा को कोई विशेष महत्व नहीं दिया बल्कि इन्हें व्यर्थ कर्म कहा । उन्होंने शाखाओं (देवों) को सींचने की अपेक्षा मूल (परमात्मा) को सींचना श्रेयस्कर समझा । उनके मतानुसार ये सभी देव उस परमात्मा के अधीन हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसके द्वार पर खड़े होकर "अलख" "अपार" परमात्मा की

1॰ ऋ॰ 10॰121॰8; 10॰121॰10

2॰ तदेवाग्निः तदादित्यः तद्वायुः तदु चन्द्रमाः ।
तदेवशुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।। - यजु॰ 32॰1

3॰ सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।
सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ।। - अथर्व॰13॰4॰4

4॰ निरु॰ दैवत काण्ड, 7॰1

सेवा करते हैं । और कितनी ही शक्तियाँ उसके दरवाजे पर विलखती हुई दिखाई पड़ती है, उनकी गणना मुझे नहीं आ सकती ।[1] ये सभी देव उस के दरबार में उस (प्रभु) का स्तुतिगान करते हैं -

गावहि तुहनो पउणु पानी बैसंतरु गावै राजा धरमु दुआरै ।
गावहि चितुगुपतु लिखि जाणहि लिखि लिखि धरमु वीचारै ।।
गावहि ईसरु बरमा देवी देवी सोहनि सदा सवारै ।
गवहि इंद इंदासणि बैठे देवतिआ दरि नालै ।। - जपुजी, गु॰ना॰र॰16

ब्रह्मा, शंकर तथा इन्द्रादि देवता उस प्रभु का ही वर्णन करते हैं ।[2] शंकर ब्रह्मा, इन्द्र दूसरे सभी देवी देवता उस परमात्मा की ही सेवा में रत हैं ।[3] ये सभी परमात्मा के "हुक्म" में रहते हैं ।[4] वायु, जल तथा आकाश आदि सभी उसी के हुक्म के अन्तर्गत है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र तथा दूसरे देव एवं ऋषि मुनियों में से जो भी उस परमात्मा के हुक्म को मानता है, वह उसके दरबार में शोभा पाता है । जो उसका हुक्म नहीं मानने वाले (बाकी-आकी) हैं वे अहंकारवश फूल-फूल कर (अत्यन्त दु:खी होकर) मरते हैं -

ब्रह्मा विसनु रिखी मुनि संकरु इंदु तपै भेखारी ।
मानै हुकमु सोहै दरु साचै आकी मरहि अफारी ।। - मारु म॰1, पदा॰ गु॰ना॰र॰ 546

देवताओं की संख्या के विषय में भी गुरु नानक वाणी में वर्णन आया है । जैसा पहले बताया गया है, वैदिक साहित्य में 33 देवता ही मुख्यत: माने गए हैं । या फिर अधिक से अधिक 3339 देवताओं का उल्लेख है । परन्तु गुरु नानक

---

1. ब्रह्मा विसन महेसु दुआरै ।
उभे सेवहि अलख अपारै ।
होर केती दरि दीसै विललादी मै गणत न आवै काई हे ।।
- मारु म॰1, गु॰ना॰र॰ 574
2. जपुजी, गु॰ना॰र॰ 14
3. ईसरु ब्रह्मा देवी देवा । इंद्र तपे मुनि तेरी सेवा ।। - मारु म॰1, सो॰ गु॰ना॰र॰600
4. हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ ।
- जपुजी, गु॰ना॰र॰ 2
5. हुकमै पउण पाणी गैणारं । - मारु म॰1, सो॰ गु॰ना॰र॰ 604

देव ने देवताओं की संख्या 33 करोड़ मानी है जो पुराणों पर आधारित है । उन का कथन है कि उसी परमात्मा ने जल, वायु, अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु और महेश के आकार रचे हैं । हे प्रभु । तू अकेला ही दाता है और सब तेरे याचक हैं । तैंतीस करोड़ देवता भी तेरे से याचना करते हैं, परन्तु दान करते-करते तेरे भण्डार में कमी नहीं आती -

पवणु पाणी अगनि तिनि कीआ ब्रह्मा बिसनु महेस अकार ।
सरबे जाचिक तूं प्रभु दाता दाति करे अपुने वीचार ।
कोटि तेतीस जाचहि प्रभ नाइक दे दे तोटि नाही भंडार ।।

- गूजरी म॰।, अस॰ गु॰ना॰र॰ 314

जब मनुष्य धर्म खण्ड की अवस्था को जान जाता है तब उसे वास्तविकता का अनुभव होता है कि परमात्मा के बनाए हुए कितने ही जल, वायु, वैश्वानर, कृष्ण, महेश, ब्रह्म, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य तथा और कितने ही देवीं देवता हैं तथा कितने ही मण्डल एवं देश है ।[1]

गुरु नानक देव जी देवताओं को परमात्मा के आश्रित मानते हैं ।[2] उनके मतानुसार ये सभी मायावी (मायी) परमात्मा की ही शक्तियाँ हैं और उसी के हुक्म से काम करते हैं । इनका तो सामर्थ्य इतना भी नहीं है कि वे उस परमात्मा को देख भी सकें ।[3] ये सभी उस परमात्मा के भय से ही कार्य संलग्न हैं ।[4] ईश्वर के भय से ही अपने कार्यों में प्रवृत्त हैं -

भै विचि पवणु वहै सद वाउ । भै विचि चालहि लख दरीआउ ।।
भै विचि अगनि कढै वेगारि । भै विचि धरती दबी भारि ।।
भै विचि इंदु फिरै सिर भारि । भै विचि राजा धरम दुआरु ।।
भै विचि सूरजु भै विचि चंदु । कोह करोड़ी चलत न अंत ।।
भै विचि सिध बुध सुर नाथ । भै विचि आडाणे आकास ।।

- आसा॰ म॰।, वार, गु॰ना॰र॰ 278

---

1. जपु जी, पउड़ी 35, गु॰ना॰र॰ 20
2. माइआ मोहे देवी सभि देवा ।
   काल न छोडै बिनु गुर सेवा ।। - गउड़ी म॰।, आ॰ग्र॰ 227
3. जपु जी, पउड़ी 30, गु॰ना॰र॰ 18
4. पउण पाणी बैसंतर डरपै डरपै इंद्र बिचारा ।। - मारू म॰5, आ॰ग्र॰998

गुरु नानक देव जी का यह विचार कठोपनिषद् तथा तैत्तिरीयोपनिषद् के उन मन्त्रों से साम्य रखता है जिन में यह बताया गया है कि परमात्मा के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है। इसी के भय से इन्द्र, वायु और पांचवें मृत्यु अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त हो रहे हैं।[1]

गुरु नानक वाणी में केवल एक परमात्मा की ही स्थिर सत्ता स्वीकार की गई है। उसके सिवा दूसरा कोई भी देव अमर नहीं है, या उसकी सत्ता ही नहीं मानी गई है।[2] ब्रह्मा, विष्णु और महेश इस लिए श्रेष्ठ हैं कि इन्होंने प्रभु-नाम का विचार किया है तथा उस में अनुरक्त हो गए हैं।[3] नाम श्रवण के द्वारा ही ब्रह्मा, शिव और इन्द्र ने ये पद प्राप्त किए हैं।[4]

गुरु नानक वाणी में देवताओं को काल के अधीन माना गया है। यहाँ तक कि ब्रह्मा भी जिस से सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाती है, काल के अधीन है।[5]

इस प्रकार गुरु नानक देवताओं को उस परमात्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियां मानते हैं। देवताओं की अपनी शक्ति परमात्मा के समक्ष तुच्छ है। परमात्मा ही इन सब का नियन्ता है। उसी ने इन को उत्पन्न किया तथा इनके आकार बनाए। ये सभी उसके हुक्म से अपने-अपने कार्य में संलग्न रहते हैं। उसी के नाम-स्मरण तथा नाम-श्रवण से इन में श्रेष्ठता आई है। गुरु नानक देव जी का देववाद विषयक दृष्टिकोण न वैदिक एवं पौराणिक विचारधारा के स्थान में एकेश्वरवाद की स्थापना है।

---

1. भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
   भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।। - कठो॰ 2·3·3
   भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
   भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। - तै॰उ॰2·8
2. ब्रह्मा बिसनु महेसु न कोई।
   अवरु न दीसै एको सोई ।। मारु म॰1, सो॰गु॰ना॰र॰ 602
3. ब्रह्मा बिसनु महेस सरेसट नामि रते वीचारी। - मारु म॰1, पदा, गु॰ना॰र॰ 564
4. सुणिऐ ईसरु बरमा इंदु ।। - जपु जी, गु॰ना॰र॰ 6
5. प्रथमे ब्रह्मा काले धरि आइआ ।। - गउड़ी म॰1, आ॰ग्र॰ 227

3·4 यज्ञवाद -

इस से पूर्व हम देववाद का स्वरूप जान चुके हैं । वेदों में जो भी देव माने गए हैं उनको प्रसन्न कर उनका वर या उनकी सहायता प्राप्त करने के लिए वैदिक काल में यज्ञ किए जाते थे । यज्ञ शब्द का अर्थ है देव-पूजा । डा· पी·वी· काणे के मतानुसार "याग" (यज्ञ) में द्रव्य, देवता एवं त्याग, तीन वस्तुएँ मुख्य हैं । अत: याग का तात्पर्य है देवता के लिए द्रव्य का त्याग । किसी देवता के लिए यज्ञ में आहुति प्रदान करना होम कहलाता है ।[1] पं राम गोविन्द त्रिवेदी ने यज्ञ का अर्थ पूजा, उपासना तथा परोपकार किया है ।[2] संक्षेपत: देवताओं को प्रसन्न करने के लिए की गई पूजा या द्रव्य-दान ही यज्ञ कहलाता है ।

यज्ञ का मुख्य कर्म हवन है । हवन में विशेष मन्त्रोच्चारण के साथ देवता के लिए द्रव्य की आहुति दी जाती है । मन्त्र चार प्रकार के होते हैं ।(1) ऋक् ये मात्रिक होते हैं ।(2) यजुष् - ये मात्रा या छन्दबद्ध तो नहीं होते परन्तु अपने आप में पूर्ण वाक्य होते हैं ।[3] (3) साम - इन का गायन होता है । (4) निगद - इन का पर्याय प्रैष भी है । प्रैष ऐसे शब्द होते हैं जिन के द्वारा किसी को कार्य करने के लिए सम्बोधित किया जाता है जैसे "प्रोक्षणीरासादय" "स्रुव: सम्मृड्ढि"[4] । निगद और यजुष् में अन्तर केवल इतना होता है कि यजुष् का उच्चारण धीरे से होता है तथा निगद का जोर से ।[5]

भारतीय परम्परा वेदों की तरह यज्ञ को भी अनादि मानती है । इस चराचर जगत् की सृष्टि भी स्वयं स्रष्टा द्वारा किए गए यज्ञ से मानी गई है । ऋग्वेद में स्पष्ट कथन है कि यज्ञ से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है ।[6] गीता के अनुसार

1· धर्म शास्त्र का इतिहास, वही, पृ·512

2· वैदिक साहित्य, पं· राम गोविन्द त्रिवेदी, पृ·35

3· ऋचो यजूंषि सामानि निगदा मन्त्रा: ॥ । ॥ तेषां वाक्यं निराकाङ्क्षम्॥ 2 - का·सू· 1·3·1,2

4· का·सू· 2·6·26

5· उपांशु प्रयोग: श्रुते: ॥ 10 ॥ न सम्प्रेषा: ॥ का·सू· 1·3·10,11

6· ऋ· 10·90·8, 9

परमेश्वर ने सर्वप्रथम यज्ञ और प्रजा की सृष्टि की थी ।[1]

शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि यज्ञ करने से मनुष्य समस्त पापों से छूट जाता है ।[2] यहाँ तक कि अश्वमेध के अनुष्ठान से तो ब्रह्महत्या के महापातक से भी छुटकारा मिल सकता है ।[3] इस लोक में भी कल्याणकारी बल की प्राप्ति यज्ञ से होती है ।[4] यज्ञ के द्वारा ही मनुष्य सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर सकता है ।[5]

यजुर्वेद में यज्ञ को विश्व को धारण करने वाला बताया गया है ।[6] इसका कारण यह है कि अग्नि में डाली गई हवि वायु में मिल कर अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाती है । सूर्य के तेज से यही हवि मेघमण्डल में मिलकर वर्षा करवाती है । वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा की रक्षा होती है । इस प्रकार ये यज्ञ विश्व को धारण करते हैं । दूसरा इस हवि से वायु शुद्ध होती है । हवि से देवता प्रसन्न होते हैं तथा प्रसन्न हुए देव लोगों का कल्याण करते हैं ।

मुख्य रूप से यज्ञों के दो भेद माने जाते हैं । श्रौत यज्ञ तथा गृह्य यज्ञ । इनका वर्णन मुख्यत: सूत्र ग्रन्थों में हुआ है । श्रौत यज्ञों का अधिकारी वही मनुष्य होता है जो यथाविधि दीक्षित हो, परन्तु गृह्य यज्ञ केवल उपनीत होने पर भी किया जा सकता है ।

श्रौत याग के आगे दो भाग किए गए हैं - सोमयज्ञ तथा हविर्यज्ञ । गृह्ययज्ञ को पाक यज्ञ कहा जाता है । ये तीनों नैमित्तिक यज्ञ माने जाते हैं । इन तीनों के भी आगे सात-सात भेद हैं । सोमयज्ञ के अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम । हविर्यज्ञ - अग्निहोत्र,

---

1. गीता· 3·10
2. शत·ब्रा· 2·3·1·6
3. शत·ब्रा· 13·5·8·1
4. ऋ· 4·10·2
5. समिधा यस्त आहुतिं निशितिं मर्त्यो नशत् ।
   वयावन्तं स पुष्यति क्षयमग्ने शतायुषम् ।। - ऋ· 6·2·5
6. यजु· 17·68

दर्शपौर्णमास, आग्रायण, चातुर्मास्य, पशुबन्ध और सौक्तमणि । पाक्यज्ञ-औपासनहोत्र, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिकश्राद्ध, श्रवणा तथा शूलगव ।[1] इस प्रकार यज्ञ के कुल इक्कीस भेद किए गए हैं ।

यज्ञ करने के लिए तीन अग्नियाँ होती हैं । यज्ञ के लगभग सभी प्रमुख कार्य गार्हपत्याग्नि में किए जाते हैं किन्तु हवि का पकाना शाखानुसार आहवनीय में भी किया जा सकता है । होम भी अधिकतर आहवनीय में किया जाता है । विशिष्ट वस्तु के नाम-निर्देश के अभाव में होम घी से किया जाता है ।

यज्ञ सम्पादन करने के लिए कम से कम चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है । ऋग्वेद के मन्त्रों से किए जाने वाले कृत्य होता करता है । हस्त कार्य तथा यजुर्वेद के मन्त्रों से किए जाने वाले कृत्य अध्वर्यु करता है । उद्गाता सामवेद के मन्त्रों का गायन करता है । ब्रह्मा यज्ञ का अधीक्षक होता है । पहले-पहल यह यज्ञ विधान संक्षिप्त था परन्तु ब्राह्मण युग में इसने बहुत विस्तृत रूप धारण कर लिया । यज्ञ में सोलह ऋत्विजों की उपस्थिति होने लगी । इन के साथ कुछ सेवक भी होते थे ।

यज्ञ में पशुबलि तथा कर्मकाण्डीय यज्ञ विधान में अनेक प्रकार के आडम्बरों के कारण कौत्स आदि कुछ वेद विरोधी मत भी उठ खड़े हुए । उपनिषदों में भी इसकी प्रतिक्रिया हुई । लोगों ने इस बात को सोचना शुरु किया कि क्या पशुवध से ही मानव कल्याण हो सकता है । फिर यज्ञ करते समय भी बहुत सतर्कता रखनी पड़ती है । यज्ञ में थोड़ी सी गलती भी यजमान को हानि पहुँचा सकती है । बिना अर्थ को जाने किए जाने वाले ये कर्मकाण्डीय अनुष्ठान राख में डाली गई आहुति की तरह व्यर्थ हो जाते हैं ।[2] अज्ञानी और हठी अनुष्ठाता का मस्तक तक कट कर गिर सकता है ।[3]

---

1. गौतम धर्मसूत्र, 8.18
2. स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात् ।। - छान्दो. 5.24.1
3. छान्दो. 1.8.6; 1.10.11

मुण्डकोपनिषद् में अठारह चप्पुओं वाली इस यज्ञ रूपी नौका को अदृढ़ बताया गया है और उपासना रहित इन सकाम कर्मों को नीची श्रेणी के बताया गया है । इन के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । और तो और यह यज्ञरूपी नौका तो वर्तमान दु:ख रूपी छोटी सी नदी को पार कर स्वर्ग तक भी नहीं पहुँचा सकती । क्योंकि यज्ञ के किसी भी अंग में कमी रहने पर उसका फल नहीं प्राप्त होता । परन्तु इस रहस्य को न समझ कर जो मूर्ख लोग इन सकाम कर्मों को ही कल्याण का उपाय समझते हैं और इनका अभिनन्दन करते हैं वे बार-बार वृद्धावस्था और मरण के दु:ख को भोगते हैं ।[1]

गीता के तृतीय अध्याय में भगवान् श्री कृष्ण ने एक आध्यात्मिक यज्ञ की कल्पना की है जिसका मूल वे कर्म को मानते हैं । उन के मतानुसार जो व्यक्ति कर्म-चक्र का पालन नहीं करता वह पापी है ।

गुरु नानक वाणी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुरु नानक के समय में भी कुछ यज्ञ होते रहे होंगे । किन्तु उपनिषदों की भान्ति गुरु नानक यज्ञ को मोक्ष प्राप्ति के लिए समर्थ नहीं मानते । उस समय लोगों की यह धारणा थी कि देवताओं का स्वभाव मांस खाना है इसलिए वे गैंडा आदि पशुओं को मार कर हवन तथा यज्ञ किया करते थे । कुछ व्यक्ति मांस भक्षण नहीं करते थे तथा उस के समीप नाक पकड़ कर बैठते थे ताकि उन्हें मांस की दुर्गन्ध न आए । परन्तु वे चोरी छिपे लोगों की खून-पसीने की कमाई हड़प कर जाते थे । गुरु नानक इन्हें "माणसखाणे" (नरभक्षी) कहते हैं ।[2] गुरु नानक ने इस प्रकार के यज्ञों का डट कर विरोध किया तथा इस के स्थान में आध्यात्मिक यज्ञ करने का आदेश दिया जिस में तृष्णा तथा सभी प्रकार के स्वार्थों को काम एवं क्रोध की अग्नि में जला कर समाप्त कर दिया जाता है तथा शुद्ध मन से

---

1. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
   एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।।
   - मुण्ड० १.२.७

2. मलार म०१, वार, श्लोक १९, गु०ना०र० 738

हरि नाम स्मरण किया जाता है ।[1]

गुरु नानक का मत है कि यज्ञ, होम, पुण्य, तप, पूजा आदि करने से शरीर दु:खी ही रहता है, मन को शान्ति नहीं प्राप्त होती । अतएव नित्य दु:ख सहन करना पड़ता है । मुक्ति तो केवल राम-नाम स्मरण से ही प्राप्त होगी और वह मुक्ति-दायक नाम गुरु की आज्ञा में चलने वाले को प्राप्त होता है ।[2]

गुरु नानक की दृष्टि में "नाम" का बहुत ऊँचा स्थान है । यज्ञ आदि कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों का नाम के समक्ष कोई मूल्य नहीं । उन्होंने स्पष्ट कहा है कि चाहे मेरे शरीर को एक-एक रत्ती के समान भार के टुकड़े करके हवन किया जाए, प्रतिदिन अग्नि प्रज्वलित करके तन और मन की समिधा की जाए और इसी प्रकार लाखों, करोड़ों कर्म किए जाएँ तो भी हरि नाम के तुल्य नहीं पहुँच सकते ।[3] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि गुरु नानक कर्म-काण्ड युक्त इस यज्ञ-विधान में विश्वास नहीं रखते ।

3·5 आचार धर्म -

आचार शब्द आ उपसर्ग पूर्वक चर धातु से घञ् प्रत्यय करने पर बनता है जिसका अर्थ व्यापार, चरित्र या शील किया जा सकता है । जिस मनुष्य का

1· साद करि समधा त्रिसना घिउ तेलु ।
कामु क्रोधु अगनी तिउ मेलु ।।
होम जग अरु पाठ पुराण ।
जो तिस भावै सो परवाण ।। - मलार म·1, गु·ना·र· 706

2· जगन होम पुंन तप पूजा देह दुखी नित दुख सहै ।
रामनाम बिन मुकति न पावस मुकति नाम गुरमुख लहै । - भैरउ म·1, गु·ना·र· 648

3· तनु बैसतरि होमिऐ इक रती तोलि कटाइ ।
तनु मनु समधा जे करी अनदिनु अगनि जलाइ ।।
हरि नामै तुलि न पुजई जे लख कोटी करम कमाइ ।।
- सिरीराग म·1, गु·ना·र· 80-82

स्वभाव अच्छा हो, व्यवहार अच्छा हो, जो सच्चरित्रवान् हो और नैतिक कर्त्तव्यों को समझने वाला हो, उसे सदाचारी कहते हैं, इसके विपरीत, दुराचारी । अच्छे गुणों या धर्म का आचरण करना ही मनुष्य का मनुष्यत्व है ।

धर्म का स्वरूप तथा उस के विविध तत्त्वों को केवल जान लेना ही धर्म नहीं है बल्कि उन तत्त्वों के अनुसार आचरण करना या उन्हें अपने जीवन में आत्मसात कर लेना भी आवश्यक माना गया है । कई बार ऐसे होता है कि व्यक्ति धर्म के स्वरूप एवं तत्त्वों से भलीभान्ति परिचित होता है परन्तु संस्कारों की मलिनता के कारण वह उन पर आचरण नहीं कर पाता । परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि इन तत्त्वों का ज्ञान न होने पर भी संस्कारों की सुहृदता के कारण उनका जीवन ही अपने आप में धर्म होता है, क्योंकि किसी व्यक्ति के आचरण से ही उसके धर्मी या अधर्मी होने का अनुमान लगाया जा सकता है । धर्मात्मा वही है जो धर्म के स्वरूप एवं उसके तत्त्वों को जानता है तथा उनके अनुरूप आचरण या जीवन-यापन करता है । इस प्रकार धर्म के स्वरूप एवं तत्त्वों को जान लेने की अपेक्षा उस पर आचरण करने से ही सच्चे सुख और नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है ।[1]

धर्म जीने का एक ढंग है, एक जीवन-पद्धति है जो मनुष्य को जीना सिखाती है । इसे ईश्वर ही बनाता है और मनुष्यों को इसके अनुरूप आचरण का आदेश देता है ।[2] यह आदेश ईश्वर के गुण, कर्म, प्रत्यक्षादि प्रमाण एवं आप्तों से जाना जाता है, या किसी अवतार, धर्म-गुरु या पैग़म्बरों के द्वारा ईश्वर लोगों तक पहुँचाता है । जो मनुष्य इस प्रकार बताए गए आचार के अनुरूप चलकर लोगों को लाभ तथा सुख पहुँचाता है, वही सदाचारी है । इस से ज्ञात होता है कि धर्म, जीवन में कर्म-काण्ड तथा पूजा-पाठ की अपेक्षा धर्माचरण को अधिक महत्व देता है । इसीलिए शुरु से ही मानव संस्कृति के विन्यास में सदाचार का बहुत महत्व रहा है ।

---

1. करि आचारु सच सुखु होई ।।
   - रामकली म॰१, दखणी ओंअंकार, आ॰ग्र॰ 93।
2. द्रष्टव्य अध्याय 3॰१ "धर्म का स्वरूप" ।

ऋत -

वैदिक धर्म का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य है ऋत की अवधारणा का विकास । वैदिक आचार पद्धति में ऋत को सर्वोत्तम तत्व माना जाता था । इस चराचर जगत् में जितनी भी क्रियाएँ हो रही हैं वह किसी विशेष प्राकृतिक नियम के अन्तर्गत हो रही है । इन सभी क्रियाओं को निर्बाध रूप से चलते रखने वाले तत्व को ऋत कहते है । जंगम तथा स्थावर लोक की सृष्टि, रक्षण एवं लय का नियामक ऋत ही है । दिन-रात, सूर्यचन्द्र, गर्मी-सर्दी तथा जल-वायु आदि सभी प्राकृतिक शक्तियाँ ऋत के अनुरूप ही अपने-अपने कार्यों में रत हैं । ऋत ही वह तत्व है जो प्रकृति के सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार में सन्तुलन बनाए हुए है तथा उन्हें निर्बाध गति से संचालित किए हुए है । संक्षेप में ऋत सृष्टि के नियमों की सत्ता या विश्व की एक-सूत्रता का नाम है ।

इस प्रकार विश्व में जितनी भी व्यवस्था है, वह ऋत के ही कारण है । ऋत से सूर्य सायंकाल अपनी किरणों को समेटता है और ऋत से ही किरण समूह को विस्तारित करता है ।[1] ऋग्वेद में ऋत की देवता के रूप में स्तुति की गई है । ऋत देव के पास बहुत जल है, ऋत का आचरण पापों को नष्ट करता है । ऋत देव के स्तुति वाक्य बधिर लोगों के कर्णों में भी प्रवेश पा जाते हैं ।[2] वपुष्मान ऋत के दृढ़, धारक, आह्लादक आदि अनेक रूप हैं । लोग ऋत के निकट प्रभूत अन्न की इच्छा करते हैं । ऋत द्वारा गौएं दक्षिणा रूप से यज्ञ में प्रवेश करती हैं ।[3]

ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् ब्रह्मचारी ने गृहस्थ में प्रवेश करना होता है । उस समय आचार्य उसे कुछ शिक्षाएँ देकर उनके अनुरूप आचरण करने का उपदेश देता है । यह शिक्षाएँ ही वैदिक आचार का आधार है । उन में से कतिपय प्रमुख शिक्षाओं का वर्णन यहाँ किया जा रहा है ।

---

1. ऋतेन देव: सविता शमायत ऋतस्य शृंगमुर्विया वि प्रथे ।
   ऋतं सासाह महि चित् पृतन्यतो मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम् ।।
   - ऋ. 8.86.5

2. ऋ. 4.23.8

3. ऋ. 4.23.9

सत्यंवद -

मनुष्य को प्रथम शिक्षा सत्य बोलने की दी जाती है । वैदिक युग में सत्य का बहुत महत्व था । गुरु नानक देव जी के मतानुसार भी सत्य से सब कुछ नीचे है ।[1] इसलिए सत्य को जीवन का अभिन्न अंग बना कर आचार में लाना चाहिए ।

धर्माचरण -

धर्म के ज्ञान से धर्म का आचरण श्रेष्ठ माना गया है । धर्म का मार्ग बहुत कठिन मार्ग है । कई बार मनुष्य स्वयं तो धर्म के मार्ग पर चलता है परन्तु अधर्म का विरोध नहीं कर पाता, या दूसरों द्वारा विरोध के फलस्वरूप विवश होकर धर्म को ही त्याग बैठता है । यह गलत बात है । मनुष्य को जहां स्वयं धर्म के मार्ग पर चलना है वहां अधर्म का विरोध भी करना है । क्योंकि अत्याचार करना ही पाप नहीं प्रत्युत् अत्याचार सहन करना भी पाप है । अत: धार्मिक व्यक्ति में साहस और वीरता होनी परमावश्यक है ताकि वह अधर्म का डट कर विरोध कर सके । धर्म के मार्ग पर चलने वाले को किसी भी समय धर्म-रक्षा हेतु जान पर खेलना पड़ सकता है । इसीलिए गुरु नानक देव जी ने कहा था कि यदि तुम्हें प्रेम का खेल खेलने का चाव है तो अपना सिर हथेली पर रख कर मेरी गली में आओ -

जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ ।
सिरु धरि तली गली मेरी आउ ।।
इत मारगि पैरु धरीजै ।।
सिरु दीजै काणि न कीजै ।।[2] - सलोक वारां ते वधीक,
गु•ना•र• 782

धर्म के मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य कई बार भटक भी जाता है और

1• विस्तार के लिए द्रष्टव्य अध्याय 3•2 "धर्म के विविध तत्व" ।

2• गुरु नानक द्वारा बनाए गए इन सिद्धान्तों के आधार पर ही गुरु गोविन्द सिंह ने खालसा पंथ की स्थापना की तथा दीक्षा के समय सिक्ख को शस्त्र प्रदान किए ताकि वह अपने धर्म की रक्षा कर सके ।

निर्णय नहीं कर पाता कि आगे जाऊँ या पीछे । पीछे मुड़ता है तो सांसारिक भय से भयभीत होता है, आगे जाता है तो तृष्णा रूपी अग्नि का तालाब है । गुरु नानक देव जी के मतानुसार मनुष्य को ऐसी स्थिति में गुरु की शिक्षा का सहारा लेना चाहिए ।[1]

यही बात तैत्तिरीयोपनिषद् में कही गई है कि धर्म का आचरण करते हुए यदि तुम को किसी अवसर पर अपना कर्त्तव्य निश्चित करने में दुविधा उत्पन्न हो जाए, किसी एक निश्चय पर पहुँचना कठिन हो जाए तो ऐसी स्थिति में जो कोई उत्तम विचार रखने वाला, उत्तम परामर्श देने में कुशल, सत्कर्म और सदाचार में तत्परतापूर्वक लगे हुए तथा धर्म पालन की इच्छा रखने वाले विद्वान् ब्राह्मण या महापुरुष ऐसे प्रसंगों पर जिस प्रकार का आचरण करते हों उसी प्रकार का आचरण तुम्हें करना चाहिए ।[2]

पाप न करना -

पाप और पुण्य का विचार धर्माचरण एक आवश्यक अंग है । जिस कार्य को करने से पुण्य माना जाता है वह धर्म है और जिसके करने से पाप होता है वह अधर्म है । दूसरों को सुख देना पुण्य है और कष्ट देना पाप । वेदों एवं गुरु नानक वाणी में पाप कर्मों का ~~xxx~~ निषेध किया गया है । पाप का फल बुरा (नरक) होता है । अथर्ववेद में पाप को सम्बोधित करके कहा गया है कि हे मेरे मन के पाप । दूर चला जा क्यों तू बुरी बातों को कहता है ।

---

1. रे मन डीग न डोलीऐ सीधै मारगि धाउ ।
   पाछै बाघु डरावणो आगे अगनि तलाउ ।।
   सहसै जीअरा परि रहिओ माकउ अवरु न ढंगु ।
   नानक गुरमुखि छूटीऐ हरि प्रीतम सिउ संगु । -सलोक वारां ते वधीक, गु॰ना॰रू॰ 778
2. अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । - तै॰उ॰ ।॰।।

चला जा मैं तुझे नहीं चाहता । वृक्षों और वनों में विचर, मेरा मन गौओं तथा घर में लगा है ।[1] हे पाप तू मुझे छोड़ दे, वशी हुआ तू हमारी ओर दयावान हो, मुझे बिना हानि पहुँचाए भलाई के लोक में स्थापन कर ।[2] इस प्रकार इन मन्त्रों में पाप से बचने के लिए उसे अपने से दूर चले जाने को कहा गया है ।

गुरु नानक वाणी में भी पाप को बुरा कहा गया है, फिर भी पापी मनुष्य इससे प्यार करते हैं । वे पाप का बोझ उठाते हैं और व्यापार में उसी का विस्तार करते हैं । परन्तु जो मनुष्य पाप को त्यागकर अत्याचार को पहचान लेता है उसे शोक वियोग एवं सन्ताप नहीं होता ।[3] इसलिए मनुष्य को पाप से डरना चाहिए क्योंकि पाप से डरने की भावना ही मनुष्य को सदाचारी बना देती है ।

इसके अतिरिक्त गुरु नानक वाणी में शुभ कर्मों के करने पर बल दिया गया है । साधक से कहा गया है कि इस शरीर को धरती तथा शुभ कर्मों को बीज बनाओ । मन ही किसान हो और हरि-रूपी फसल को हृदय में उगा (जमा) लो, इस प्रकार तुम निर्माण पद प्राप्त कर लोगे -

इहु तनु धरती बीजु करमा करो सलिल आपाउ सारिंगपाणी ।
मनु किरसाणु हरि रिदै जंमाइले इउ पावसि पदु निरबाणी ।

- सिरीराग म॰१, पदा॰ गु॰ना॰र॰ 48

इसके अतिरिक्त गुरु नानक वाणी में हक की कमाई, संतोष, विचार, दया, धर्म, धीरज, परोपकार, दान, संयम, क्षमा, निर्धनता, निर्वैरता, निर्भयता,

---

1॰ परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः । -अथर्व॰ 6॰45॰1

2॰ अव मा पाप्मन्तसृज वशी सन् मृड्यासि नः ।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविह्रुतम् ।। - अथर्व॰ 6॰26॰1

3॰ पापु बुरा पापी कउ पिआरा । पापि लदे पापे पासारा ।।
परहरि पापु पछाणै आपु । न तिसु सोगु विजोगु संतापु ।।

- रामकली म॰१, दखणी ओअंकार, आ॰ग्र॰935

प्रेम-भाव, सहनशीलता, ज्ञान तथा कर्म करना आदि गुणों को आचार में लाने पर बल दिया गया है । इन सभी गुणों को आचार में लाने पर ही मनुष्य का जीवन सफल हो सकता है । गुरु नानक देव जी के मतानुसार उसी मनुष्य का जीवन सफल हो सकता है जो शरीर के प्रति विचारवान् और शुभ आचार वाला हो[1] अर्थात् जिस में विद्या और आचरण दोनों ही हों । अकेली विद्या का भी आचरण के बिना कोई लाभ नहीं होता । विद्या उसी का लाभ होता है जिसे आचार में लाया जाए क्योंकि क्रिया के बिना ज्ञान भी भारस्वरूप होता है ।

3·6 वर्णाश्रम धर्म -

भारत में हिन्दु समाज का वर्णों में विभाजन अत्यन्त प्राचीनकाल से है । चार वर्ण एवं चार आश्रमों की व्यवस्था पर ही हिन्दु धर्म की इमारत अवलम्बित है । समाज को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित करने के लिए वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति हुई । व्यक्ति के जीवन को संयमित, नियमित एवं गतिशील बनाने के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था की गई । इसी कारण हज़ारों वर्षों से यह धर्म एवं जाति जीवित है ।

ऋग्वेद में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय शब्द अनेक बार प्रयोग किए गए हैं किन्तु वर्ण शब्द का उन के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है । ऋग्वेद में पुरुष सूक्त को छोड़ कर वैश्य और शूद्र शब्द का प्रयोग और कहीं नहीं हुआ । पुरुष सूक्त, जिसे अनेक विद्वान् बाद में जोड़ा गया मानते हैं, चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख करता है । वहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुख है या मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय भुजा से बनाया गया, वैश्य जंघाओं से तथा शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए ।[2] इस प्रकार ऋग्वैदिक काल में ही समाज को चार वर्णों में विभक्त कर दिया गया था । परन्तु इस काल में ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि

1· धनासरी म·1, अस· गु·ना·र· 376

2· ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।। - ऋ· 10·90·2

जन्म से नहीं माने जाते थे । ऋग्वेद में एक कहानी ऐसी आई है जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय के कर्मों में कोई विशेष अन्तर नहीं था । ऋष्टिषेण के पुत्र देवापी ने अग्रज होकर भी राजा बनना न चाहा । तब अनुज शन्तनु राजा बना । इस से शन्तनु के राज्य में 12 वर्ष तक वर्षा न हुई, जिसके फलस्वरूप उसके राज्य में अकाल पड़ गया । फिर देवापी ने यज्ञ किया जिससे वर्षा हो गई । इस कथा से स्पष्ट होता है कि एक ही पिता के दो पुत्र क्षात्र धर्म एवं ब्रह्म धर्म का पालन कर सकते थे अर्थात् एक राजा और दूसरा पुरोहित हो सकता था ।[1] ऋग्वेद में ही एक स्तुति कर्त्ता कवि कहता है कि मैं स्तुतिकर्त्ता हूँ । मेरी माँ चक्की में आटा पीसती है, पिता वैद्य है, इस प्रकार हम लोग विविध क्रियाओं द्वारा धनोपार्जन करना चाहते हैं ।[2] ऋग्वेद में ही एक कवि इन्द्र से प्रश्न करता है कि क्या तुम मुझे लोगों का रक्षक बनाओगे या राजा । क्या तुम मुझे ऋषि बनाओगे या अनन्त धन दोगे ।[3] स्पष्ट है कि उस समय एक ही व्यक्ति अपने कर्म के द्वारा रक्षक या राजा, ऋषि एवं धनवान् कुछ भी बन सकता था । इस से ज्ञात होता है कि उस समय तक समाज के तीन भाग हो गए थे; रक्षक अर्थात् क्षत्रिय, ऋषि अर्थात् ब्राह्मण, धनवान अर्थात् वैश्य ।

यजुर्वेद के समय तक समाज चार भागों में विभक्त हो चुका था । यजुर्वेद (30·5) में चारों वर्णों के कर्तव्य भी गिनाए गए हैं । वहाँ बताया गया है कि ब्राह्मण को ब्रह्म कृत्य, क्षत्रिय को वीर कर्म, वैश्य को व्यापार एवं शूद्र को सेवा करना ही उचित है । ब्राह्मण का मुख्य कार्य विद्याध्ययन है । वैदिक काल में विद्या या ज्ञान की प्राप्ति के लिए व्रत, प्रायश्चित एवं तप आदि आवश्यक समझे जाते थे । इसी से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती थी ।[4] इसी से ऋषियों को अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त होता था ।[5] आत्मज्ञान से ही विप्र श्रेष्ठ माना जाता था ।[6]

1· द्रष्टव्य निरुक्त, 2·10

2· कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव ।। -ऋ·9·112·3

3· ऋ· 3·44·5

4· ऋ· 10·190·1

5· ऋ· 1·136·2-5

6· ऋ· 4·26·1

भगवद्गीता में चारों वर्णों के कर्तव्यों का विभाजन त्रिगुणात्मक स्वभाव के आधार पर किया गया है । शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, सरलता, भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान यह ब्राह्मण का स्वभाव है । शौर्य, तेज़, धैर्य, व्यवस्था-बुद्धि, युद्ध में पीठ न दिखाना, दान और शासन-क्षमता ये क्षत्रिय के स्वाभाविक गुण हैं । कृषि, गोपालन, वाणिज्य - ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं । शूद्र का स्वाभाविक धर्म सेवा करना है । इस प्रकार अपने-अपने स्वाभाविक धर्म का अनुसरण करके ही मनुष्य अपने जीवन को सफल बना सकता है ।[1]

प्रारम्भ में यह वर्ण व्यवस्था कर्म के अनुसार थी और साथ ही इसमें किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं था । कोई भी मनुष्य अपनी आवश्यकता एवं रुचि के अनुसार पुरोहित, सैनिक, व्यापारी, शिल्पी एवं कृषक आदि का काम कर जीविकोपार्जन कर सकता था । उस समय जन्म से पेशे का कोई सम्बन्ध नहीं था । परन्तु कालान्तर में ये नियम कठोर कर दिए गए और कर्मानुसार किए गए विभाग आगे चलकर जन्म से ही माने जाने लगे । ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणयन के समय वर्ण व्यवस्था अत्यधिक सुदृढ़ हो गई थी । यहाँ तक कि देवताओं में भी वर्ण विभाजन हो गया था । अग्नि ब्राह्मण थे, इन्द्र वरुण एवं यम क्षत्रिय, मरुत्, वसु, रुद्र एवं विश्वदेव वैश्य थे और पूषा शूद्र था ।[2] और तो और उस समय तो छन्दों का भी विभाजन कर दिया गया था । ऐतरेय ब्राह्मण में गायत्री को ब्राह्मण, त्रिष्टुप को क्षत्रिय एवं जगती को वैश्य माना गया है ।[3]

इस प्रकार वैदिक ऋषियों द्वारा कर्म के आधार पर प्रतिष्ठित वर्ण

---

1. भगवद्गीता, 18·41 से 45
2. ब्रह्माग्निः - शत· 1·3·3·19
   ब्रह्म वा अग्निः क्षत्रमिन्द्रः - शत· 2·5·4·8
   क्षत्रं वै वरुणो विशो मरुतः । - शत· 2·5·2·6
   क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः । - शत· 2·5·2·27
3. ऐत· ब्रा· 1·28

व्यवस्था सुदृढ़ से सुदृढ़तर होती गई । जन्म से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र समझा जाने लगा । "जन्म से सभी शूद्र, संस्कार से द्विज, वेदाभ्यास से विप्र एवं ब्रह्म ज्ञान से ब्राह्मण"[1] वाला सिद्धान्त समाप्त हो गया । जातिवाद की सीमाएं इतनी कठोर कर दी गईं कि अलग-अलग जाति के लोगों के लिए अलग-अलग नियम बनाए गए मनुस्मृति में भी ऐसा उल्लेख है कि किस जाति के मनुष्य को किस तरह का दण्ड दिया जाए । वहाँ एक ही अपराध करने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों को अलग-अलग प्रकार का दण्ड देने का विधान है ।[2] शूद्र को यज्ञ तथा विद्याध्ययन आदि का अधिकार न रहा जिस से वह समाज से कट कर रह गया ।वैसे यजुर्वेद के समय में ही शूद्र को नीच एवं अपवित्र समझा जाता था । तभी तो यज्ञ के उपकरणों को प्रयोग करने से पहले जल से पवित्र किया जाता था, क्योंकि इनको बनाते समय तक्षान आदि के स्पर्श से ये अपवित्र हो गए थे ।[3] इस प्रकार शूद्र को अपवित्र समझा जाने लगा । शूद्र में भले ही कितने गुण हों, कितनी विद्वता और महानता हो परन्तु समाज में नीच से नीच ब्राह्मण का स्थान भी उस से ऊपर होता था । आगे से आगे यह व्यवस्था बद से बदतर होती गई और गुरु नानक देव जी के समय तक विकटतम रूप धारण कर गई ।

गुरु नानक वाणी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में चारों वर्णों की सत्ता वर्तमान थी ।[ए] गुरु नानक वाणी में वर्ण-धर्म का उल्लेख किया गया है तथा साथ में वर्णों के कर्त्तव्यों का भी वर्णन किया गया है -

जोग सबदं गिआन सबदं बेद सबदं ब्राह्मणह ।
खत्री सबदं सूर सबदं सूद्र सबदं पराकृतह ।
सरब सबदं एक सबदं जेको जाणै भेउ ।।[4]

---

1. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते ।
वेदाभ्यासाद्भवेद्विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ।।
2. मनु॰ 8॰337-38
3. यजु॰ 1॰13
ए. खत्री ब्राहमणु सूदु कि वैसु । रामकली म॰1, पदा, आ॰ग्र॰ 878
4. सलोक सहसकृति म॰1, गु॰ना॰र॰ 774

अर्थात् योगियों का धर्म ज्ञान प्राप्ति तथा ब्राह्मणों का धर्म वेदोक्त रीतियां हैं । क्षत्रियों का धर्म वीरता तथा शूद्रों का धर्म पर-सेवा है । परन्तु यदि कोई धर्म को समझ ले तो सभी धर्म एक ही हैं । क्योंकि एक परमात्मा ही देवताओं का देवता है तथा उसी से सभी आत्माएं पैदा होती हैं । उस की कोई जाति नहीं है[1] तो फिर उसके बनाए मनुष्यों की जातियां एवं वर्ण किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करने के लिए अलग-अलग तरह के भेष बनाता है, परन्तु मालिक सभी का एक ही है । इस प्रकार भक्तों की जाति किस तरह हो सकती है ।[2] जो भी परमात्मा के नाम का जाप करेगा, उसे ही मोक्ष प्राप्त हो जाएगी ।[3] क्षत्रिय, ब्राह्मण, शूद्र एवं वैश्य तो एक ओर रहे नाम स्मरण से तो चाण्डालों का भी उद्धार हो जाता है ।[4] इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र एवं वैश्य चार वर्ण हैं, ये चारों वर्ण समान हैं । इन में कोई भी ऊंचा या नीचा नहीं है । इन में से जो भी भगवान् का ध्यान करेगा वही प्रधान माना जाएगा ।[5] गुरु नानक देव जी का मत है कि उच्च कुल में जन्म मात्र से ही कोई उच्च नहीं हो जाता बल्कि उच्चारण से उच्च होता है । उनके अनुसार ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म का चिन्तन

---

1. एकम एकंकार निराला । अमर अजोनी जाति न जाता ।।
   - बिलावल म॰1, आ॰ग्र॰ 838
2. खलड़ी खपरी लकड़ी चमड़ी सिखा सूत धोती कीनी ।
   तूं साहिब हउ सांगी तेरा प्रण वै नानक जाति कैसी ।।
   - आसा म॰1, पदा॰गु॰ना॰र॰ 222
3. जो जो जपे तिस की गति होय ।
   - गउड़ी सुखमनी म॰5
4. खत्री ब्राहमण सूद वैस उधरे सिमर चंडाला । - थिति गउड़ी म॰5
5. ब्राहमण खत्री सूद वैस चार वरण चार आश्रम हहि जो धिआवहि सो परधान।
   - गोंड म॰4

करता है तथा जिसका स्नान ही ब्राह्म को जानना है ।[1]

शास्त्रों में ब्राह्मण को भूदेव कहा गया है तथा इसे पूज्य बताया गया है । गुरु नानक देव भी ब्राह्मण को पूज्य ही मानते हैं परन्तु उस का स्वरूप निम्न प्रकार का होना चाहिए -

सो ब्राह्मणु जो बिंदे ब्रहमु । जपु तपु संजमु कमावै करमु ।
सील संतोख का रखै धरमु । बंधनु तोड़े होवै मुकतु ।
सोई ब्रहमणु पूजण जुगतु ॥ 16 ॥[2]

इसी प्रकार क्षत्रिय भी वही है जो कर्मों का शूरवीर है । वह अपने जीवन को पुण्य-दान करने वाला बना लेता है और सुपात्र को ही दान देता है । ऐसा क्षत्रिय परमात्मा के दरबार में प्रामाणिक समझा जाता है ।[3]

गुरु नानक देव जी का मत है कि सभी प्राणियों में एक ही परमात्मा की ज्योति है,[4] इसलिए कोई भी उत्तम अथवा नीच नहीं है[5] सभी एक समान ही हैं । उन की दृष्टि में चारों वर्णों के लोग उच्च हैं, उन्हें कोई भी नीच नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि एक ही ईश्वर ने सभी प्राणियों को बनाया है और एक ही प्रकाश तीनों लोकों में समाया हुआ है ।[6]

गुरु नानक देव जी ने अपने जीवन में सदैव समाज में नीच समझे जाने वाले

---

1. ब्रहमणं ब्रहम गिआन इसनानी,
हरि गुण पूजे प्रानी । - मारु म॰1, आ॰ग्र॰ 992
ब्रह्म बिंदे सो ब्राहमणु होई । - राग भैरउ म॰3, आ॰ग्र॰ 1129

2. सलोक वारां तों वधीक, म॰1, आ॰ग्र॰ 1411

3. वही

4. सभ महि जोति जोति है सोइ ।। धनासरी म॰1, आरती, आ॰ग्र॰663
तुलना - ईशावास्यमिदं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । - यजु॰ 40॰1

5. नानक उतमु नीचु न कोइ ।। - जपुजी, पउड़ी, 33

6. सबको ऊंचा आखीए नीच न दीसै कोइ ।
इकने भांडे साजिऐ इकु चानणु तिहु लोइ ।। - सिरीराग म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰ 82

लोगों का साथ दिया[1] और वे अपने को भी नीच ही कहलवाते थे।[2] क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि जो भी मनुष्य प्रेमा-भक्ति करके अपने को नीच घोषित करेगा वही मोक्ष पद को प्राप्त करेगा।[3]

गुरु नानक देव जी की दृष्टि में नीच जाति उसी की है जो परमात्मा को भूल जाता है। उन के मतानुसार नाम के बिना सभी की जाति घटिया है।[4] सब से ऊँचा और पवित्र व्यक्ति वही है जिसके हृदय में भगवान् का निवास है।[5] इस प्रकार जाति और सम्मान उस परमात्मा के नाम में ही है।[6] जो नाम स्मरण करे वह ऊँचा है, जो उसे भुला दे वह नीच है।

वर्ण एवं जाति में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जाति में जन्म एवं वंश पर अधिक बल दिया जाता है, जबकि वर्ण में व्यक्ति के गुण, कर्म एवं आचार पर विशेष ध्यान दिया जाता है। वैदिक साहित्य के पश्चात् दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयोग होने लग गए। गुरु नानक वाणी में अधिकतर जाति शब्द एक ही अर्थ में का प्रयोग हुआ है।

गुरु नानक देव जी का मत है कि किसी से भी उस की जाति नहीं पूछनी चाहिए, केवल सच्चे घर की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। कोई व्यक्ति जैसे कर्म करता है वैसी ही उस की जाति एवं प्रतिष्ठा है।[13] जाति

---

1. नीचा अंदरि नीच जाति नीची हू अति नीचु।
   नानकु तिन कै संग साथि, वडिआ सिउ किआ रीस।। - सिरी राग म॰१, आ॰ग्र॰15
2. हउ ढाढीका नीच जाति होर उतम जाति सदाइदे।। - आसा म॰१, वार, आ॰ग्र॰468
3. भाउ भगति करि नीचु सदाए।
   तउ नानक मांरवंतर पाए।। "-आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰294
4. खसमु विसारहि ते कमजाति।
   नानक नावै बाझु सनाति।। आसा म॰१, गु॰ना॰र॰194
   विन नावै सभ नीच जाति है बिसटा का कीड़ा होइ।। आसा म॰3, आ॰ग्र॰ 476
5. ओहु सब ते ऊँचा सब ते सूचा जाँके हृदय बसै भगवान।।-गोंड म॰4
6. जाति पति सभ तेरै नाइ।। - बसंत म॰१, अस॰ आ॰ग्र॰।189
7. जाति जनमु मत पूछीऐ साचु धरु लेहु बताइ।
   सा जाति सा पति है जेहे करम कमाइ।। - प्रभाती म॰१, पदा॰ आ॰ग्र॰ 1330

व्यवस्था तो अज्ञान के कारण स्थापित की गई है । सभी जीवों पर एक ही परमात्मा की छाया है फिर जाति का नाम कैसा रहा ।[1] जाति के हाथ में कुछ भी नहीं है सदा सत्य की ही परीक्षा होती है, जो विष या माहुर खाएगा, वह चाहे किसी भी जाति का हो मारा जाएगा ।[2] न ही आगे (परमात्मा के दरबार में) जाति का कोई जोर है, आगे सभी जीव नए ही होंगे ।[3] इस लिए गुरु के द्वारा शब्द (नाम) प्राप्त करके उसका विचार करना चाहिए, ऐसा करने से जाति, वर्ण एवं कुल का भ्रम दूर हो जाता है ।[4] परन्तु संसार में ऐसे लोग बहुत कम हैं जिन्होंने परीक्षा कर हरि नाम रूपी निधि को प्राप्त कर लिया है । ऐसे लोग जाति एवं वर्ण से ऊपर उठ जाते हैं तथा ममता एवं लोभ को भी समाप्त कर लेते हैं ।[5]

इस प्रकार गुरु नानक देव जी ने जातिवाद की बुराइयों का डट कर विरोध किया । उन का मत है कि जैसा भी कोई व्यक्ति काम करता है, उसकी उसी प्रकार की जाति होती है, जन्म से सभी समान हैं । परमात्मा को भूल जाने वाले मनुष्य की नीच जाति होती है, उसको याद करने वाला उच्च एवं प्रतिष्ठित होता है । मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति की जाति उसके साथ नहीं जाती और न ही परमात्मा के दरबार में उसकी कोई सहायता करती है । वहाँ तो जीव को गुणों से प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ।

आश्रम धर्म -

जैसा कि पहले ही बताया गया है, व्यक्ति के जीवन को संयमित, नियमित एवं गतिशील बनाने के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था की गई । अत:

---

1. फकड़ जाती फकड़ु नाउ । सभना जीआ इका छाउ ।।
   - सिरी राग म॰१, वार, आ॰ग्र॰ 83
2. जाति दै किआ हथि सचु परखीऐ ।
   महुरा होवै हथि मरीऐ चखीऐ ।। - वार माझ म॰१, आ॰ग्र॰142
3. वार आसा म॰१, आदि ग्रन्थ 469
4. जाति वरन कुल सहसा चूका गुरमति सबदि वीचारी ।
   - सारंग म॰१, पदा, आ॰ग्र॰ ।।98
5. प्रभाती म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰ 768

आश्रम का सिद्धान्त व्यक्ति के लिए था जबकि वर्ण का सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज के लिए था । वर्ण सिद्धान्त का कार्य है कि वह व्यक्ति को समाज के सदस्य के रूप में उसके अधिकारों, कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों के प्रतिजागरूक रखे । व्यक्ति का परम लक्ष्य क्या है, उसे प्राप्त करने के लिए क्या क्या तैयारियाँ करनी हैं तथा किस ढंग से जीवन-यापन करना है, यह सब कुछ आश्रम सिद्धान्त ही बताता है । भले ही वर्तमान युग में इसका विशेष महत्व नहीं रहा परन्तु प्राचीनकाल में आश्रम सिद्धान्त की उच्च धारणा को बहुत महत्व प्राप्त था ।

आश्रम व्यवस्था का सूत्र वैदिक काल से ही प्राप्त होता है । भले ही आश्रम शब्द संहिताओं या ब्राह्मण ग्रन्थों में न पाया जाता हो । ऋग्वेद (10·109·5) तथा अथर्ववेद (1·17·5) में ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग हुआ है । इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के समय तक ब्रह्मचर्य नामक जीवन-भाग प्रसिद्ध था । ऋग्वेद में अग्नि को "हमारे गृह का गृहपति" कहा गया है ।[1] जिससे गृहस्थाश्रम की ओर संकेत मिलता है । वानप्रस्थ के विषय में कोई स्पष्ट संकेत वैदिक संहिताओं में उपलब्ध नहीं है । संन्यासी का पर्यायवाची शब्द - "यति" ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है ।[2]

ऋग्वेद में मुनि शब्द का भी वर्णन हुआ है । वहाँ बताया गया है कि वातरसन वंशज मुनि लोग पीले (या गन्दे) वस्त्र पहनते हैं । वे देवत्व प्राप्त करके वायु की गति के अनुगामी हुए हैं ।[3] मुनि लोग आकाश में उड़ सकते हैं और सभी वस्तुओं को देख सकते हैं । वे सभी देवताओं के प्रिय बन्धु हैं वे सत्कर्म के लिए जीते हैं ।[4] वे वायु मार्ग पर घूम सकते हैं तथा वायु के सहचर हैं ।[5] अतः स्पष्ट है कि वैदिक काल में भी मुनि लोग थे जो सत्कर्म करते हुए ध्यान में मग्न रहते थे ।

1· ऋ· 2·1·2; 10·85·36

2· ऋ· 8·3·9

3· मुनयो वातरशना: पिशङ्गा वसते मला ।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ।। - ऋ· 10·136·2

4· ऋ· 10·136·4

5· ऋ· 10·136·5

जिससे उन में अलौकिक शक्ति उत्पन्न हो जाती थी परन्तु ये मुनि लोग संन्यासाश्रम-वासी होते थे, इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता ।

आश्रमों के विषय में स्पष्ट वर्णन जाबालोपनिषद् में हुआ है । वहाँ बताया गया है कि ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृही हो जाए, गृहस्थ को समाप्त कर वानप्रस्थ तथा उस के पश्चात् संन्यासी हो जाए । इस उपनिषद के अनुसार चारों आश्रमों को क्रमानुसार अपनाना आवश्यक नहीं है । ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ के बाद भी संन्यास ग्रहण किया जा सकता है ।[1] आश्रमोपनिषद् में भी चार आश्रम माने गए हैं, जिनमें प्रत्येक के आगे चार भेद हैं । प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम है । इसके भेदों में हैं - ।) गायत्र (2) ब्राह्मण (3) प्रजापात्य (4) बृहन् । दूसरा आश्रम गृहस्थ है जिसके भेद हैं (।) वार्ताकवृत्ति (2) शालीनवृत्ति (3) यायावर (4) घोरसंन्यासिक । वानप्रस्थ के भी चार भेद हैं - ।) वैरवानस (2) उदुम्बर (3) बालखिल्य (4) फेनप । चतुर्थ वा अन्तिम आश्रम संन्यास के भी चार भेद हैं - (।) कुटीचर (2) बहूदक (3) हंस (4) परमहंस । इनमें सर्वोत्तम परमहंस है जो जीवन्मुक्त ही होता है ।[2]

।) ब्रह्मचर्य - आश्रम व्यवस्था के अनुसार जीवन को जिन चार भागों में बाँटा गया था उन में जीवन का प्रथम एक चौथाई भाग ब्रह्मचर्याश्रम के रूप में माना जाता था । यह जीवन का आदिकाल होता था जिस का सम्पूर्ण जीवन के लिए ही बहुत महत्व माना जाता था । जीवन रूपी महल के निर्माण के लिए यह नींव का काम देता था । जीवन के इस भाग का मुख्य उद्देश्य ज्ञानोपार्जन था परन्तु अनुशासन एवं संयम का पालन करना भी इसी काल में सीखा जाता था । ब्रह्मचारी के लिए आत्मसंयम और व्रत बहुत महत्वपूर्ण समझे जाते थे क्योंकि इन्हीं के द्वारा वह देवताओं का अंग माना जाता था ।[3]

---

1. ब्रह्मचर्य परिसमाप्य गृही भवेत् गृहीभूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा ।। - जाबालोपनिषद् 4
2. आश्रमोपनिषद्, । से 4 तक
3. ऋ॰ 10·109·5

उपनयन संस्कार के पश्चात् द्विज को गुरु के निकट शिक्षा प्राप्त करने के लिए ले जाया जाता था । वहाँ वह गुरुकुल में रहकर नियमों का पालन करता हुआ विद्या ग्रहण करता था । वहाँ उसका जीवन बहुत ही संयमित और अनुशासन से युक्त होता था । ब्रह्मचारी के अनुशासन के विषय में गोपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि उसे धरातल पर सोना चाहिए, उच्चासन पर नहीं । उसे संगीत, नृत्य एवं परिभ्रमण से दूर रहना चाहिए । उसे ब्रह्म तेज का अभिमान नहीं करना चाहिए और न ही प्रसिद्धि, निद्रा, क्रोध, आत्मश्लाघा, सौन्दर्य एवं सुगन्धि की कामना करनी चाहिए ।[1]

सूत्र ग्रन्थों में ब्रह्मचारी के लिए विशेष प्रकार के वस्त्र, दण्ड एवं मेखला आदि धारण करने का भी विधान है और ऐसा शायद इस लिए किया गया था कि ब्रह्मचारी को भिक्षाटन करना पड़ता था । वह दयालु पुरुषों से भिक्षा माँग कर गुरु को देता था । इसके अतिरिक्त उसे संध्या, आचमन, प्राणायाम, मार्जन, अघमर्षण, अर्घ, उपस्थान आदि क्रियाएँ करते हुए वेद अध्ययन करना पड़ता था । वेदाध्ययन की अवधि बारह वर्ष की थी ।[2] बारह वर्ष के पश्चात् बहुत से शिष्य गुरु के यहाँ से चले जाते थे । परन्तु यह अवधि इससे बढ़ भी सकती थी । तैत्तिरीय ब्राह्मण (3·10·11) के अनुसार भारद्वाज ने 75 वर्ष तक वेदों का अध्ययन किया । वेदों का अध्ययन कर गुरु को दक्षिणा देकर ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था ।

गुरु नानक वाणी में कहीं पर भी ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और न ही ब्रह्मचर्याश्रम के विषय में कुछ बताया गया है । फिर भी ब्रह्मचारी के कर्तव्य संयम, अनुशासन, अध्ययन एवं बुद्धि-विकास आदि गुरु नानक को अमान्य नहीं कहे जा सकते । किन्तु इनकी प्राप्ति के लिए काल नियत करना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा ।

2) गृहस्थाश्रम - आचार्य गण एक ही आश्रम को उत्कृष्ट मानते हैं, वह है गृहस्थाश्रम । वास्तव में यही आश्रम सर्वश्रेष्ठ एवं सभी आश्रमों का आधार है ।

1· गोपथ ब्राह्मण 2·5·7; 2·1·9

2· छान्दो· 4·10·1

यह आश्रम चारों प्रकार के पुरुषार्थों को प्रदान करने वाला है । इस आश्रम का महत्त्व सन्तानोत्पत्ति के कारण भी है । दूसरे आश्रमों में सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा नहीं है । अत: यही आश्रम सृष्टि का आधार है । इस आश्रम ने संसार को कल्याण मार्ग बताने वाले, असत् से सत्, तम से ज्योति: एवं मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने वाले सन्त महात्मा एवं ऋषि दिए । अत: मनु ने ठीक ही कहा है कि जिस प्रकार वायु सभी प्राणियों का आश्रय है उसी प्रकार गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का आधार है ।[1]

वेद का अध्ययन कराने के पश्चात् आचार्य शिष्य को जो शिक्षा देता है उस में दो बातें विशेष ध्यान योग्य हैं । एक तो गुरु की आज्ञा से स्वधर्म का पालन करते हुए सन्तान-परम्परा को सुरक्षित रखना । दूसरा देव-पितृ कार्यों से प्रमाद न करना ।[2] ये दोनों बातें ही ब्रह्मचारी को गृहस्थ में प्रवेश करवाती हैं । क्योंकि बिना विवाह और गृहस्थ के वह प्रजातन्तु को सुरक्षित नहीं रख सकता । दूसरा इसी आश्रम में रह कर ही वह देव और पितृ कार्यों को उचित प्रकार से कर सकता है । इसीलिए इस आश्रम को इतना अधिक महत्व प्रदान किया गया है ।

समावर्तन संस्कार के पश्चात् जब स्नातक लौटता था तो समाज उसका स्वागत करता था ।

सर्वप्रथम स्नातक को गृहिणी की आवश्यकता होती थी क्योंकि गृहिणी के साथ ही गृहस्थ चल सकता था । विवाह के लिए वर और वधु की योग्यता को देखा जाता था । यह योग्यता बाह्य और आभ्यन्तरिक दृष्टि से देखी जाती थी । बाह्य दृष्टि से वर-वधु की अवस्था, शारीरिक सौन्दर्य, पुरुषत्व और नारीत्व तथा आभ्यन्तर दृष्टि से वर वधु के चरित्र, विद्वत्ता एवं कुल आदि की परख होती थी ।[3]

---

1. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव: ।
   तथा गृहस्थं आश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा: ।। - मनु॰ 3॰77
2. आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी: ।....
   देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।। - तै॰उ॰ ।॰।।
3. भारत की संस्कृति-साधना, डा॰ रामजी उपाध्याय, पृ॰155

वर-वधु की योग्यता की परख करने के उपरान्त उन का विवाह कर दिया जाता था । यह संस्कार कन्या-गृह में सम्पन्न होता था । वहीं पर वर अपने इष्ट-मित्र एवं सम्बन्धियों के साथ आ जाता था । वहाँ कन्या के सम्बन्धी स्वादु भोजन से अतिथियों का सत्कार करते थे ।[1] फिर ऋग्वेद की निम्न ऋचा को पढ़ कर वर कन्या का पाणि-ग्रहण करता था ।-

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथास: ।
भगोऽर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवा: ।।[2]

आगे चलकर विवाह की इन विधियों का विस्तार होता गया और सूत्रकाल तक यह विधियाँ अत्यधिक जटिल हो गईं । इसलिए सूत्रकार आश्वलायन ने कहा है कि "विभिन्न प्रदेशों और गांवों में इस संस्कार की विभिन्न रीतियाँ प्रचलित हैं । प्रत्येक मनुष्य अपने देश के आचार को अपनाए । मैं उन्हीं विधियों का उल्लेख करूंगा जो सभी देशों में साधारणत: पाई जाती हैं ।"[3]

विवाह के पश्चात् वर-वधु से कहा जाता कि आप बिना किसी से अलग हुए गृहस्थ आश्रम में रहो । पुत्र पौत्रों के साथ खेलते हुए, आनन्द मनाते हुए अपने ही घर में रहते हुए सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करो ।[4]

इस प्रकार विवाह के साथ ही स्नातक का गृहस्थ जीवन शुरु होता था । गृहस्थ में रहकर ही वह उस समाज का ऋण चुकाने में समर्थ होता था, जिसकी उदारता के बल पर वह विद्यार्थी जीवन में अपने लिए भोजन, वस्त्र और आवास आदि की आवश्यकताओं से निश्चिन्त रहता था । इसीलिए वैदिक काल में गृहस्थों का जीवन सदाचार-निष्ठ था । वह निरन्तर परिश्रम करके अपने उपभोग की सामग्री जुटा लेता था । वह उषा काल से ही काम में जुट जाता था ।[5] ऋग्वेद (10·34·13) में भी मनुष्य को खेती करने, अपने धन को भोगने

1· ऋ· 10·17·1; 4·58·9; अथर्व· 14·2·59
ऋ· 10·85 में सूर्या के विवाह का विशद वर्णन हुआ है ।
2· ऋ· 10·85·36
3· आश्वलायन गृहसूत्र 1·7·1-2
4· इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीड़न्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।। - ऋ· 10·85·42
5· ऋ· 1·48·6

तथा अपने पशु और स्त्री की चिन्ता करने की शिक्षा दी गई है । यज्ञ में देवता से भी प्रार्थना की जाती थी कि वे हमें पर्याप्त अन्न, धन और बहुत से पशु प्रदान करे ।[1] इसके अतिरिक्त गृहस्थ सविता देव से प्रार्थना करता है कि देव । आप सभी पापों को मुझ से दूर रखें जो कुछ कल्याणप्रद हो, उसे मुझे दें ।[2]

गृहस्थ के लिए पांच महायज्ञों का विधान है । गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह नित्य इन यज्ञों का सम्पादन करे । ये पांच महायज्ञ निम्नलिखित हैं -

1) देवयज्ञ - देवताओं का प्रत्येक मनुष्य पर ऋण होता है । अत: देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अग्नि में आहुति दी जाती है । इसे देव यज्ञ कहते हैं ।

2) पितृयज्ञ - पितरों के प्रति भी मनुष्य ऋणी है । उन्हें श्राद्ध एवं तर्पण से तृप्त किया जाता है । श्राद्ध सामग्री के अभाव में जल से तर्पण मात्र भी किया जाता है । इसे पितृ यज्ञ कहते हैं ।

3) भूतयज्ञ - अपने कमाए हुए अन्न में से दूसरे जीवों एवं पक्षिओं को भोजन (बलि) दिया जाना भूतयज्ञ कहलाता है ।

4) मनुष्य यज्ञ - विद्वान् ब्राह्मणों एवं अतिथियों को भोजन कराना ही मनुष्य यज्ञ है ।

5) ब्रह्मयज्ञ - यह ऋषि ऋण है । स्वाध्याय एवं वैदिक ऋचाओं का पाठ करना ब्रह्मयज्ञ है । इसका सम्पादन करने से स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है । मनुष्य चाहे किसी भी स्थिति में हो उसे कुछ न कुछ स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए ।[3]

गुरु नानक वाणी का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि गुरु नानक गृहस्थ आश्रम को ही सर्वोत्कृष्ट मानते थे । उन्होंने स्वयं विवाह करवाया तथा गृहस्थ जीवन व्यतीत किया । उनके सभी अनुयायी भी इसी सामाजिक अनुशासन का पालन करते हैं । गुरु नानक यह जानते थे कि मनमुख व्यक्ति किसी जोश अथवा वैराग्य की क्षणिक लहर में आकर अपना घर त्याग कर नष्ट होता है और फिर

---

1. ऋ॰ 1·16; 1·48; 6·12·6; 7·1·23-24
2. विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव ।
   यद्भद्रं तन्न आसुव ।। - यजु॰ 30·3
3. शत॰ब्रा॰ 11·5·6·1

उदरपूर्ति हेतु दूसरे के घरों की ओर ताकता है । वह एक प्रकार से अपने गृहस्थ धर्म को ही नष्ट कर बैठता है ।[1] वह यति कहलाता है किन्तु वास्तविक यति बनने की युक्ति को नहीं जानता और व्यर्थ में ही गृह-त्याग कर बैठता है ।[2] वह हरि-नाम का जप तो करता नहीं व्यर्थ में ही दिशान्तर भ्रमण करता रहता है । इस प्रकार के पाखण्डी पण्डित, ज्योतिषी, तापसी तथा यति लोगों के व्यर्थ कृत्यों पर गुरु नानक वाणी में प्रकाश डाला गया है तथा इनकी साधना को निरर्थक माना गया है । इन से तो गृहस्थी ही अच्छे हैं जो "गुरमति" में लग कर साधन सम्पन्न होते हैं तथा नाम, दान एवं स्नान की रहनी को दृढ़ कर हरि भक्ति से जग गए हैं ।[3]

गुरु नानक देव जी के मतानुसार परमात्मा को पाने के लिए मनुष्य को घर-द्वार त्याग कर जंगलों में जाने की आवश्यकता नहीं है । वह स्त्री और सन्तान के प्रति अपने कर्त्तव्यों का समुचित निर्वाह करते हुए भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है -

सचि सिमरिऐ होवे परगास ।
ताते विखिआ महि रहै उदास ।
सतिगुर की ऐसी वडिआई ।
पुत्र कलत्र विचे गति पाई ।। - धनासरी म॰१, पदा, आ॰ग्र॰661

मनुष्य को चाहिए कि वह स्वयं जीविकोपार्जन करे तथा उस में से कुछ दूसरों को दान करे तभी वह वास्तविक मार्ग को पहचान सकता है ।[4] जो नाम-स्मरण करते हैं, परिश्रम करते हैं, उन के मुख उज्ज्वल होते हैं, वे स्वयं तो मुक्त होते ही हैं कितने दूसरों को भी मुक्त करा देते हैं -

---

1. मनमुखु लहरि घरु तजि विगूचै अवरा के घर हेरै ।
गृह धरमु गवाए सतिगुरु न भेटै दुरमति घूमन घेरै ।। - मारू म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 562
2. आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 292
3. आसा म॰१, अस॰, गु॰ना॰र॰ 248
4. घालि खाइ किदु हथों देइ ।
नानक राहु पछाणहि सेइ ।। - सारंग म॰१, वार आ॰ग्र॰1245

जिनीं नाम धिआइआ गए मसकति घालि ।

नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि ।। - जपु जी, गु॰ना॰र॰22

गृहस्थी का काम समाज एवं सम्बन्धियों के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करना तथा जीविकोपार्जन करना है तथा साथ-साथ उसे प्रभु नाम स्मरण भी करना है । वास्तविक गृहस्थी वही है जिसने गुरु द्वारा अपने आपको पहचान लिया है । वही सच्चा दास है और वही पूर्ण विरक्त है ।[1] वास्तविक गृहस्थ वही है जो इन्द्रियों का निग्रह करता है । जो परमात्मा से जप, तप, संयम की भिक्षा मांगता है, जो पुण्य एवं दान को अपना शरीर बना लेता है । इस प्रकार का गृही गंगा-जल-सदृश पवित्र होता है -

सो गिरही जो निग्रहु करै । जपु तपु संजमु भीखिआ करै ।
पुंन दान का करै सरीरु । सो गिरही गंगा का नीरु ।।

- रामकली म॰१, वार, आ॰ग्र॰ 952

3§ वानप्रस्थ - यह आश्रम प्राचीन काल में गृहस्थाश्रम के पश्चात् एवं संन्यासाश्रम के पूर्व ग्रहण किया जाता था । ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के पश्चात् जीवन के तृतीय चरण में मनुष्य वानप्रस्थ होता था । वैदिक साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस समय ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ आश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम की भी योजना थी ।

वानप्रस्थ के लिए प्राचीनकाल में "वैखानस" शब्द का प्रयोग होता था । ऋग्वेद §9॰66§ के ऋषि वैखानस हैं और ऋग्वेद §10॰99§ के ऋषि वम्र वैखानस हैं । विद्वान् लोग मानते हैं कि "वैखानस नामक ऋषि ने इस आश्रम के नियमों का उल्लेख सर्वप्रथम किया होगा । इसीलिए उनके नाम से यह आश्रम व्यवस्था वर्णाश्रम धर्म में प्रचलित प्रतीत होती है । वानप्रस्थ नियमों का वर्णन पहले वैखानस शास्त्र में हुआ होगा । इसी कारण गौतम आदि प्राचीन

1॰ सो गिरही सो दासु उदासी जिनि गुरमुखि आपु पछानिआ ।
नानकु कहै अवरु नहीं दूजा साच सबद मन मानिआ ।।

- प्रभाती म॰१, पदा, आ॰ग्र॰ 1332

महर्षि भी वानप्रस्थ के लिए वैखानस शब्द का प्रयोग करते हैं ।"[1]

वैदिक साहित्य में वानप्रस्थ के लिए किसी अवस्था का निर्धारण नहीं किया गया है । इस विषय में मनु का कथन है कि जब गृहस्थ अपने शरीर पर झुर्रियाँ देखे, उसके केश पक जाएं और जब उसके पुत्रों के पुत्र हो जाएं तो उसे वन की राह लेनी चाहिए ।[2]

मनुष्य को गृहत्याग कर वन में क्यों जाना चाहिए, इस विषय में विद्वानों का मत है कि ब्रह्मचर्य की तपोमयवृत्ति और ज्ञान की खोज वानप्रस्थ आश्रम में अक्षुण्ण बनी रहती है और अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाती है । गृहस्थ रह कर कोई व्यक्ति अपनी शक्तियों को पूर्ण-रूपेण आध्यात्मिक प्रगति के लिए साधारणत: नहीं लग सकता । ऐसी परिस्थिति में नियम बना कि गृहस्थाश्रम का परित्याग कर के आरण्य के शान्तिमय वातावरण में तप, श्रद्धा और भिक्षाचर्य के द्वारा ब्रह्म विषयक चरम सत्य को सोचा और समझा जाए ।[3]

ऋग्वेद में केशी नामक मुनि का वर्णन आता है । इस से ज्ञात होता है कि उस समय मुनि केश रखते थे ।[4] मुनियों का एक वंश वातरशन था जो पीले वस्त्र धारण करते थे ।[5] ये लोग वायु मार्ग पर घूमते थे और आकाश में उड़ सकते थे ।[6] ऐतरेय ब्राह्मण में मल, अजिन, श्मश्रु और तप - चारों ही वानप्रस्थ के लक्षण बताए गए हैं ।[7] वैदिक साहित्य में वानप्रस्थ आश्रम के रहन-सहन तथा खान-पान के विषय में कोई विशेष वर्णन नहीं हुआ है ।

गुरु नानक वाणी में वानप्रस्थाश्रम के विषय में कुछ नहीं बताया गया

---

1. धर्मद्रुम, आचार्य राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय, पृ॰188
2. गृहस्थास्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मन: ।
   अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।। - मनु॰ 6·2
3. भारत की संस्कृति-साधना, डा॰ रामजी उपाध्याय, पृ॰204
4. ऋ॰ 10·136·1
5. ऋ॰ 10·136·2
6. ऋ॰ 10·136·4-5
7. किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तप: ।
   - ऐ॰ब्रा॰ 33·11

न ही गुरु नानक इसके पक्ष में थे । उन्होंने घर छोड़ कर जंगल में जाने का निषेध किया है ।

4. संन्यासाश्रम - यह चतुर्थ एवं अन्तिम आश्रम है । वानप्रस्थ के पश्चात् मोक्ष की कामना से संन्यासाश्रम का आश्रय ग्रहण किया जाता है । जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कुछ लोगों का यह भी विचार है कि मनुष्य को यदि पहले ही सांसारिक पदार्थों से वैराग्य हो जाए तो वह ब्रह्मचर्य या गृहस्थ के पश्चात् भी संन्यास ग्रहण कर सकता है ।[1]

वैदिक संहिताओं में संन्यासाश्रम के विषय में स्पष्ट संकेत नहीं मिलते। संहिताओं के समय से लेकर लगभग सभी प्रमुख उपनिषदों के रचना काल तक संन्यास आश्रम वानप्रस्थ आश्रम का ही अंग बना रहा । छान्दोग्योपनिषद् में "त्रयो धर्मस्कन्धा:" कह कर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थनामक तीन आश्रमों की ओर संकेत किया गया है । संन्यास के विषय में इसमें भी कोई संकेत नहीं है ।

संन्यास के विषय में सर्वप्रथम जाबालोपनिषद् में संकेत मिलता है । वहाँ संन्यास को चतुर्थ आश्रम स्वीकार किया गया है । परन्तु इस आश्रम का आश्रय लेना मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है । उसके अनुसार मनुष्य चाहे तो प्रथम दो आश्रमों में किसी के भी पश्चात् इसको ग्रहण कर सकता है ।[2]

संन्यासाश्रम में मनुष्य पूर्णरूपेण स्वतन्त्र होता है । इसलिए वह प्रत्येक विषय पर गम्भीर रूप से विचार कर सकता है । मानव का किसी एक व्यवसाय, पद, कुल, कुटुम्ब, देश, धर्म एवं स्थान आदि से सम्बन्धित रहना उसके बौद्धिक विकास एवं विचार क्षेत्र के पूर्ण विकास के लिए बाधक हो सकता है । अत: मानव को इस संकुचित सीमा से उभर उठाने के लिए संन्यास का विधान बनाया गया । संन्यासाश्रम में मानव अपने बौद्धिक एवं मानसिक विकास के लिए अपनी शक्तियों का पूर्ण उपयोग कर सकता है ।

---

1. यदि वेतरथा ब्रह्मचार्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा । - जाबालोपनिषद - 4.
2. जाबालोपनिषद् - 4.

संन्यास के नियमों के सम्बन्ध में बृहदारण्यकोपनिषद् में थोड़ा संकेत प्राप्त होता है । याज्ञवल्क्य ने जब संन्यास ग्रहण करना था तो उन्होंने अपनी सम्पत्ति को दोनों पत्नियों (मैत्रेयी तथा कात्यायनी) के बीच बांटने की बात कही ।[1] इस से ज्ञात होता है कि उन दिनों संन्यास ग्रहण करने से पूर्व लोग अपना घर-द्वार, पत्नी एवं सम्पूर्ण सम्पत्ति का परित्याग कर देते थे । आगे चलकर इसी उपनिषद् में बताया है कि आत्मविद् (संन्यासी) व्यक्ति सन्तान, सांसारिक सम्पत्ति एवं मोह आदि त्याग देते हैं और भिक्षुक का जीवन व्यतीत करते हैं । अत: ब्राह्मण को चाहिए कि वह पूर्ण पाण्डित्य की प्राप्ति के उपरान्त बालक सा बना रहे । ज्ञान एवं बाल्य से उभर उठकर उसे मुनि की स्थिति में आना चाहिए तथा मुनि या अमुनि के रूप से उभर उठ कर उसे वास्तविक ब्राह्मण बन जाना चाहिए ।[2] जाबालोपनिषद् (5) बताती है कि परिव्राजक लोग विवर्ण वास थे । मुण्डित सिर, सम्पत्ति विहीन, पवित्र, अद्रोही, भिक्षावृत्ति करने वाले तथा ब्रह्म संलग्न रहते थे ।

संन्यास किस वर्ण के व्यक्ति को ग्रहण करना चाहिए, इस विषय में उपनिषदों तो यही बताती हैं कि केवल ब्राह्मण ही संन्यास के योग्य हैं ।[3] किन्तु जाबालोपनिषद् के अनुसार चाहे व्यक्ति ने व्रत न किए हों, उसने चाहे समावर्तन भी न किया हो, चाहे उसकी वैदिक अग्नियाँ अभी न बुझी हों, यदि वह इस भौतिक संसार से उब चुका है तो वह परिव्राजक हो सकता है ।[4] इस से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय एवं वैश्य भी संन्यासी हो सकते थे तथा ब्रह्मचारी एवं गृहस्थी भी ।

---

1. बृहद्· 2·4·1

2. एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणा: पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।····तस्माद् ब्राह्मण: पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् । बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण: । - बृहद्·3·5·1

3. बृहद्· 3·5·1; 4·4·22; मुण्ड· 1·2·12

4. पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् । - जाबालोपनिषद् - 4·

गुरु नानक के समय में संन्यास में विकृति आ गई थी । लोगों के मन में वैराग्य न होकर केवल प्रदर्शन मात्र था । स्त्री की मृत्यु के पश्चात् या घर की सम्पत्ति नष्ट हो जाने के उपरान्त संन्यासी बन जाते थे । वे संन्यासी की मर्यादाओं का पालन नहीं कर पाते थे । केवल संन्यास का चिह्न दण्ड, कमण्डल तथा गेरुआ वस्त्र धारण करते थे । गुरु नानक देव ने ऐसे संन्यासी की आलोचना की है ।

गुरु नानक वाणी में संन्यासाश्रम का वर्णन न होने पर भी संन्यासी के विषय में बहुत कुछ बताया गया है । वृत्तियों में संन्यासी होकर भिक्षावृत्ति को अपनाना वे अच्छा नहीं समझते थे । भिक्षाटन को उन्होंने लज्जा का कारण माना है ।[1] इस प्रकार के पाखण्डी संन्यासी गेरु से अपने वस्त्र रंग कर भिखारी भेष बना लेते हैं । ये घर-घर में भीख मांगते हैं किन्तु लोगों को उपदेश देते हैं । इस प्रकार ये विवेकहीन अपनी प्रतिष्ठा गंवा लेते हैं ।[2]

संन्यासी वही है जो आशा में भी निराश रहता है ।[3] जो सद्गुरु की सेवा कर अहंभाव को समाप्त कर लेता है वही वास्तविक संन्यासी है । उसे किसी पदार्थ की चिन्ता नहीं रहती । स्वाभाविक रूप से जो प्राप्त हो वह उसी से सन्तुष्ट रहता है । वह अधिक बोलता नहीं तथा क्षमा रूपी धन का संग्रह करता है । वह गुरु की शिक्षा द्वारा विषयों के पीछे भागते मन को स्थिर कर परमात्मा में अनुरक्त रहता है । वह हरि-रस का पान कर शान्ति को प्राप्त करता है । तथा गुरु की शिक्षा से अपने शरीर रूपी घर में से नाम

---

1. जोगी बैसि रहहु दुविधा दुखु भागै ।
   घरि घरि मांगत लाज न लागै ।
   - रामकली म॰1, अस॰ आ॰ग्र॰ 903
2. मारु म॰1, अस॰आ॰ग्र॰ 1012
3. आस निरासी तउ संनिआसी ।।
   - आसा म॰1, पदा, आ॰ग्र॰ 356

रूपी उत्तम पदार्थ खोज लेता है ।[1]

संन्यासी के अतिरिक्त गुरु नानक वाणी में अवधूत, उदासी एवं वैरागी का भी वर्णन हुआ है । गुरु नानक के मतानुसार वास्तविक अवधूत वही है जो अहं को जला कर नष्ट कर दे तथा कष्ट-सहन को ही भिक्षा का भोजन बनाए । वह हृदय रूपी नगर में ज्ञान की भिक्षा मांगे तथा परमात्मा के देश को प्राप्त कर ले ।[2]

गुरु नानक के मतानुसार वास्तविक उदासीन वही है जो उदासीन (विरक्त) धर्म का पालन करता है । वह परमात्मा को सर्वत्र व्यापक जानता है । वह अपने अन्दर चन्द्रमा की शीतलता तथा सूर्य का ज्ञान एकत्र करता है अर्थात् उसका ज्ञान सूर्य की भान्ति सब को आलोकित करता है । इस प्रकार के उदासी का शरीर नष्ट नहीं होता ।[3]

वास्तविक वैरागी के विषय में गुरु नानक की मान्यता है कि जो शोक, वियोग एवं रोग को त्याग कर केवल हरि-नाम में अनुरक्त है वही वास्तविक एवं पूर्ण वैरागी है ।[4] वह हृदय के अन्तर्गत प्रभु-प्रेम की भिक्षा मांगता है तथा परमात्मा के

---

1. सो संनिआसी जो सतिगुर सेवै विचहु आपु गवाए ।
छादन भोजन की आस न करई अचिंतु मिलै सो पाए ।।
बकै न बोलै खिमा धनु संग्रहै तामसु नामि जलाए ।
धनु गिरही संनिआसी जोगी जि हरि चरणी चितु लाए ॥ 7 ॥
आस निरास रहै संनिआसी एकसु सिउ लिव लाए ।
हरि रसु पीवै ता सांति आवै निजघरि ताड़ी लाए ।।
मनूआ न डोलै गुरमुखि बूझै धावतु वरजि रहाए ।
गृहु सरीरु गुरमती खोजे नामु पदारथु पाए ॥ 8 ॥ -मारु म॰।, अस॰ आ॰ग्र॰1013

2. सो अवधूती जो धूपै आपु । भिखिआ भोजनु करै संतापु ।।
अठसठ पटण महि भीखिआ करै । सो अवधूती सिव पुरि चढ़ै ।।
- रामकली म॰।, वार, गु॰ना॰र॰532

3. सो उदासी जो पाले उदासु । अरध उरध करे निरंजनु वासु ।
चंद सूरज की पाए गंढ । तिसु उदासी का पड़ै न कंधु ।।
- रामकली म॰।, वार, गु॰ना॰र॰ 532

4. नाम रते केवल वैरागी सोग बिजोग बिसरजित रोग ।
- गूजरी म॰।, अस॰ आ॰ग्र॰ 504

अनन्य प्रेम में निमग्न रहता है ।[1] वैरागी का वर्णन करते हुए गुरु नानक सोरठ राग में कहते हैं कि वैसे तो असंख्य वैरागी वैराग धारण किए हुए हैं, परन्तु वास्तविक वैरागी वही जो परमात्मा को अच्छा लगता है । वह अपने हृदय में हरि-शब्द का जाप करता है, सदा परमात्मा के भय में रहता है तथा गुरु की शिक्षा द्वारा कार्य रत रहता है । वह अपने हृदय को स्थिर कर परमात्मा में अनुरक्त होकर उसका चिन्तन तथा यशोगान करता है ।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि गुरु नानक देव जी ने चाहे आश्रम-व्यवस्था को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया किन्तु इसका पूर्ण विरोध भी नहीं किया । मानव जीवन को काल की सीमाओं में बांधना उन्हें कदाचित् मान्य नहीं था । फिर भी उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों का पूर्ण रूपेण उन्मूलन नहीं किया बल्कि समयानुसार उस में संशोधन किया । चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य के धर्म संयम, अनुशासन, अध्ययन एवं ज्ञान प्राप्ति का उन्होंने विरोध नहीं किया परन्तु इसके लिए काल विशेष के निर्धारण को उन्होंने आवश्यक नहीं माना । वानप्रस्थ आश्रम को उन्होंने स्वीकार नहीं किया । संन्यासी के कई भेदों का वर्णन गुरु नानक वाणी में हुआ है, परन्तु संन्यासी के विषय में गुरु नानक का चिन्तन मौलिक है । गुरु नानक का संन्यासी गृहस्थ जीवन व्यतीत करता हुआ भी संन्यासी के धर्मों का पालन कर सकता है ।[3] गृहस्थ आश्रम को उच्चता प्रदान करते हुए गुरु नानक इसे ही सर्वोत्तम मानते हैं तथा चारों आश्रमों के कर्तव्यों को इसी में समाहित कर देते हैं ।

---

1. प्रभाती म॰1, पदा॰ आ॰ग्र॰ 1332
2. असंख वैरागी कहहि बैराग सो बैरागी जि सचमै भावै ।
   हिरदै सबदि सदा भै रचिआ गुर की कार कमावै ।।
   एको चेतै मनूआ न डोलै धावतु वरजि रहावै ।
   सहजे माता सदा रंगि राता साचे के गुण गावै ।।
   - सोरठ म॰1, अस॰ आ॰ग्र॰ 634
3. साचा सबदु सचु मनि घर ही माहि उदासा ।
   नानक सतगुरु सेवनि आपणा से आसा ते निरासा ।।
   - माझ म॰1, वार आ॰ग्र॰ 140

गुरु नानक के मतानुसार घर में रह कर अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर सकता है । वह घर में रहकर निष्काम भाव से अपने सभी कार्य-व्यवहार करता हुआ अपने सांसारिक जीवन में एक ऐसी रुचि बनाए कि वह पंक में पंकज की तरह निर्लेप रहता हुआ एक रसी जीवन व्यतीत कर सके तथा साथ में ही श्वास-श्वास परमात्मा का नाम स्मरण करता हुआ परमपद प्राप्त कर सके ।

= = = = = =

चतुर्थ अध्याय

वैदिक परलोकवाद और गुरु नानक वाणी

मृत्यु क्या है । कैसे आती है । क्या मृत्यु के साथ ही मानव जीवन समाप्त हो जाता है या मृत्यु के पश्चात् जीव किसी दूसरे लोक को चला जाता है । इस लोक के अतिरिक्त कोई दूसरा लोक भी है । क्या पुनर्जन्म भी होता है । इस प्रकार के अनेकों प्रश्न प्राचीन काल से ही मानव-मस्तिष्क को उद्वेलित करते आए हैं । विश्व के लगभग सभी धर्मों ने इसका अपने-अपने ढंग से उत्तर दिया है । वेदों और गुरु नानक वाणी में भी परलोकवाद पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । प्रस्तुत अध्याय में गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित परलोकवाद के सिद्धान्त को वैदिक परलोकवाद के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा ।

4.1 मृत्यु और परलोक -

मृत्यु और परलोक का आपस में गूढ़ सम्बन्ध है । मृत्यु के पश्चात् ही परलोक में गमन होता है । वास्तव में मृत्यु के पश्चात् जीव की दूसरे लोक में स्थिति को मानना ही परलोकवाद है । मृत्यु ही परलोक-प्राप्ति का माध्यम है । इस लिए परलोकवाद का विवेचन करने से पूर्व मृत्यु को जान लेना युक्त है ।

मृत्यु के विषय में तरह-तरह की धारणाएं व्यक्त की जाती हैं । मुख्य-रूप से प्राणों को धारण करना जीवन कहलाता है और इस के बिल्कुल विपरीत प्राणों का हमेशा के लिए त्याग मृत्यु कहलाता है । ऋग्वेद में मृत्यु को एक भयानक तत्त्व माना गया है तथा उसके बन्धन से छूटने की प्रार्थना की गई है ।[1] सोमदेव से भी कहा गया है कि वह अपने उपासकों को मृत्यु के हाथ में न दें ।[2] इसके अतिरिक्त अपनी आयु की वृद्धि की कामना भी की गई है[3] तथा चिरकाल तक जीवित रह कर सूर्योदय देखने की इच्छा प्रकट की गई है ।[4]

---

1. ऋ॰ 7·59·12; यजु॰ 3·60
2. मो षु णः सोम मृत्यवे परा दाः ।। - ऋ॰ 10·59·4
3. ऋ॰ 10·59·1
4. ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ।। - ऋ॰ 10·59·6

ऋग्वेद में व्यक्ति के एक अंश (आत्मा) को जन्म-रहित तथा सदा रहने वाला माना गया है।[1] इस से अनुमान लगाया जा सकता है कि आत्मा की मृत्यु नहीं होती। क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होता है वही नष्ट होता है। इसलिए जब आत्मा का जन्म नहीं होता तब उसकी मृत्यु भी नहीं हो सकती। मृत्यु केवल शरीर की ही होती है। ऋग्वेद में अग्नि से यह भी प्रार्थना की गई है कि वह मृतक के शरीर को छिन्न-भिन्न न करे और न इसे सर्वांशत: भस्म करे[2] क्योंकि इसने दोबारा सजीवता प्राप्त करनी है।[3] इसी सूक्त में आगे अग्नि तथा सोम से प्रार्थना की गई है कि मृत व्यक्ति के शरीर के जिस अंश को काक, चींटी, सांप अथवा हिंस्र जीव ने क्षति पहुंचाई है, उसे वे पूरा कर दें।[4] क्योंकि उसे परलोक में अपने आप को अपने शरीर से संयुक्त करना है।[5] ऋग्वैदिक काल में अकाल मृत्यु की कल्पना भी हो गई थी। इसके लिए धाता से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे वंशजों की आयु स्थिर रखे जिससे उन की अकाल मृत्यु न हो पावे।[6] इसके अतिरिक्त मृत्यु को रोकने के लिए तथा पुत्र, पौत्र आदि की रक्षा के लिए मृतक और सम्बन्धियों के बीच में पाषाण रखने का भी विधान है।[7] यह पाषाण मृतक और सम्बन्धियों के बीच में सीमा-रेखा माना जाता था और ऐसा विश्वास किया जाता था कि ऐसा करने से मृतक के सम्बन्धियों को शीघ्र मृत्यु नहीं आ सकेगी।

अथर्ववेद में एक स्थान पर स्वप्न को ही अन्तक तथा मृत्यु कहा गया है।[8]

---

1. ऋ॰ 10·16·4
2. ऋ॰ 10·16·1
3. ऋ॰ 10·16·2
4. यत् ते कृपण: शकुन आतुतोद पिपील: सर्प उत वा श्वापद: ।
   अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणां आविवेश ।।-ऋ॰10·16·6
5. ऋ॰ 10·16·5
6. ऋ॰ 10·18·5
7. इमं जीवेभ्य: परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
   शतं जीवन्तु शरद: पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ।। -ऋ॰ 10·18·4
8. (स्वप्न:) यमस्य करण: । अन्तको ऽसि मृत्युरसि ।। - अथर्व॰16·5·1,2

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में मृत्यु के पाशों का भी उल्लेख है तथा इन से मुक्ति पाने के लिए देवताओं से प्रार्थना की गई है।[1] इसी सूक्त में मृत्यु के दूतों का भी वर्णन हुआ है।[2] वेदों में मृत्यु के पाश को तोड़ने का ढंग भी बताया गया है। ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख है कि यज्ञ द्वारा मृत्यु के पाश से बचा जा सकता है।[3] इसी के अनुसार कठोपनिषद् में भी बताया गया है जो रहस्य को जानकर नाचिकेत अग्नि का चयन करता है वह देहपात से पूर्व ही मृत्यु के बन्धनों को तोड़ देता है।[4] परमात्मा का ज्ञान होने पर भी मृत्यु का पाश नष्ट हो जाता है।[5] इसके अतिरिक्त जो लोग स्वर्ग में पहुँच जाते हैं उन्हें भी मृत्यु का भय नहीं रहता।[6]

उपनिषद् काल में मृत्यु को अधिक भयंकर नहीं माना गया। कठोपनिषद् में तो मृत्यु को परमात्मा का उपसेचन (चटनी) कहा गया है।[7] मध्ययुगीन सन्तों ने भी इसी विचारधारा के अनुसार मृत्यु को भयानक नहीं माना। मृत्यु के समय प्राणी की क्या दशा होती है, इसका उपनिषदों में विशद् विवेचन हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है कि जब व्यक्ति मरणासन्न होता है तो उसे उसके बान्धवगण पूछते हैं कि तू मुझे पहचानता है जब तक उसकी वाणी मन में, मन प्राणों में, प्राण तेज में और तेज परदेव में लीन नहीं हो जाते तब तक वह पहचानता है, परन्तु जब वाणी मन में, मन प्राणों में, प्राण तेज में तथा तेज परदेव में लीन हो जाता है तो वह पहचानना

---

1. मृत्यवेऽमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः। - अथर्व. 8.8.10
   इम उप्ता मृत्यु पाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे। - अथर्व. 8.8.26
   अग्निर्मा गोप्ता परिपातु विश्वत उधन्त्सूर्या नुदतां मृत्युपाशान्॥
   - अथर्व. 17.1.3
2. अथर्व. 8.8.10; 8.8.11
3. ऋ. 10.13.4
4. कठो. 1.1.18
5. कठो. 1.3.15; तमेवं ज्ञात्वा मृत्यु पाशांश्छिनत्ति॥ - श्वेता.4.15
6. कठो. 1.1.12
7. मृत्युर्यस्योपसेचनम्। - कठो. 1.2.25

बन्द कर देता है ।[1] क्योंकि जिस समय जीवात्मा ऊर्ध्व श्वास लेता है तो उसकी सभी इन्द्रियां एवं प्राण आत्मा के समीप इकट्ठे हो जाते हैं । उस समय जीव शरीर में फैले हुए तैजस् अंशों को समेटता हुआ हृदय की ओर जाता है । वह जिस इन्द्रिय का तेज खींच लेता है वही अपने विषय को ग्रहण करना त्याग देती है । इस प्रकार जब वह सभी इन्द्रियों के तेज को खींच लेता है तो उसके हृदय का अग्र भाग प्रकाशित होने लगता है और जीव भी प्रकाश के साथ शरीर में से निकल जाता है ।[2] जीव के शरीर से बाहर निकलने के 10 मार्ग हैं । वह जिस मार्ग से बाहर निकलता है उसी के अनुसार उसकी गति होती है ।[3] जब जीव शरीर का त्याग करता है तो उसके साथ ही प्राण एवं सूक्ष्म इन्द्रियां भी स्थूल शरीर का परित्याग कर देती हैं और मनुष्य को मृत कहा जाने लगता है ।

जीवन और मृत्यु के वास्तविक रूप को नारायण स्वामी ने बहुत अच्छे ढंग से विवेचित किया है । उनके मतानुसार "अनेक नाड़ी एवं नसों से बने हुए शरीर और अमर आत्मा के संयोग का नाम जीवन है तथा उन्हीं के वियोग का नाम मृत्यु है ।"[4] डा॰ शेर सिंह के मतानुसार मानव-शरीर पांच तत्त्वों से निर्मित है । जब तक पांचों तत्त्व मिल कर काम करते हैं तो व्यक्ति जीवित रहता है । परन्तु जब इनके संतुलन में विघ्न पड़ जाता है तो यह संघ काम करना त्याग देता है । इसी का नाम मृत्यु है ।[5]

मृत्यु के विषय में गुरु नानक वाणी में भी पर्याप्त विवरण उपलब्ध होता है । गुरु नानक वाणी में यह बात स्वीकार की गई है कि प्राणियों के जितने भी शरीर हैं उनकी मृत्यु अवश्यंभावी है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी यह

1॰ छान्दो॰ 6॰15॰1,2

2॰ बृहद्॰ 4॰4॰1,2

3॰ कठो॰ 2॰3॰16

4॰ मृत्यु और परलोक, नारायण स्वामी, पृ॰33

5॰ गुरमति दर्शन, शेर सिंह ज्ञानी, पृ॰ 320

लिखा कर ही जगत् में आया है ।[1] इस लिए इसके स्थिर रहने का प्रश्न ही नहीं उठता ।[2] मृत्यु सभी के लिए आवश्यक है तथा सभी का वियोग भी आवश्यक है ।[3] गुरु नानक वाणी के अनुसार मृत्यु का समय निश्चित नहीं है । वह किसी क्षण भी आ सकती है । वह न मुहूर्त का विचार करती है और न तिथि अथवा दिन के विषय में पूछती है ।[4] वह जब चाहे बिना पूछे ले जा सकती है ।[5] इस प्रकार मृत्यु तो सभी को आती है परन्तु मरना सफल उन्हीं शूरवीर पुरुषों का है जो सत्गुरु की सेवा के द्वारा प्रामाणिक होकर मरते हैं ।[6]

गुरु नानक वाणी में मृत्यु के लिए काल शब्द भी अनेकशः प्रयुक्त हुआ है । काल शब्द वैसे तो बहुत पुराना है । वेदों में भी इसका प्रयोग कई बार हुआ है ।[7] यहाँ तक कि अथर्ववेद के तो दो सूक्त ही काल के नाम पर हैं । परन्तु वहाँ पर काल का अर्थ मृत्यु नहीं प्रत्युत एक ऐसी सत्ता से है जो जगत् की सृष्टि करती है । काल में ही सूर्य तपता है तथा काल में ही सभी प्राणी हैं ।[8] काल से ही ऋचाएँ उत्पन्न हुईं और काल से ही यजुष् ।[9] गुरु नानक वाणी में काल का अर्थ-क्षेत्र सीमित हो गया है । यहाँ काल का प्रयोग अधिकतर मृत्यु के अर्थ में ही हुआ है । काल इतना शक्तिशाली है कि सभी देवी-देवता इसी के वश में हैं ।[10] एक परमात्मा ही ऐसा है जो काल की सीमा

---

1. मरण लिखाइ मंडल महि आए ।। - धनासरी म॰१, अस॰आ॰ग्र॰686
2. मरण लिखाइ आए नहीं रहना ।। - गउड़ी म॰१, पदे,गु॰ना॰र॰144
3. सभना मरणा आइआ बिछोड़ा सभनाह ।। - सोरठ म॰१, पदा, आ॰ग्र॰595
4. मरणि न मूरतु पुछिआ पुछी थिती न वारु ।। -सारंग म॰१,वार,गु॰ना॰र॰694
5. नानक किस नो आखीऐ विणु पुछिआ ही ले जाइ ।। - श्लोक वारां ते वधीक, 31, गु॰ना॰र॰784
6. मरणु मुणसां सूरिआ हकु है जो होई मरहि परवाणो । - वडहंस म॰१, छंत, आ॰ग्र॰ 579
7. अथर्व॰ 19·53; 19·54
8. अथर्व॰ 19·53·6
9. अथर्व॰ 19·54·3
10. माइआ मोहे देवी सभि देवा । कालु न छोडै बिनु गुर की सेवा ।। - गउड़ी म॰१, आ॰ग्र॰ 227

से परे है या जिसके सिर पर काल नहीं है ।[1] शेष सम्पूर्ण जगत् काल के वश में है ।[2]

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, काल का कोई समय नहीं है । यह किसी समय भी आ सकता है । यह मनुष्य तो मछली के समान है जिसको किसी समय भी काल रूपी जाल पड़ सकता है ।[3] गुरु नानक वाणी में इस से बचने का ढंग भी बताया गया है । गुरु नानक देव जी का मत है कि जिन को प्रभु अपने साथ मिला लेता है, उन को काल कष्ट नहीं दे सकता ।[4] जब गुरु की कृपा से मन स्थिर हो जाता है तो काल का वश नहीं चलता ।[5] जो गुरु के शब्द द्वारा परमात्मा का यशोगान करता है उसके पास भी काल पहुँच नहीं पाता ।[6] जब मनुष्य हरि-नाम का ध्यान करता है तो उसे सभी सुख प्राप्त हो जाते हैं तथा गुरु की बुद्धि द्वारा वह काल का ग्रास नहीं बनता ।[7] अत: जन्म-जन्मान्तरों के शत्रु इस काल के पाश से वही निकल सकते हैं जो सत्य-शब्द में अनुरक्त है ।[8]

यहाँ पर यह शंका होती है कि क्या हरि-नाम-स्मरण करने वालों को मृत्यु आती ही नहीं । क्या वे कभी भी काल का ग्रास नहीं बनते । परन्तु ऐसी बात नहीं है । जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, मृत्यु से आज तक कोई भी बच नहीं सका । सभी देवी-देवता एवं सन्त-महात्मा इस जगत् को छोड़ कर चले गए हैं । फिर मृत्यु न आने का अर्थ क्या हुआ । इसका अर्थ यह है कि जो प्रभु का नाम स्मरण करते हैं तथा ज्ञान द्वारा यह जान जाते हैं कि आत्मा मरता नहीं है । शरीर ही मरता है । उन के लिए

---

1. तू अकाल पुरखु नाहि सिरि काला ।। - मारू म॰१, आ॰ग्र॰।।38
2. सभु जगु बाधो काल को·····।-सिरीराग म॰१, आ॰ग्र॰ 53
3. नानक इहु जीउ मछुली झीवर त्रिसना कालु ।
   मनुआ अंधु न चेतई पड़ै अचिंता जालु ।। - रामकली म॰१, वार, आ॰ग्र॰955
   भाई रे इउ सिरि जांणहु कालु । जिउ मछी तिउ माणसा पवै अचिंता जालु ।। - सिरीराग म॰१, आ॰ग्र॰55
4. जिन कउ आपि लए प्रभु मेलि । तिन कउ कालु न साकै पेलि।।-आसा म॰१ आ॰ग्र॰353
5. कालु बिकालु भए देवाने मनु राखिआ गुरि ठाए ।-सूही म॰१, आ॰ग्र॰764
6. गुर सबदी सालाहीऐ अंतु न पारावारु ।।
   तिथै कालु न अपड़ै जिथै गुर का सबदु अपारु।।-सिरीराग म॰१, आ॰ग्र॰55
7. नामु धिआवै ता सुखु पावै गुरमति कालु न ग्रासै । - सुख तुरकारी म॰१, आ॰ग्र॰।।।
8. ऐ जी कालु सदा सिर ऊपरि ठाढे जनमि जनमि बैराई ।।
   साचै सबदि रते से बाचे सतिगुर बूझ बुझाई।। - गूजरी म॰१, अस॰आ॰ग्र॰ 504

का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता । दूसरी बात यह कि उन को काल कष्ट नहीं देता । परन्तु मृत्यु के समय बड़े-बड़े भक्त भी छटपटाते देखे गए हैं । किन्तु उन को मृत्यु का दु:ख नहीं होता । मृत्यु तो उनके लिए परमात्मा को मिलने का साधन है । यह दु:ख उन्हें कर्मों के फलस्वरूप भोगना पड़ता है जिसे भोग कर वे मुक्त हो जाते हैं । तीसरी बात यह है कि जो सत्य-शब्द में अनुरक्त हो जाते हैं वे बार-बार के जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट जाते हैं । अत: मृत्यु से बचने के उपर्युक्त उपायों का यह अर्थ नहीं है कि उनके अनुसार चलने वालों को मृत्यु नहीं आती प्रत्युत उनका भाव यह है कि उन के अनुसार आचरण करने वाले लोगों को मृत्यु का भय तथा दु:ख नहीं रहता ।

परलोक -

मृत्यु के विषय में जान लेने के पश्चात् मृत्यु के पश्चात् की अवस्था को जान लेना भी आवश्यक है । मृत्यु के पश्चात् जीव कहाँ जाता है, क्या इसकी सत्ता समाप्त हो जाती है या बनी रहती है । इस तरह के अनेकों प्रश्न हैं जो प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाने जा सकते । अ भौतिकवादी लोग एवं चार्वाक जैसे दर्शन तो यह मानते हैं कि मृत्यु के साथ ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है । वे परलोक या पुनर्जन्म के विषय में विश्वास नहीं रखते । किन्तु परलोकवाद हिन्दू धर्म का एक वैशिष्ट्य है । वैदिक साहित्य में भी इस विषय में पर्याप्त जानकारी मिलती है । गुरुनानक वाणी में भी यह ज्ञात होता है कि इस लोक के अतिरिक्त भी कोई लोक है ।

परलोक शब्द का अर्थ है लोकान्तर । इस लोक से भिन्न भी कोई लोक है जहाँ मरने के पश्चात् जीव जाता है । वह लोक कहां है कैसे जीव वहाँ तक जाता है, इसका विवेचन करना ही परलोकवाद है ।

वैदिक संहिताओं में लोक शब्द अनेकश: प्रयुक्त हुआ है तथा साधारणतया इसका अर्थ संसार या इह लोक ही किया जाता है । फिर भी कुछ स्थलों पर लोक शब्द परलोक या स्वर्ग आदि लोक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ

है ।[1] जैसा कि इस से पूर्व वर्णन किया गया है, ऋग्वेद में जीवात्मा को अमर माना गया है ।[2] ऋग्वेद की यह धारणा है कि जीवात्मा मरने के पश्चात् यमलोक को जाती है[3] तथा अपने कर्मानुसार स्वर्ग आदि लोकों को प्राप्त करती है ।[4] ऋग्वेद में एक ऐसे लोक की कल्पना की गई है जहां पर वैवस्वत राजा हैं तथा जहां स्वर्ग का द्वारा है ।[5] इस लोक में आनन्द, आमोद और आह्लाद है तथा वहां सभी कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं ।[6] क्योंकि यह सभी कुछ इस लोक में नहीं होता । इस से सिद्ध होता है कि इस लोक से भिन्न कोई और लोक है जहां पर ये सभी चीज़ें पाई जाती हैं । ऋग्वेद में ऐसा भी माना गया है कि मृत व्यक्ति परलोक में पुन: अपने आपको शरीर से संयुक्त करता है । इसलिए उस के दह्यमान शरीर को घातक पक्षी अथवा हिंसक पशुओं से होने वाली क्षति से बचा कर रखा जाता है ।[7] इस लोक को जाने के लिए वेदों में दो मार्ग बनाए गए हैं, एक पितृमार्ग तथा दूसरा देवमार्ग ।[8]

अथर्ववेद के अनुसार परलोक इस लोक से दूरी पर स्थित है । वहां स्पष्ट बताया गया है कि इस लोक में श्रद्धा पूर्वक दिया गया अन्न परलोक में,

---

1. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।। ऋ॰ 9॰113॰7
   यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिव: ।
   लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ।।-ऋ॰9॰113॰9
   यजु॰ 35॰6, अथर्व॰ 9॰5॰16, 18, 19
2. ऋ॰ 1॰164॰30; 10॰16॰4
3. ऋ॰ 10॰135
4. ऋ॰ 10॰14॰8
5. यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिव: । - ऋ॰ 9॰113॰8
6. यत्रानन्दाश्च मोदश्च मुद: प्रमद आसते ।
   कामस्य यत्राप्त: कामा: ····। -ऋ॰ 9॰113॰11
7. ऋ॰ 10॰16॰6
8. ऋ॰ 10॰88॰15; यजु॰ 19॰47

पाप रूप अंधकार से मुक्त करता है ।[1] परलोक या स्वर्गादि लोक के अर्थ में अथर्ववेद में "परमं लोकं" शब्द भी प्रयुक्त हुआ है । यद्यपि स्पष्ट रूप से परलोक शब्द का प्रयोग संहिताओं में नहीं मिलता फिर भी "इमं लोकम्" और "अमुं लोकम्" शब्दों का प्रयोग इस लोक और उस (पर) लोक का ज्ञान करवाता है ।[3] इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में "लोका:"[4] एवं "लोकान्"[5] शब्दों का प्रयोग हुआ है । जिससे ज्ञात होता है कि यही एक मात्र लोक नहीं है इस जगत् से भिन्न भी कुछ लोक हैं । एक तो यह प्रत्यक्ष दीखने वाला पार्थिव लोक है परन्तु दूसरे लोक दिव्यलोक है ।[6] अथर्ववेद में भी इन लोकों को जाने के लिए दो मार्गों का वर्णन हुआ है । लोकान्तर में स्वर्गादि पुण्यलोकों को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की गई है कि हम ऋण मुक्त होकर देवयान और पितृयान से स्वर्ग को प्राप्त करें ।[7]

परलोकवाद का उल्लेख ब्राह्मण साहित्य में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है । ब्राह्मण ग्रन्थों में परलोकके लिए "अमुं लोकम्" शब्द का प्रयोग हुआ है ।[8] तैत्तिरीय ब्राह्मण में बताया गया है कि जो लोग पृथ्वी पर यज्ञ करते हैं वे लोग परलोक में तारामण्डल में जा मिलते हैं ।[9] यही बात तैत्तिरीय संहिता में भी बताई गई है कि यज्ञ करके परलोक में जाने वाले व्यक्तियों की ज्योति ही यह तारा मण्डल है ।[10] बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है कि उस (पर) लोक

---

1. अथर्व. 9.5.11
2. इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्या: ।।
   - अथर्व. 19.54.5
3. आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्युमम् । - अथर्व. 9.11.13
4. काले लोका: प्रतिष्ठिता: ।। -अथर्व. 19.54.4
5. पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्या: ।। - अथर्व. 19.54.5
6. तथा लोकान्तसमाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवा: ।।-अथर्व. 9.5.14
7. ये देवयाना: पितृयाणाश्च लोका:, सर्वान् पथो अनृण आ क्षियेम ।।
   -अथर्व. 6.117.3
8. शत.ब्रा. 2.6.4.9
9. तै.ब्रा. 1.5.2.5
10. तै.सं. 5.4.1.3

में कर्म फल भोग कर पुन: कर्म करने के लिए जीव पृथ्वी लोक में आ जाता है ।[1] इस से यह ज्ञात होता है कि कर्म पृथ्वी लोक में ही किए जाते हैं, परलोक तो केवल भोग लोक ही है ।

कठोपनिषद् में नचिकेता ने तीसरे वर के रूप में यम से यह जानना चाहा - मृत्यु के सम्बन्ध में एक बड़ा सन्देह फैला है कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व रहता है या नहीं ।[2] इस के उत्तर में यमराज ने नचिकेता को यही बात बताई है कि नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा कभी नहीं मरता । मृत्यु तो केवल शरीर की होती है आत्मा की नहीं ।[3] परन्तु कुछ अज्ञानी लोग सांसारिक भोगों के मोह में आसक्त हो जाते हैं । उन्हें परलोक नहीं सूझता । वे इस प्रत्यक्ष दीखने वाले लोक की ही सत्ता स्वीकार करते हैं । परलोक को वे लोगों की कल्पना मात्र मानते हैं । इस प्रकार के लोग बार-बार यमराज के चुंगल में फँसते हैं ।[4]

गुरु नानक वाणी में इस लोक के अतिरिक्त दो और लोक माने गए हैं तथा इन तीनों लोकों में ही परमात्मा का शब्द व्याप्त माना गया है ।[5] परन्तु आगे यह भी बताया गया है कि परमात्मा एक ही है परन्तु दूसरे जीवों के मालूम नहीं कितने लोक हैं ।[6] ये लोक अनन्त हैं तथा मन, बुद्धि एवं वाणी की पहुँच से बाहर हैं[7] और तो और "सच्चखण्ड" में ही अनन्त लोक आकारवत है ।[8]

---

1. तस्माद् लोकात् पुनरेति अस्मै लोकाय कर्मणेति ।। - बृहद्· 4·4·6
2. कठो· 1·1·20
3. कठो· 1·2·19 तुलना गीता 2·20
4. न साम्पराय: प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
   अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुन: पुनर्वशमापद्यते मे ।। -कठो·1·2·6
5. तिहु लोका महि सबदु रविआ है आपु गइआ मनु मानिआ ।।
   - आसा म·1, पदा· गु·ना·र· 200
6. साचा साहब एकु तू होरि जीआ केते लोअ ।। - सिरीराग म·1, पदा, गु·ना·र·26
7. अगंम अगंम असंख लोअ ।। - जपुजी, गु·ना·र·10
8. तिथै लोअ लोअ आकार । - जपुजी, गु·ना·र· 22

गुरु नानक वाणी में परलोक के लिए "अगै" या "आगै" शब्द का भी प्रयोग हुआ है । हरिनाम का महत्त्व बताते हुए स्पष्ट किया गया है कि आगे (परलोक में) नाम के बिना सब व्यर्थ है ।[1] साधक से कहा गया है कि वह इस लोक में उसी वस्तु का सौदा करे जो साथ रह सकती है । आगे (परलोक में) बहुत बुद्धिमान साहुकार (परमात्मा) है जो बहुत संभल कर वस्तु को लेगा ।[2] जो इस लोक में मनमानी हकूमत करते हैं उन्हें परलोक में बहुत तंग मार्ग से जाना पड़ेगा अर्थात् बहुत कष्ट उठाने पड़ेंगे ।[3] इस लिए मनुष्य को चाहिए कि वह सर्वशक्तिमान परमात्मा की सेवा करे जिस से उस का परलोक का मार्ग सुखमय बन सके[4] तथा वह सुख प्राप्त कर सके । क्योंकि उसे परलोक में वही मिलेगा जो उस ने प्राप्त किया है, कमाया है या अपने हाथों से दान किया है ।[5]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि भले ही गुरु नानक वाणी में परलोक शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है फिर भी यह माना गया है कि इस पार्थिव लोक से भिन्न भी कुछ लोक हैं । इस लोक में मृत्यु के पश्चात् प्राणी की आत्मा परलोक में जाती है तथा वहाँ पर उस के कर्मानुसार उसके भविष्य का निर्णय होता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित परलोकवाद का सिद्धान्त वैदिक परलोकवाद के सिद्धान्त का पूर्णतया अनुगामी है ।

---

1. अगै गइआ जाणीऐ विणु नावै वेकार ।। - सिरीराग म॰१, पदे,गु॰ना॰र॰30
2. वणजु करहु वणजारिहो वखरु लेहु समालि ।।
   तैसी वसतु विसाहीऐ जैसी निबहै नालि ।।
   अगै साहु सुजाणु है तैसी वसतु समालि ।। - सिरीराग म॰१, पदा,गु॰ना॰र॰46
3. हुकम कीए मनि भावदे राहि भीड़े अगै जावणा ।। - आसा म॰१,वार, गु॰ना॰र॰ 296
4. सेवहु साहिबु संम्रथु आपणा पंथु सुहेला आगै होइ । - वडहंस म॰१, गु॰ना॰र॰ 334
5. नानक अगै सो मिलै जि खटे घाले देह ।। - आसा म॰१, वार॰ गु॰ना॰र॰302

4•2 स्वर्ग और नरक -

इस से पूर्व के अनुच्छेद में देखा गया है कि मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्त्व बना रहता है। आत्मा परलोक गमन कर अपने किए हुए कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख का भोग करती है। इसके पश्चात् यह जिज्ञासा होती है कि सुख-दु:ख का भोग करने के लिए आत्मा कहाँ जाती है। एक विचारधारा के अनुसार सुख-दु:ख को भोगने के लिए आत्मा स्वर्ग अथवा नरक को जाती है। पुण्यात्माएँ सुखोपभोग के लिए स्वर्ग में जाती हैं जबकि पापात्माएँ दु:खों को भोगने के लिए नरक को प्राप्त होती है।

स्वर्ग शब्द का यौगिक अर्थ है प्रकाश की ओर जाना। स्वर्ग लोक में सदैव प्रकाश ही रहता है, अंधकार कभी नहीं होता। अत: सूर्य लोक को स्वर्ग कहा गया। क्योंकि वहाँ भी सदैव प्रकाश रहता है।[1] धीरे-धीरे स्वर्ग शब्द परलोक के लिए रूढ़ हो गया तथा इसे एक ऐसा लोक माना गया है जो इस लोक से भिन्न है तथा जिसको मरणोपरान्त प्राप्त किया जाता है। स्वर्ग के लिए नाक शब्द का प्रयोग भी हुआ है। यास्कमुनि के अनुसार द्यौ भी नाक है। कम् नाम सुख का है, उसका विपरीतार्थक "अ + कम्" दु:ख का वाचक है फिर उस का प्रतिषेध करने से "न + अकम्" नाकम् या नाक शब्द बनता है।[2] शतपथ ब्राह्मण में भी स्वर्ग के लिए नाक शब्द का प्रयोग हुआ है।[3]

ऋग्वेद में एक ऐसे स्थान का वर्णन आया है जहाँ पर पितर निवास करते हैं तथा स्वधा {हवी रूपी अन्न} के साथ आनन्द करते हैं।[4] इस लोक में सभी पाप छूट जाते हैं तथा धर्मानुष्ठान के फलस्वरूप उज्ज्वल शरीर प्राप्त होता है।[5] ऋग्वेद में इसे एक उज्ज्वल लोक माना गया है जहाँ सदैव प्रकाश फैला रहता है।[6] आनन्द,

---

1• यजु• 20•21

2• निरु• 2•14; ऋ• 10•90•16 में भी स्वर्ग के लिए नाक शब्द का प्रयोग हुआ है

3• स्वर्गो वै नाक: ।। - शत•ब्रा• 6•3•3•14

4• ऋ• 10•15•14

5• सं गच्छस्व पितृभि: सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वायावद्यं पुनस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चा: ।। -ऋ• 10•14•8

6• यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।। -ऋ• 9•113•7
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि ।। -ऋ• 9•113•9

आमोद एवं आह्लाद से पूर्ण इस अमर लोक में मृत्यु का भय नहीं रहता तथा सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।[1] सोम की बहुलता वाले इस लोक का निर्माण इन्द्र ने किया था।[2] देवता लोग भी इसी लोक में निवास करते हैं।[3] उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि जिस लोक की उमर कल्पना की गई है वही बाद में जाकर स्वर्ग कहलाया। वस्तुत: परवर्ती साहित्य में स्वर्ग विषयक लगभग सभी धारणाएँ ऐसे ही स्वर्ग की कल्पना करती हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक स्थान पर स्पष्ट रूप में "स्वर्ग" शब्द का प्रयोग हुआ है, जो ऐसा स्थान है जहाँ सदैव आमोद और आह्लाद रहता है।[4] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद खिल में भी एक मन्त्र में स्वर्ग के विषय में वर्णन हुआ है तथा इसे एक ऐसा पद माना गया है जो यज्ञ, दक्षिणा तथा हवि के द्वारा पाया जा सकता है या फिर सवनों में सोम पीस कर भी इसे प्राप्त किया जा सकता है।[5] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के काल में ही स्वर्ग की धारणा विकसित हो गई थी।

अथर्ववेद में भी स्वर्ग को दीप्तिमान् लोक माना गया है[6] तथा तृतीय नाक कहा गया है।[7] आगे एक मन्त्र में स्वर्ग तथा नाक, दोनों शब्दों का एकत्र प्रयोग हुआ है तथा इसे ऐसा स्थान बताया गया है जहाँ अदिति के पुत्र मधु-भक्षण करते हैं।[8] इसी सूक्त के पांचवें मन्त्र में स्वर्ग को घी की पीठवाला माना गया है।[9]

---

1. यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद: प्रमुद आसते।
   कामस्य यत्राप्त: कामास्तत्र माममृतं कृधि।। - ऋ॰ 9॰113॰11
2. ऋ॰ 9॰15॰1
3. ऋ॰ 8॰48॰3
4. प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे।। -ऋ॰10॰95॰18
5. हविर्भिरेके स्वरित: सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।
   शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्वायन्त्यो नरकं पताम। -ऋ॰ खिल॰10॰106॰1
6. अथर्व॰ 4॰34॰2; 18॰2॰47
7. नाकमा क्रमतां तृतीयम्। -अथर्व॰ 9॰5॰1
8. ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरस: सुकृतो येन यन्ति।
   तेभिर्याहि पथिभि: स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व। - अथर्व॰ 18॰4॰3
9. अथर्व॰ 18॰4॰5

स्वर्ग लोक में घी की ह्रदों वाली, मधु के किनारों वाली, सुरा वाली, दूध, दही तथा पानी से भरी हुई धाराएं मधु से पुष्ट होती हैं।[1] ऋग्वेद के अनुसार भी वहाँ सोम, घृत और मधु क्षरित होता है।[2] स्वर्ग में विश्वरूपा कामदुधा (कामनाओं का दूध देने वाली) धेनु है।[3] इस प्रकार स्वर्ग एक ऐश्वर्य सम्पन्न स्थान है जहाँ विष्टारी यज्ञ करने वाले मृत्युपरान्त अस्थिरहित, पवित्र, वायु से शुद्ध हुए तथा चमकते हुए इस द्युतिमान् लोक को जाते है। जातवेदा उन के शिश्न को नहीं जलाता है। स्वर्ग लोक में स्त्रियों का समूह उन का होता है।[4] मृत्यु के अनन्तर एक दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है जो इस पंचभौतिक शरीर से भिन्न, अस्थि रहित एक सूक्ष्म शरीर होता है। "नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदा:" का अर्थ सायणाचार्य के अनुसार कामाग्नि उनकी इन्द्रियों को पीड़ित नहीं करती।[5] जबकि पण्डित राजा राम शिश्न आदि को अलंकार रूप में वर्णित कहा मानते हैं।[6]

स्वर्ग लोक को विष्णु का परम पद भी कहा गया है। यह एक ऐसा स्थान है जहाँ विष्णु के सायुज्य के इच्छुक लोग आनन्द पाते हैं। जहाँ एक मधु का सरोवर है जो विशाल पराक्रम वाले कासदा साथ रहने वाला पदार्थ है।[7] ऋग्वेद में आता है कि सुपलाश वृक्ष के नीचे पितरों के राजा यम देवों के साथ अमृत पान करते हैं।[8] अथर्ववेद के अनुसार पीपल वृक्ष के नीचे देवता तृतीय स्वर्ग में अमृतपान करते हैं।[9] इन दोनों मन्त्रों में काफी समानता है। परन्तु अथर्ववेद के मन्त्र में देवताओं के साथ यम का उल्लेख नहीं हुआ है। ऋग्वेद में जिसे सुपलाश (सुन्दर पत्रों वाला) कहा गया है सम्भव है वह भी पीपल ही हो।

---

1. अथर्व. 4.34.6
2. ऋ. 10.154.10
3. विश्वरूपा धेनु: कामदुधा मे अस्तु। - अथर्व. 4.35.8
4. अनस्था: पूता: पवनेन शुद्धा शुचय: शुचिमपि यन्ति लोकम्।
   नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदा: स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥
   - अथर्व. 4.34.2
5. सायण भाष्य, अथर्व. 4.34.2
6. अथर्व. संहिता, पं. राजा राम, प्रथम भाग, पृष्ठ 200
7. ऋ. 1.154.5
8. ऋ. 10.135.1
9. अथर्व. 5.4.3

स्वर्ग में सत्कर्म करने वाले सुदृद लोग शारीरिक कष्टों से मुक्त होकर रहते हैं तथा अपने माता-पिता एवं पुत्रों से जा मिलते हैं ।[1] मैक्डोनल के मतानुसार आकाश में चमकने वाले तारे वास्तव में पुनीत मानवों के ही प्रकाश-बिन्दु हैं । पुराण-पुरुष विशेष रूप से सप्तर्षि, अत्रि और अगस्त्य तारे बन कर आकाश में उभरे हुए हैं ।[2]

उपनिषद् ग्रन्थों में भी स्वर्ग का पर्याप्त वर्णन हुआ है । कठ उपनिषद् के अनुसार स्वर्ग एक ऐसा स्थान है जहाँ तनिक भी भय नहीं है । न वहाँ जरा का भय है न मृत्यु का । न वहाँ भूख लगती है न प्यास, शोकरहित लोग वहाँ आनन्द से रहते हैं ।[3] छान्दोग्योपनिषद् भी मानती है कि वहाँ दुःख एवं शोक का साहित्य है ।[4] इसके अतिरिक्त मर्त्य लोक के दुर्लभ भोग स्वर्ग लोक में आसानी से प्राप्त किए जा सकते हैं ।[5] स्वर्ग के विषय में मैक्डानल कहते हैं कि क्षत्रियों की नहीं अपितु पुरोहितों की कल्पना के अनुसार स्वर्ग भौतिक आनन्द का एक सम्पन्न लोक है । यह सुकृतों का लोक है जहाँ पुनीत एवं दैव्य नर ऋत को पहचानते हुए आनन्द में चैन की बंसी बजाते है । वहाँ उनके इष्टापूर्त फलते हैं और पुरोहितों के लिए दी गई दक्षिणा के वत्गुफल भोगते हैं ।"[6]

उपर वर्णित स्वर्गीय आनन्द से परिपूर्ण यह स्वर्ग लोक स्थायी नहीं है । यज्ञ एवं दानादि पुण्य कर्म तथा तप से उपार्जित यह लोक पुण्य फल भोगने से, पुण्य के क्षीण हो जाने पर समाप्त हो जाता है ।[7] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार भी सूर्य के पृष्ठ भाग, स्वर्ग में आनन्द भोग कर प्राणी हीनतर लोकों में जाते हैं ।[8]

---

1. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
   अश्लोणा अङ्गैरहृता: स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ।। -अथर्व॰6॰120॰3
2. वैदिक देवशास्त्र, ए॰ए॰ मैक्डानल, अनु॰ सूर्यकान्त, पृ॰437
3. कठो॰ 1॰1॰12
4. छान्दो॰ 2॰10॰5
5. कठो॰ 1॰1॰25
6. वैदिक देव शास्त्र, ए॰ए॰ मैक्डानल, अनु॰ सूर्यकान्त, पृ॰441
7. छान्दो॰ 8॰1॰6
8. नाकस्य पृष्ठे ते सुकृते नुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ।। - मुण्ड॰1॰2॰10

स्वर्ग किन को प्राप्त होता है । इस विषय में ऋग्वेद में बहुत स्पष्ट रूप से बताया गया है कि स्वर्ग उसे प्राप्त होता है जो दान करता है । जो दिल खोलकर दक्षिणा देते हैं वे स्वर्ग में उच्चासन पाते हैं ।[1] दान करने वाला व्यक्ति मृत्यु को अतिक्रमण कर देवत्व को प्राप्त करता है तथा दु:ख पीड़ा एवं क्लेश से मुक्त हुआ दाता स्वर्ग में सब कुछ प्राप्त कर लेता है ।[2] ऋग्वेद में यह भी उल्लेख है कि स्वर्ग की प्राप्ति तप से होती है ।[3] इन्द्र ने तप के द्वारा स्वर्ग पर विजय प्राप्त की थी ।[4] स्वर्ग की प्राप्ति या फिर उन लोगों को होती है जो अपने शरीर की परवाह न करते हुए रणभूमि में युद्ध करते-करते वीरगति को प्राप्त हो जाते हैं ।[5]

वेदों में यज्ञ को भी स्वर्ग का साधन माना गया है । यजुर्वेद में बताया गया है कि ऋषि लोगों ने तप से अग्नि प्रज्जवलित कर स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से यज्ञ किया था । उसी तप के होने पर स्वर्ग प्राप्त कराने वाली अग्नि को यजमान स्थापित करता है क्योंकि इसी अग्नि को विद्वानों ने यज्ञ साधन बताया है ।[6] इसी वेद में यज्ञ के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति तथा देवताओं के साथ निवास की बात कही गई है ।[7] अथर्ववेद में बताया गया है कि यज्ञ करने वाले देवयान मार्ग से स्वर्ग को जाते हैं ।[8] यज्ञ करने वालों को अग्नि देव अपनी पीठ पर बैठाकर स्वर्ग में ले जाते हैं ।[9] स्वर्ग प्राप्ति के लिए ही देवताओं को निरन्तर आहुतियाँ दी जाती हैं ।[10] कठोपनिषद् में बताया गया है कि जो व्यक्ति त्रिणचिकेता

---

1. उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदा: सह ते सूर्येण ।
   हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदा: सोम प्र तिरन्त आयु: ।। -ऋ॰10॰107॰2
2. ऋ॰ 10॰107॰8
3. तपसा ये स्वर्ययु: ।। - ऋ॰ 10॰154॰2
4. त्वं तप: परितप्याजय: स्व: ।। - ऋ॰ 10॰167॰1
5. ऋ॰ 10॰154॰3
6. यजु॰ 16॰71 (काण्व संहिता)
7. यजु॰ 18॰65 (वही)
8. अथर्व॰ 18॰4॰2; 24;2॰34॰5
9. अथर्व॰ 18॰4॰10
10. यजु॰ 22॰6

अग्नि को जान कर उसका चयन करता है, वह देहपात से पूर्व ही मृत्यु के पाश का भेदन कर शोकमुक्त हुआ स्वर्गीय आनन्द को प्राप्त करता है ।[1]

नरक -

जिस प्रकार पुण्यात्माओं को स्वर्ग जैसे किसी दु:खरहित स्थान में जाकर अपने पुण्य कर्मों का फल भोगना पड़ता है उसी प्रकार पापात्माओं को भी अपने अशुभ कर्मों का फलोपभोग करना पड़ता है । इस फल के उपभोग के लिए ये आत्माएं ऐसे स्थान में जाती हैं जहाँ दु:ख ही दु:ख हैं । इस स्थान को नरक नाम से पुकारा जाता है । यद्यपि वैदिक संहिताओं में नरक का उल्लेख नहीं हुआ है, फिर भी बहुत से ऐसे संकेत मिल जाते हैं जिन से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वैदिक काल में भी एक ऐसे स्थान की कल्पना कर ली गई थी जिस में कुकर्म करने वाले अपने पापों का दु:ख रूप फल भोगते थे ।

यास्क मुनि ने नरक शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है । प्रथम तो नि + √ ऋ गत्यर्थक धातु से मानी है {नि + अरक} =जिस का अर्थ "नीचे की ओर जाना" है । या फिर नरक शब्द नि + √रम् धातु से बना है जिसका अर्थ है "इस में आनन्ददायक स्थान तनिक भी नहीं है ।"[2] वामन शिवराम आप्टे के मतानुसार नरक वह घृण्य प्रदेश है जहाँ पापियों को विभिन्न प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं ।[3] अत: नरक वह दु:खपूर्ण स्थान है जहाँ सुख का नाम तक भी नहीं है और जहाँ पापात्माएं अपने दुष्कर्मों का प्रतिफल पाती हैं ।

ऋग्वेद में एक ऐसे लोक की कल्पना की गई है जहाँ सदैव अंधकार छाया रहता है । एक मन्त्र में इन्द्र-सोम से प्रार्थना की गई है कि वे दुष्कर्म करने वालों

---

1. त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम् ।
   स मृत्यु पाशान् पुरत: प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।। -कठो॰।।।।।8
2. नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम् । नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा ।-निरु॰।।।।
3. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ॰ 512

को गर्त में, गहन अंधकार में धकेल दें जहाँ से वे बच कर न आ सकें ।[1] इस सूक्त में आगे मनुष्यों को मारने वाले राक्षसों को उस अंधकारमय गड्ढे में धकेले जाने के लिए देवताओं से प्रार्थना की गई है जो तीनों व्यापक लोकों से नीचे हैं ।[2] इस सूक्त में आगे एक मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि जो राक्षसी रात्री के समय उल्लूक की तरह अपने शरीर को छिपाकर चलती है वह निम्नमुखी होकर अनन्तगर्त में पतित हो जाए ।[3] दशम मण्डल के एक मन्त्र में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे शत्रुओं का संहार करे तथा जो हमें नीचे गिराना चाहते हैं वह उन्हें घोर अन्धकार में फेंक दे ।[4] चतुर्थ मण्डलकेएक मन्त्र में तो यह भी बता दिया गया है इस गम्भीर पद को उत्पन्न कौन करता है । वहाँ ऐसा वर्णन आया है कि विपथगामिनी, पतिविद्वेषिणी और दुष्टाचारिणी स्त्री तथा यज्ञ-विहीन अग्नि-विद्वेषी, सत्यशून्य एवं असत्यवादी पुरुष इस गम्भीर पद को उत्पन्न करते हैं ।[5] ऋग्वेद के खिल सूक्त में नरक शब्द का प्रयोग भी हुआ है तथा वहाँ नरक की स्पष्ट धारणा भी पाई जाती है । वहाँ इस बात का विवेचन किया गया है कि कुछ लोग यज्ञ, दक्षिणा, हवि तथा अपनी शक्ति से स्वर्ग को पाते हैं तथा कुछ सवनों में सोम पीसकर स्वर्ग प्राप्त करते हैं । ये इस लिए करते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि कुटिल आचरण कर ये नरक में चले जाएं ।

---

1. इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भाणे तमसि प्र विध्यतम् ।
   यथा नातः पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ।। -ऋ॰ 7·104·3
2. परः सो अस्तु तन्वा तना च तिग्मः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
   प्रति शुष्वतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ।
   - ऋ॰ 7·104·11
3. ऋ॰ 7·104·17
4. वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
   यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ।। - ऋ॰ 10·152·4
5. अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः ।
   पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम् ।।
   - ऋ॰ 4·5·5

अथर्ववेद में भी एक ऐसे अधोगृह की कल्पना की गई है जो पृथ्वी के नीचे है और जहाँ पर जादूगर और डायनें रहती हैं।[1] अथर्ववेद में इसे "कृष्णतमस्"[2] "अधम तमस्"[3] तथा "अन्ध तमस्"[4] कहा गया है जिस से अनुमान होता है कि इस लोक में सदैव अंधकार रहता है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में "नारक" शब्द का प्रयोग भी हुआ है और इसे एक ऐसा लोक माना है जो यम के दिव्यलोक के बिलकुल विपरीत है।[5] यजुर्वेद में भी एक स्थान पर नारक शब्द का प्रयोग हुआ है और इसे एक ऐसा लोक माना गया है जहाँ वीरों की हिंसा करने वाले धकेले जाते हैं।[6] यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में भी, जिसे ईशोपनिषद् कहा जाता है, असुरों के ऐसे लोक की कल्पना की गई है जहाँ अन्धकार छाया रहता है। आत्मा की हत्या करने वाले लोग मृत्यूपरान्त उस लोक को प्राप्त करते हैं।[7]

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में यह धारणा प्रतिष्ठित हो चुकी थी कि पृथ्वी के नीचे एक ऐसा लोक है जहाँ सदैव अंधकार छाया रहता है। यह लोक स्वर्ग के बिल्कुल विपरीत है जहाँ असुर, डायनें दुष्कर्म करने वाले एवं वीरों की हिंसा करने वाले लोग रहते हैं। इस लोक को "गम्भीरपद" "अधोगृह" तथा "नारक" कहा गया है जिस से अनुमान लगाया जा सकता है कि यह ही वह नरक लोक है जिसका पुराणों में विस्तृत विवेचन हुआ है, परन्तु मैक्डानल इन निर्देशों को पर्याप्त नहीं मानता। उनके अनुसार "इन से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि नरक पृथ्वी के नीचे है और वहाँ अंधकार छाया रहता है। इस पृथ्वी

---

1. असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वरायय:।
   तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्य:॥ - अथर्व॰ 2॰14॰3
2. अथर्व॰ 5॰30॰11
3. अथर्व॰ 8॰2॰24
4. अथर्व॰ 18॰3॰3
5. सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
   अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य यादिताम्॥ - अथर्व॰ 12॰4॰36
6. नारकाय वीरहणम्॥ - यजु॰ 30॰5
7. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता:।
   तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:॥ - यजु॰ 40॰3

पर ही कणेहत्य सुख पाने वाले कवियों की दृष्टि शायद ही पारलौकिक सुखों की ओर झुकती हो, फिर परलोक की यातनाओं की ओर का तो कहना ही क्या ।"[1] डा॰ राधाकृष्णन् के अनुसार भी ऋग्वेद में यद्यपि दुश्चरित्रों के विषय में उस अंधकार के गड्ढे में गिर कर नष्ट होने की बात आई है परन्तु अभी तक नरक की उस हास्यास्पद, भद्दी और भयंकर कल्पना के दर्शन नहीं होते जो परवर्ती पुराणों में पाई जाती है ।[2]

गुरु नानक वाणी का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि गुरु नानक वाणी में स्वर्ग एवं नरक शब्द का स्पष्ट उल्लेख हुआ है । परन्तु इन शब्दों का स्पष्ट उल्लेख होने पर भी गुरु नानक देव जी स्वर्ग एवं नरक जैसे किसी लोक-विशेष में विश्वास नहीं रखते । उन की विचारधारा के अनुसार मृत्यु के पश्चात् जीव की दो ही गतियाँ हैं, एक तो ब्रह्म के साथ अभेद होकर मुक्त हो जाना तथा दूसरी चौरासीलाख योनि को प्राप्त कर लेना । जीव की अपने शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार अगले जीवन में सुख या दु:ख प्राप्त हो जाते हैं परन्तु कैवल्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जब अपने अहंभाव (हउमै) को समाप्त कर अपने सभी कर्म परमात्मा को समर्पित कर दिए जाएं । ऐसी अवस्था में कर्मों के अनुसार चलने वाला यह चक्र समाप्त हो जाता है और जीवात्मा मुक्त होकर उसी ज्योतिपुंज (परमात्मा) में समा जाता है ।

गुरु नानक वाणी में जहाँ कहीं भी पुनर्जन्म की चर्चा हुई है वहाँ कहीं भी स्वर्ग-नरक का उल्लेख नहीं हुआ । स्वर्ग-नरक का उल्लेख वहाँ पर ही हुआ है जहाँ गुरु नानक दूसरे मत के निश्चयों की ओर संकेत करते हैं या जब किसी दूसरे मतावलम्बी को उपदेश देते हैं । तब उसे उन्हीं के निश्चयों के अनुसार उपदेश देते हैं । कुछ स्थलों पर स्वर्ग एवं नरक शब्द का प्रयोग अलंकारिक रूप में भी है ।

उदाहरण के रूप में सारंग की वार में एक स्थल पर स्वर्ग एवं नरक का एकत्र प्रयोग हुआ है परन्तु यहाँ पर गुरु नानक वेदों की बात कह रहे हैं कि

---

1. वैदिक देव शास्त्र, ए॰ए॰ मैक्डानल, अनु॰ सूर्यकान्त : पृ॰ 443-44
2. Indian Philosophy. Vol. I: Radha Krishnan, p. 115.

वेद यह बात कहते हैं कि पुण्य और पाप ही स्वर्ग और नरक का बीज हैं । जैसा कोई बीज बोएगा, वह, उसी के अनुसार फल प्राप्त करेगा । यदि कोई पुण्य करेगा तो स्वर्ग को प्राप्त करेगा और पाप करने पर नरक ।[1]

मलार राग की वार के एक श्लोक में भी स्वर्ग-नरक शब्द का प्रयोग हुआ है । यहाँ पर गुरु नानक मांस विषयक धारणा के विषय में उल्लेख कर रहे हैं । तत्कालीन समाज में देवताओं की प्रसन्नता हेतु जीव-बलि दी जाती थी । उस समय क्षत्रिय लोग मांस भक्षण भी कर लेते थे जिसका पण्डित लोग विरोध करते थे । इस विषय में गुरु नानक उन से पूछते है कि यदि मांस भक्षण को स्वर्ग के मार्ग में विघ्न मानते हैं तो मांसाहार करने वालों का दिया गया दान उन्हें किस तरह पच जाता है ।[2]

गुरु नानक देव जी के मतानुसार आवागमन से छूट जाना ही स्वर्ग है । माझ राग की वार में उन्हों ने बताया है कि केवल बातों से ही स्वर्ग को प्राप्त नहीं किया जा सकता, जीव इस आवागमन से तभी छूट सकता है जब वह सत्य की कमाई करे ।[3] इस से ज्ञात हो जाता है कि आवागमन से छूटना, अर्थात् मोक्ष प्राप्ति ही उनकी दृष्टि में स्वर्ग है । इसके अतिरिक्त चौरासी लाख योनियों में घूमना ही नरक माना गया है । गुरु नानक वाणी में उल्लेख आया है कि चौरासी लाख योनियों में भ्रमण रूप नरक मायासक्त व्यक्तियों को भोगाए जाते हैं ।[4] इस से ज्ञात हो जाता है कि चौरासी लाख योनियों में घूमना नरक है तथा इन से छूट जाना स्वर्ग ।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि भले ही गुरु नानक वाणी में स्वर्ग और नरक शब्द अनेकशः आए हैं, फिर भी इन को एक लोक-विशेष के रूप में मान्यता नहीं मिली जैसी कि वैदिक साहित्य में पाई जाती है । गुरु नानक

---

1. बेदु पुकारे पुंनु पापु सुरग नरक का बीउ ।।
   जो बीजै सो उगवै खांदा जाणै जीउ ।। - सारंग म॰1, वार, गु॰ना॰र॰694
2. मलार म॰1, श्लोक 19, गु॰ना॰र॰ 738
3. गली भिसति न जाईऐ छुटै सचु कमाइ ।। -माझ म॰1, वार,गु॰ना॰र॰110
   तुलना बैकुंठ नगर जहां संत वासा ।। - सूही म॰5, आ॰ग्र॰ 742
4. चउरासीह नरक साकतु भोगाइऐ ।। - मारू म॰1, सो॰गु॰ना॰र॰ 586

वाणी में तो सांसारिक जीवों को भय दिखाकर उनको दुष्कर्मों से रोकने के लिए इनका प्रयोग किया गया है। वेदों में ऐसा माना गया है कि जीव अपने सत्कर्मों या कुकर्मों के कारण स्वर्ग या नरक में जाता है और वहाँ निश्चित काल तक उन का फल भोग कर वह फिर से जन्म लेता है। इस लिए पुनर्जन्म के समय उसके पास कोई प्रारब्ध नहीं होना चाहिए। जब किसी के पास कोई प्रारब्ध नहीं है तो जन्म से सभी समान होने चाहिएं, उनमें किसी प्रकार की विषमता नहीं होनी चाहिए। क्योंकि सभी ने अपने पूर्व जन्म के कर्मों का अच्छा या बुरा फल स्वर्ग या नरक में भोग लिया है। परन्तु जन्म से ही सभी समान नहीं होते। कुछ बच्चे जन्म से ही पूर्णत्या स्वस्थ होते हैं जब कि कुछ जन्म से ही पंगु, बधिर, मूक या प्रज्ञाचक्षु होते हैं। अब प्रश्न उठता है कि यदि किसी के पास कोई प्रारब्ध है ही नहीं तो उन में यह असमानता किस लिए है। इसका शायद कोई भी विश्वसनीय उत्तर नहीं है। दूसरी शंका यह होती है कि यदि जीव अपने कुकर्मों का फल नरक में भोग आता है तो फिर पशु-पक्षी तथा कीट-पतंगे आदि नीच एवं भोग योनियों में उसे क्यों जाना पड़ता है। इन सभी शंकाओं का समाधान इसी बात में है कि स्वर्ग-नरक नाम के कोई अलग लोक नहीं हैं। इसी लोक में जीव अपने कर्मों के अच्छे या बुरे फल प्राप्त करता है।

4·3 कर्म-विपाक -

समाज में रहते हुए जब मनुष्य अपने चारों ओर के लोगों को देखता है तब उसे कोई धनी दिखाई पड़ता है तो कोई निर्धन, कोई स्वस्थ दीखता है तो कोई रोगी, कोई बधिर है तो कोई मूक, कोई लूड़ा है तो कोई पंगु। इस प्रकार की अवस्था को देख कर मनुष्य के दिमाग में प्रश्न पैदा होता है कि इन में यह विषमता क्यों है। इसका एक ही उत्तर है कि यह विषमता कर्मों के कारण है। जैसे कर्म किसी ने पूर्व जन्म में किए हैं वैसा फल उसे इस जन्म में प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार कर्मों का फलोपभोग ही कर्म-विपाक कहलाता है। यह भारतीय धर्म एवं दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है। आदिकाल से लेकर

सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन तथा लगभग सभी भारतीय धर्म इस सिद्धान्त से प्रभावित हैं । प्रस्तुत अनुच्छेद में हम वैदिक साहित्य में इस सिद्धान्त के तत्त्वों का अन्वेषण करेंगे तथा देखेंगे कि आगे-चलकर गुरु नानक वाणी में इसमें क्या संशोधन एवं परिवर्तन हुए ।

वैदिक साहित्य में कर्म शब्द अनेक बार अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । केवल ऋग्वेद संहिता में इस का प्रयोग चालीस से अधिक बार हुआ है । वहाँ भी प्रसंगानुसार इसके अनेक अर्थ हैं । कहीं पर कर्म शब्द शौर्य या वीर कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[1] तो कहीं पर अकेले कार्य के अर्थ में ।[2] ऋग्वेद में कर्म शब्द प्रशंसनीय कर्म के अर्थ में भी आया है ।[3] यज्ञ, दान आदि धार्मिक कृत्यों के अर्थ में भी कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है ।[4] इस प्रकार कर्म शब्द के ऋग्वेद में कई अर्थ किए गए हैं । पुनर्जन्म के सम्बन्ध में इस का क्या अर्थ है । इस विषय में डा॰ राधा कृष्णन् का विचार है कि "इस घटना जगत् को जो तत्त्व शासित करता है वह कर्म कहलाता है ।[5] इस प्रकार इस घटना जगत् में जो कुछ भी हो रहा है, जो सुख और दुःख लोगों को प्राप्त हो रहे हैं, इन सब के पीछे कर्म सिद्धान्त ही काम कर रहा है । जैसा किसी ने कर्म किया है वैसा ही वह फल पा रहा है । जहाँ तक कि देवताओं की भी प्रशंसा कर्मों के कारण होती है । इन्द्र ने उन श्रेष्ठ कर्मों को सर्वप्रथम किया था इस लिए वह प्रशंसनीय हुआ ।[6] संहिताओं में "सुकृतां लोकम्" शब्द भी कई बार आया है । अग्नि देव से इस लोक में जाने के

1॰ विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।। - ऋ॰ 1॰22॰19

2॰ तदु प्रयक्षतममस्य कर्म दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः ।
उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन्मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः ।। - ऋ॰ 1॰62॰6

3॰ अस्येदु प्रब्रूहि पूव्र्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः ।। -ऋ॰ 1॰61॰13

4॰ §1§जुषन्त विश्वान्यस्य कर्मोपस्तुतिं भरमाणस्य कारोः ।। -ऋ॰ 1॰148॰2
§2§ ऋ॰ 8॰36॰7

5॰ उपनिषदों की भूमिका, राधाकृष्णन्, पृ॰ 118 अनु॰ रामनाथ शास्त्री

6॰ यस्तात्कृणोः प्रथमं सास्युक्थः । -ऋ॰ 2॰13॰2

लिए प्रार्थना की गई है जहाँ सत्कर्मों को करने वाले लोग रहते हैं।[1] ज्ञानवान् लोगों को यह ज्ञात होता है कि दुष्कर्मों का फल बुरा होता है इस लिए वे अपनी सुरक्षा के लिए उत्तम कर्मों का अनुष्ठान करते हैं[2] क्योंकि मनुष्य अपने कर्मों के कारण ही वृद्धि को प्राप्त होता है।[3] कर्मों के कारण ही स्वर्ग-नरक की प्राप्ति होती है। ऋग्वेद में उल्लेख है कि स्वर्ग में केवल कर्मफल जाना जाता है।[4] मनुष्य के जितने भी शुभाशुभ कर्म होते हैं, उन सभी का ज्ञान यमराज को होता है। सभी ने अपने कर्मानुसार यम के उसी मार्ग से जाना है जहाँ से पूर्वज गए हैं।[5] इस लिए मनुष्य को सदैव सत्कर्म करने में अनुरक्त होना चाहिए क्योंकि सत्कर्मों के प्रभाव से मनुष्य देवत्व की प्राप्ति करता है,[6] जो कर्महीन लोग हैं उनको इन्द्र गर्हित बना देते हैं।[7]

कर्म-विपाक के विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पर्याप्त वर्णन मिल जाता है। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि जिस अन्न को पुरुष इस लोक में भक्षण करता है, वही अन्न उस पुरुष को परलोक में खाएगा।[8] शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से प्रतिकार की बात बताई गई है। एक कथा के माध्यम से यह बात स्पष्ट की गई है कि इस लोक में मनुष्य जिसको कष्ट देता है परलोक में वही इसको पीड़ित करेगा।[9]

---

1. अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
   यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृताम् लोकम्॥ -ऋ॰10·16·4
   यजु॰ 18·52; अथर्व॰ 3·28·6; 18·3·7।
2. ऋ॰ 2·19·8
3. वीर्यैः साकं वृद्धः। -ऋ॰ 2·23·3
4. ऋ॰ 1·21·6
5. ऋ॰ 10·14·2
6. ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्केः।
   अग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यै पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ -ऋ॰10·15·9
7. ऋ॰ 4·28·4
8. एतस्माद्वै पुरुषो जायते। स यद्वा अस्मिंल्लोके पुरुषोऽन्नमत्ति तदेनम् अमुष्मिंल्लोके प्रत्यत्ति। - शत॰ब्र॰ 12·9·1·1। तुलना मनु॰ 5·55
9. शत॰ब्रा॰ 11·6·1·3-6

उपनिषद् ग्रन्थों में भी कर्म-विपाक का विस्तृत विवेचन हुआ है। उपनिषदें तो स्पष्ट रूप से बतलाती हैं कि जीवात्मा अपने कर्मानुसार जन्मों को प्राप्त करता है।[1] जितनी भी योनियाँ हैं उनमें मानव योनि को श्रेष्ठ माना गया है। यह मानव शरीर भी शुभकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है।[2] सभी प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार शरीर धारण करने के लिए योनि को प्राप्त होते हैं।[3] इस प्रकार यह आत्मा कर्म वश जन्म लेती हुई तथा विभिन्न शरीरों को प्राप्त करती हुई कभी पापों से लिप्त हो जाती है तो कभी ज्ञान से युक्त। इस प्रकार इसकी ऊँची-नीची गतियाँ होती रहती हैं।[4] इस लोक में जीव को जो भी भोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं वे उसके कर्मों के फलस्वरूप मिलते हैं। जिस प्रकार इस लोक में कर्मों से प्राप्त भोग्य पदार्थ क्षीण हो जाते हैं इसी प्रकार परलोक में पुण्यों से सम्पादित लोक भी क्षय हो जाते हैं।[5] इस प्रकार परलोक में अपने कर्मों का फल प्राप्त कर जीव पुनः कर्म करने के लिए इस लोक में आ जाता है।[6] छान्दोग्योपनिषद् में तो यह भी बताया गया है कि जीव जिस मार्ग से परलोक में गया था उसी मार्ग से वापिस इस लोक में लौट आता है।[7] बृहदारण्यक उपनिषद् में कर्म के स्वरूप पर विशेष रूप से विचार किया गया है। वहाँ मनुष्य के जन्म एवं गति का कारण कर्म को ही माना गया है। वस्तुतः शुभाशुभ कर्म से ही मनुष्य पवित्र और पापी बनता है।[8] इस प्रकार हमारा जीवन हमारे चरित्र का ही मूर्त्त रूप है। क्योंकि पुरुष जैसा करने वाला तथा जैसा चलने

---

1. कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते। - श्वेता॰ 5॰11
2. कठो॰ 1॰3॰1
3. वही, 2॰2॰7
4. बृहद्॰ 4॰3॰8
5. छान्दो॰ 8॰1॰6
6. प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्।
   तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे॥ - बृहद्॰ 4॰4॰6
7. छान्दो॰ 5॰10॰5
8. बृहद्॰ 3॰2॰13

वाला होता है वैसा ही बन जाता है । भलाई करने वाला, भला और बुराई करने वाला बुरा बनता है । पुण्य कर्म से पुण्यात्मा तथा पाप कर्म से पापात्मा ।[1] पुण्य कर्म करने वालों को आगे क्या फल प्राप्त होता है, इस विषय में छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है कि जो पुण्य कर्म करने वाले हैं वे तुरन्त ही रमणीय योनि जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य आदि योनि को प्राप्त करते हैं । पापकर्म कर्म करने वाले तुरन्त ही पाप योनि जैसे कूकर-शूकर आदि अथवा चण्डाल योनि को प्राप्त होते हैं ।[2] इस प्रकार उपनिषदों में कर्म विपाक विषयक प्रमाण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो जाते हैं ।

वेदों में शास्त्रविहित कर्मों को करने का आदेश है, जो तीन प्रकार के होते हैं ।

1. नित्य-कर्म - नित्य कर्मों के अन्तर्गत बैठना-उठना, चलना-फिरना आदि ऐसी सभी क्रियाएँ आ जाती हैं जिन का सम्पादन मनुष्य प्रतिदिन करता है । इसके सम्पादन से कोई विशेष लाभ नहीं होता परन्तु न करने से हानि होती है । ऐसी क्रियाएँ अपने समय पर सदा की जानी चाहिएँ । इसके अतिरिक्त स्वाध्याय तथा पंचमहायज्ञ भी नित्य कर्मों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं । पण्डित राजा राम के अनुसार होम करना, यज्ञ करना, स्वाध्याय करना, पितरों के लिए श्रद्धा से देना, अभ्यागतों को वास और भोजन देना और पशुओं का पालन करना मनुष्य के नित्य-कर्म हैं ।[3] शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय और प्रवचन को नित्य-कर्म कहा गया ।[4] तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार भी स्वाध्याय नित्य करना चाहिए । इसमें कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।[5]

2. नैमित्तिक-कर्म - नैमित्तिक-कर्म वे हैं जो किसी विशेष अवसर पर या किसी निमित्त के होने पर किए जाते हैं । जैसे बच्चे का जन्म होने पर जातकर्म ।

---

1. बृहद्· 4·4·5
2. छान्दो· 5·10·7
3. उपनिषदों की शिक्षा, पं· राजाराम, पृ·26।
4. शत·ब्रा· 11·50·7·1
5. स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।। - तै·उ· 1·11·1

3. काम्य-कर्म - काम्य-कर्म वे हैं जो किसी कामना से किए जाते हैं । जैसे स्वर्ग की कामना से अग्निहोत्र किया जाता है । मुण्डकोपनिषद् में अग्निहोत्र को स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति का अमोघ उपाय माना है ।[1] इसी प्रकार महत्त्व की प्राप्ति के लिए मन्थ-कर्म करने का आदेश है ।[2] काम्य-कर्मों का फल सुनिश्चित होता है । जिस कामना से कोई कर्म किया जाता है, उसके अनुष्ठान से वही फल प्राप्त होगा, दूसरा नहीं । इस के सम्पादन से इस लोक के फलों की तो प्राप्ति होती ही है साथ में पारलौकिक फलों की प्राप्ति भी होती है । प्रश्नोपनिषद् में ऐसा उल्लेख आया है कि जो पुरुष इष्ट और पूर्त कर्मों का अनुष्ठान करता है वह चन्द्रलोक को जीतता है ।[3]

कर्मों का फल किस प्रकार प्राप्त होता है इस विषय में ऋग्वेद के एक मन्त्र में बताया गया है कि इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा शरीर के साथ मिलकर जो भी कर्म ~~कर्म~~ करता है, वह कर्म ही धुरी की भान्ति उसे लोक-लोकान्तर में एक योनि से दूसरी योनि में ले जाते हैं ।[4] मर्त्य के साथ उत्पन्न मर्त्य का अमर जीव अपने कर्मानुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में विहरण करता है ।[5] इस प्रकार जो कर्म जीव करता है उन्हीं के अनुरूप उसे दूसरा शरीर प्राप्त होता है ।

अब प्रश्न पैदा होता है कि मनुष्य के सभी कर्म एकत्रित हुए जाते हैं तो मनुष्य इन कर्मों के बन्धन को कैसे तोड़ सकता है । कैवल्य की प्राप्ति मनुष्य को कैसे हो सकती है । इस का उत्तर भी हमें वेदों में प्राप्त हो जाता है । यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में बताया गया है कि यह सारा जगत् ईश्वर से वासित है, इसलिए इसका भोग त्यागभाव से करना चाहिए क्योंकि यह धन किसी का नहीं है ।[6] इस प्रकार त्याग-भाव से कर्म करता हुआ मनुष्य सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे ।

---

1. मुण्ड. 1.2.5
2. बृहद्. 6.3.3
3. प्रश्नो. 1.9
4. ऋ. 1.164.19
5. ऋ. 1.164.30
6. ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
   तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ 1 ॥ यजु. 40.1

इस प्रकार कर्म उस मनुष्य में लिपायमान नहीं होते ।[1] जब मनुष्य कर्मों में लिप्त नहीं होगा तो उसे फल किसका भोगना पड़ेगा । पूर्व जन्मकृत कर्मों का फल भोग कर वह मुक्त हो जाता है । कर्म बन्धन को तोड़ने का दूसरा ढंग यह है कि ज्ञान (विद्या) और कर्म (अविद्या) को साथ-साथ जाना जाए । इस प्रकार जो ज्ञान और कर्म (विद्याविद्या) को साथ-साथ जान लेता है वह कर्म से मृत्यु को पार कर ज्ञान से अमृत को भोगता है ।[2]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि जीव को सुख-दु:ख की प्राप्ति कर्मानुसार ही होती है । ये कर्म ही संस्कारों के रूप में एकत्र होकर आत्मा के साथ चिपक जाते हैं तथा इन्हीं के आधार पर जीवात्मा को आगे जन्म प्राप्त होता है । अत: कर्मानुसार ही जीव आवागमन के चक्र में फंसता है तथा निर्लिप्त होकर कर्म करता हुआ वह इस बन्धन को तोड़ लेता है ।

गुरु नानक वाणी में कर्म-विपाक -

कर्म-विपाक का सिद्धान्त गुरु नानक देव की विचारधारा की आधार-शिला है । उनके मतानुसार जीव जैसे कर्म करता है उसको उन्हीं के अनुसार फल मिलता है । मनुष्य परमात्मा के ज्योतिपुंज से ही एक अंश लेकर उत्पन्न हुआ है । सर्वप्रथम उसके पास किसी भी तरह के कर्म नहीं थे । जब तक उसे अपनी आत्मिक प्रकृति का ज्ञान था तब तक उसके लिए न कर्म-गति थी न आवागमन का चक्र । जैसे-जैसे जीव को माया आक्रान्त करती गई तथा उसके अन्दर अहं-भाव उत्पन्न होता गया, वह परमात्मा से दूर होता गया तथा जन्म-मरण के चक्र में फंसता गया ।

गुरु नानक वाणी में कर्मों का बहुत महत्व स्वीकार किया गया है तथा इन्हीं के द्वारा जीवन का विकास एवं विनाश माना गया है । ऐसा उल्लेख है कि मनुष्य को प्रत्येक फल कर्मानुसार प्राप्त होता है ।[3] मनुष्य को प्रत्येक चीज़ तथा

---

1. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा: ।
   एवं त्वयि नान्यथतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। - यजु॰ 40॰2
2. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।
   अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।। - यजु॰ 40॰11
3. जैसा करे सु तैसा पावै । आपि बीजि आपे ही खावै ।।
   -धनासरी म॰1, गु॰ना॰र॰ 370

परमात्मा की कृपा की प्राप्ति कर्मानुसार होती है । इसका ज्ञान ही मनुष्य को नैतिक कर्मों के लिए प्रेरणा प्रदान करता है । जीव पूर्व जन्म के कर्मों का फल इस जन्म में भोगता है, यहाँ तक कि वर्तमान जन्म के कर्म भी पूर्वजन्मोपार्जित संस्कारों के अनुसार किए जाते हैं । गुरु नानक वाणी में ऐसा भी उल्लेख है कि इस जन्म में सद्गुणों के द्वारा आत्मा की नीच स्वभावता को सुधारा भी जा सकता है । वर्तमान जन्म के कर्मों का फल अगले जन्म में प्राप्त होगा । गुरु नानक वाणी में उत्तम कर्मों का उच्चतम फल आवागमन का अन्त माना गया है जिसके अनुसार प्रत्येक प्राणी आत्मज्ञान एवं उच्चात्मिक अवस्था को प्राप्त कर कर्मों के समस्त बन्धनों को तोड़ सकता है तथा इन से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार जीव अपने कर्मों के अनुसार ही परमात्मा के समीप अथवा दूर हो जाता है ।[1]

गुरु नानक वाणी में यह बात स्पष्ट की गई है कि कर्मों का फल प्रत्येक व्यक्ति को भोगना पड़ता है । जैसे कोई कर्म करता है, वैसा ही फल उसे प्राप्त होता है ।[2] व्यक्ति अच्छा या बुरा अपने कर्मों से बनता है ।[3] इस जन्म में जो कुछ हो रहा है, वह पूर्व जन्म के किए हुए कर्मानुसार हो रहा है ।[4] जैसा कोई बीज बोता है, उसी के अनुसार उसने फसल काटनी है ।[5] जीव को फल उसके भावना रूपी फूल के अनुसार ही प्राप्त होता है अतः स्पष्ट है "आपि बीजि आपे ही खाइ" ।[6] यदि कोई यह समझ ले कि वह वैसे ही छूट जाएगा, तो यह उसका भ्रम है । परमात्मा के दरबार में तो कर्मों के अनुसार ही निर्णय होगा ।[7] उस सत्यस्वरूप परमात्मा के दरबार में कर्मों पर ही विचार किया जाएगा । वह स्वयं भी सत्य है तथा उसका दरबार भी सच्चा है ।[8] अपने किए हुए कर्मों

---

1. करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूर ।। - जपु जी, गु॰ना॰र॰ 22
2. फल तेवेहो पाईऐ जेवेही कार कमाईऐ ।। - आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰290
3. मंदा चंगा आपणा आपे ही कीता पावणा । - आसा म॰1, वार, आ॰ग्र॰470
4. जेहा कीतोनु तेहा होआ जेहे करम कमाइ ।। -सिरीराग म॰3, आ॰ग्र॰33
5. जेहा राधै तेहा लुणै बिनु गुण जनमु विणासु ।। -सिरीराग म॰1, गु॰ना॰र॰66
6. फलु भाउ फलु लिखिआ पाइ ।। आपि बीजि आपे ही खाइ ।।
   - सिरीराग म॰1, गु॰ना॰र॰56
7. करमां उपर निबड़ै जे लोचे सभ कोइ ।। -गउड़ी म॰1, आ॰ग्र॰147
8. करमी करमी होइ वीचारु ।। सचा आपि सचा दरबारु ।।-जपु जी, गु॰ना॰र॰ 20

का लेखा (हिसाब) भी स्वयं देना होता है ।[1] इस लिए किसी को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उसे परमात्मा के दरवार में अवश्य ही स्थान प्राप्त हो जाएगा क्योंकि वहाँ तो वैसा ही होगा जैसे किसी ने कर्म किए हैं ।[2] इस लिए स्पष्ट है कि कर्मों के बिना कुछ भी नहीं पाया जा सकता, भले ही कितनी भी दौड़ धूप करते रहो ।[3]

गुरु नानक वाणी में यह बताया गया है कि इस जन्म में प्राप्त होने वाले सुख-दु:ख पूर्व जन्मोपार्जित कर्मानुसार प्राप्त होते हैं तथा इनके कारणों को भी वह प्रभु ही जानता है जिसके द्वारा यह प्रदान किए गए हैं ।[4] फिर भी मनुष्य अपनी दुर्दशा के लिए दूसरों को दोषी ठहराता है । इस विषय में गुरु नानक वाणी में बताया गया है कि जैसे किसी ने कर्म किए ये वैसे ही वह फल पा रहा है अत: उसे किसी दूसरे को दोष नहीं देना चाहिए ।[5] श्रेष्ठ कर्म करने वाले सदैव उत्तम कहे जाते हैं तथा निकृष्ट कर्मों का अनुष्ठान करने वालों के लिए रोना ही रह जाता है ।[6] इसलिए गुरु नानक वाणी में यह उपदेश दिया गया है कि अपने किए हुए कर्मानुसार ही सभी को फल प्राप्त होना है अत: किसी को बुरा कर्म नहीं करना चाहिए ।[7] इसके लिए गुरु नानक कृषि का दृष्टान्त देकर समझाते है कि हे साधक ! यदि निर्वाण पद को प्राप्त करना है तो इस शरीर को धरती, शुभ कर्मों को बीज तथा परमात्मा को सींचने का

---

1. कीता आपो आपणा आपे ही लेखा संढीऐ ।। - आसा म०१, वार, आ०ग्र० 473
2. मतु को जाणै जाइ अगै पाइसी ।। जेहे करम कमाइ तेहा होइसी ।। - सूही म०१, पदा, आ०ग्र० 730
3. विणु करमा किछु पाइऐ नाही जे बहुतेरा धावै ।। -तिलंग म०१, पदा, आ०ग्र० 722
4. सुख दुख पुरब जनम के कीए ।। सो जाणै जिनि दाता दीए । -मारु म०१, गु०ना०र० 592
5. ददै दोसु न देऊ किसै दोसु करंमा आपणिआ ।। जो मै कीआ सो मै पाइआ दोसु न दीजै अवर जना ।। -आसा म०१, पटी, गु०ना०र० 262
6. उत्तम से दरु उत्तम कहीअहि नीच करम बहि रोइ ।। - सिरीराग म०१, आ०ग्र० 15
7. जितु कीता पाईऐ आपणा सा वाल बुरी किउ घालीऐ ।।-आसा म०१, वार, गु०ना०र० 308

जल बनाओ । मन कृषक हो तथा हरिनाम को अपने हृदय में बसा लो तभी परम पद प्राप्त कर सकोगे ।[1]

इस प्रकार गुरु नानक वाणी के अध्ययन से यह बात ज्ञात होती है कि अपने कर्मों का फल प्रत्येक जीव को प्राप्त होगा । वह परमात्मा एक-एक क्षण का हिसाब मांगेगा, भला या बुरा अपने कर्मानुसार सहन करना पड़ेगा ।[2] इस प्रकार गुरुनानक वाणी में दो तरह के कर्म माने गए हैं (1) अच्छे या भले कर्म (2) बुरे कर्म । आगे इन के भी दो भाग हो जाते हैं :-

1) शारीरिक कर्म - शारीरिक कर्मों के अन्तर्गत मनुष्य का बैठना-उठना, खान-पान, बोलना-चलना, देखना-सुनना, सूंघना-स्पर्श करना एवं दूसरी सभी क्रियाएं आ जाती हैं जो शरीर द्वारा की जाती हैं ।

2) मानसिक कर्म - यह कर्म शारीरिक कर्मों की अपेक्षा सूक्ष्म होते हैं । मनुष्य का सोचना, स्मरण करना, अनुमान लगाना तथा स्वप्न आदि देखना मानसिक कर्म कहलाता है ।

मनुष्य द्वारा किए जाने वाले बुरे कर्म बन्धन का कारण बनते हैं ।[3] बन्धन में डालने वाले कर्मों के आगे तीन भाग किए गए हैं :-

1) कर्मकाण्डीय कर्म - समाज में पूजा पाठ की कुछ ऐसी विधियां चल पड़ती हैं जिन का मुख्य मनोरथ पवित्रता तथा देवी-देवताओं को प्रसन्न करना होता है । इस के अतिरिक्त पितर पूजा, श्राद्ध, तीर्थ स्नान, तर्पण तिलक आदि लगाना भी कर्म-काण्डीय कर्म हैं जो धीरे-धीरे धार्मिक जीवन का अंग बन जाते हैं । गुरु नानक देव जी के मतानुसार इस प्रकार के कर्म आत्मिक जीवन के लिए निरर्थक हैं तथा जीव के बन्धन का कारण बनते हैं ।[4]

---

1. सिरी राग म॰1, पदा 26, गु॰ना॰र॰ 48
2. घड़ी चसे का लेखा लीजै बुरा भला सहु जीआ ।। - तुखारी म॰1, छंत, गु॰ना॰र॰ 636
3. नानक अउगुण जेतड़े तेते गली जंजीर ।। - सोरठ म॰1, पदा, गु॰ना॰र॰344
4. आसा म॰1, अस॰2, गु॰ना॰र॰ 256
   तथा - आसा म॰1, वार, श्लोक 28, गुरु॰ना॰र॰ 296

2) अहं-युक्त कर्म या मनहठ कर्म - अहंकारवश किए गए सभी कर्म अहंव्यापक कर्म कहलाते हैं । इन कर्मों को गुरु नानक वाणी में बन्धन का मूल माना गया है । यहाँ तक कि अहंकारवश किए गए पवित्र कर्म भी आत्मिक उन्नति में बाधक होते हैं । फिर भी यह संसार झूठ एवं अहंकार में पड़कर अहंकार की चौपट खेलता है ।[1] इसी अहंभाव के कारण ही जीव आवागमन के चक्र में फंसता है तथा बार-बार जन्म लेता है तथा मरता है । अहंकारवश ही जीव मायाक्रान्त होकर परमात्मा से दूर हो जाता है ।[2] इसी प्रकार मन के द्वारा हठ किए जाने पर जो व्यक्ति काम करता है वह नष्ट हो जाता है ।[3] इसी प्रकार मनमुख एवं झूठे व्यक्ति भी बन्धन में पड़ कर आवागमन के चक्र में फंस जाते हैं ।[4]

3) त्रिगुणात्मक कर्म - गुरु नानक वाणी के अनुसार त्रिगुणात्मक कर्म भी आत्मिक ज्ञान के लिए उपयोगी नहीं हैं बल्कि यह मनुष्य को बन्धन में डाल देते हैं । इन कर्मों से तो मनुष्य केवल सदाचारी ही बन सकता है परन्तु कर्मों का बन्धन नहीं तोड़ सकता । गुरु नानक वाणी में तीनों गुणों से रहित होकर कर्म करने को कहा गया है । तभी मनुष्य विकारों से बच सकता है तथा भवसागर को पार कर सकता है ।[5]

इसी प्रकार गुरु नानक वाणी में शुभ कर्मों के भी तीन भाग किए गए हैं ।

1) हरि-कीर्ति कर्म - परमात्मा का नाम स्मरण तथा यशोगान करने को हरि-कीर्ति कर्म कहते हैं । इन्हें समझने के लिए "किरत" (कृत) कर्मों को समझना आवश्यक है । "किरत" कर्मों को संचित या प्रारब्ध कर्म भी कहा जा सकता है । यह वे अच्छे तथा बुरे कर्म हैं जो जीवात्मा ने पूर्व जन्म में किए थे । जीव की वर्तमान अवस्था के लिए यही कर्म उत्तरदायी हैं । इन्हीं कर्मों के आधार पर ही जीव के भाग्य का निर्माण होता है । जीव जन्म के समय इन्हें ही अपने साथ लेकर आता है ।

---

1. हउमै चउपड़ि खेलणा झूठे अहंकारा ।। - आसा म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰ 258
2. आसा म॰१, वार, श्लोक १३, गु॰ना॰र॰ 284
3. मन हठि कीचै अंति विगोवै ।। - आसा म॰१, पदे॰ गु॰ना॰र॰ 216
4. साकत कूड़े सचु न भावै ।। दुबिधा बाधा आवै जावै ।। - माझ म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ १00
5. रामकली म॰१, सिध गोसटि, 20, गु॰ना॰र॰ 504

गुरु नानक वाणी के अनुसार पूर्व जन्म के कर्मों से उपार्जित यह दुख-सुख रूपी लेख (भाग्य रेखाएं) मिट नहीं सकते।[1] मस्तक पर अंकित इन्हीं रेखाओं के अनुसार भविष्य में क्या होने वाला है इसको कोई नहीं जानता।[2] इस प्रकार गुरु नानक वाणी में यह बात स्वीकार की गई है कि किए हुए कर्मों के अनुसार ही स्वभाव और संस्कार (किरत) बन जाते हैं। उन्हीं के अनुसार प्राणी कर्म करते हैं।[3] इसके अतिरिक्त गुरु नानक वाणी में ऐसा भी वर्णन आया है कि हरि-कीर्ति कर्म "किरत" कर्मों को समाप्त कर सकते हैं। परमात्मा के नाम का यशोगान करने से "किरत" कर्मों की मल धुल जाती है। गुरु नानक वाणी के अनुसार परमात्मा की आराधना करने वालों को यश की प्राप्ति होती है। जो उस परमात्मा का गुणगान करता है उसके सारे कष्ट दूर हो जाते हैं तथा सुखों की प्राप्ति हो जाती है।[4]

2) आध्यात्मिक कर्म - यह कर्म मनुष्य को श्रेष्ठ आत्मिक अवस्था की ओर ले जाते हैं। इन कर्मों के द्वारा मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा का ज्ञान होता है। इन्हीं कर्मों के अनुष्ठान से उसका परमात्मा के साथ एकता का सम्बन्ध स्थापित होता है। गुरु नानक वाणी में यह भी उल्लेख है कि जो अहर्निश आध्यात्मिक कर्म करता है उसे ज्ञानज्योति का पूर्ण प्रकाश प्राप्त हो जाता है तथा परमात्मा का अमर प्रकाश उस में खिल उठता है।[5] अब प्रश्न पैदा होता है कि आध्यात्मिक कर्म हैं कौन से। गुरु नानक गउड़ी राग की छठी अष्टपदी में

---

1. बाबा नांगड़ा आइआ जग महि दुखु सुखु लेख लिखाइआ।
   लिखिअड़ा साहा ना टलै जेहड़ा पुरबि कमाइआ।। - वडहंस म॰१, अलाहणीआं, गु॰ना॰र॰340
2. मसतक लिखिअड़ा लेखु पुरबि कमाइआ जीउ।
   लेखु न मिटई पुरबि कमाइआ किआ जाणा किआ होसी।। - धनासरी म॰१, छंत, गु॰ना॰र॰ 380
3. नानक पइऐ किरत कमावणा कोउ न मेटणहारु।। - सूही म॰१, गु॰ना॰र॰421
4. जिनि सेविआ तिनि पाइआ मानु। नानक गावीऐ गुणी निधानु।
   गावीऐ सुणीऐ मनि रखीऐ भाउ। दुखु परहरि सुखु घरि लै जाउ।।
   -जपु जी, गु॰ना॰र॰ 4
5. अधिआतम करम करे दिनु राती।
   निरमल जोति निरंतरि जाती।। - मारू म॰१, सो, गु॰ना॰र॰ 610

इन कर्मों का उल्लेख करते हैं । उन के मतानुसार सत्य धारण करना, कामादिक पंचविकारों को समाप्त करना, परमात्मा की अखण्ड ज्योति को सर्वत्र देखना, परमात्मा का भय मानना, गुरु के शब्द के अनुसार चलना, गुरु कृपा में विश्वास रखना तथा आत्म चिन्तन में मग्न रहना ही आध्यात्मिक कर्म हैं ।[1] इन के सम्पादन से मनुष्य कर्मों के बन्धन को तोड़ कर परम पद को प्राप्त करता है ।

3) हुक्म-रजाई कर्म - हुक्म-रजाई कर्म वे होते हैं जो परमात्मा की इच्छा एवं आज्ञानुसार किए जाते हैं । ये कर्म परमात्मा की कृपा या गुरु की प्रेरणा से होते हैं तथा मोक्ष प्राप्त करवाने वाले होते हैं । शुद्ध अन्त:करण में जब परमात्मा की अन्तर्ध्वनि सुनाई पड़ती है तब ऐसे कर्मों का होना संभव होता है । जब तक मनुष्य सच्चा (सचिआर) नहीं बन जाता तब तक उसका आवागमन का बन्धन नहीं टूट सकता । परमात्मा के हुक्म तथा इच्छा (रजाई) के अनुसार चल कर ही मनुष्य सच्चा बन सकता है । परन्तु ऐसा तभी संभव है जब यह भाग्य में लिखा हो ।[2] गुरु नानक ऐसा मानते हैं कि परमात्मा के दरबार में वही प्रामाणिक होगा जो उसके हुक्म और इच्छा (हुकम रजाई) के अनुसार चलता है ।[3] ऐसे व्यक्ति को कभी कोई विघ्न नहीं प्राप्त होता ।[4] अत: मनुष्य को सदैव परमात्मा की इच्छानुसार चलना चाहिए ।[5]

परमात्मा का हुक्म -

गुरु नानक वाणी में परमात्मा के हुक्म को भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है । गुरु नानक वाणी में ऐसा उल्लेख आया है कि इस जगत् में जो कुछ भी हो रहा है वह परमात्मा के हुक्म के अन्तर्गत हो रहा है ।[6] कर्म जीव करता है परन्तु उसका फल परमात्मा स्वयं लिखता है ।[7] परमात्मा के हुक्म के अनुसार ही जीव आवागमन के चक्र में फंसता है ।[8] यहाँ पर दोनों बातों में विरोध दिखाई पड़ता है ।

---

1. गउड़ी म॰1, अस॰6, गु॰ना॰र॰164
2. हुकमि रजाई चलणा नानक लिखिआनालि ।। जुप जी, गु॰ना॰र॰2
3. हुकमि रजाई जो चलै सो पवै खजानै ।। - आसा म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰256
4. ताकउ बिघनु न लागई चालै हुकमि रजाई ।। -आसा म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰256
5. हुकमि संजोगी आइआ चलु सदा रजाई ।। -आसा म॰1, गु॰ना॰र॰256
6. हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ ।। - जपु जी, गु॰ना॰र॰2
7. हुकमि चलाए आपणै करमी वहै कलाम ।। -सारंग म॰1, वार, गु॰ना॰र॰688
8. इकि हुकमी सदा भवाईअहि ।। -जपु जी, गु॰ना॰र॰ 2

यदि सब कुछ परमात्मा के हुक्मानुसार होता हुआ मान लिया जाए तो कर्म-विपाक व्यर्थ ही लगता है । यदि सब कुछ कर्मों के अनुसार होता हुआ मान लिया जाए तो परमात्मा के हुक्म का महत्त्व समाप्त हो जाता है । परन्तु इस प्रकार परमात्मा के हुक्म और कर्म-विपाक का मेल ही गुरु नानक वाणी की विशेषता है । कर्म के इस सिद्धान्त को गुरु नानक वाणी में इस प्रकार वर्णित किया गया है कि जो भी प्राणी संसार में आया है उसे यहाँ से जाना होगा । परमात्मा ने जीव के कर्मानुसार इसके मस्तक पर सुख-दु:ख लिख दिए हैं जो अन्त तक इसके साथ रहेंगे । वह प्रभु स्वयं तो निर्लिप्त है परन्तु उसने जगत् को माया के जाल में फंसा रखा है । वह ही अपने हुक्म से जीवों को इस पाश से मुक्त करता है तथा स्वयं ही अपने हुक्म से बन्धन में डाल देता है ।[1] आसा राग में भी एक स्थान पर गुरु नानक देव जी ने कर्म तथा हुक्म के सिद्धान्त को स्पष्ट किया है । वहाँ बताया गया है कि यह हुक्म पूर्व जन्म के संस्कारों के आधार पर ही लिखा गया है । इसे पुन: नहीं लिखा जा सकता । यह जिस प्रकार लिखा गया है, उसी भान्ति व्याप्त होगा । इसे कोई भी मिटा नहीं सकता ।[2] इसी बात को अक्ष्युपनिषद् में भी बताया गया है कि इस जन्म में जो कुछ सामने है वह पूर्व जन्म के किए हुए कर्मों के फलस्वरूप है तथा ईश्वर के अधीन है । इस लिए सुख या दुख में मनुष्य कुछ नहीं कर सकता ।[3]

कर्मों की गणना -

कर्म कैसे लिखे जाते हैं तथा इन का फल कैसे मिलता है, इस विषय का भी गुरु नानक वाणी में वर्णन हुआ है । वहाँ बताया गया है कि मनरूपी काग़ज़ पर कर्मों की स्याही से भले या बुरे लेख लिखे जाते हैं । इन्हीं के द्वारा अच्छे या बुरे संस्कार बनते हैं जो धीरे-धीरे स्वभाव बन कर व्यक्ति का व्यक्तित्व बन

---

1. वडहंस म॰१, अस॰ 4॰2, गु॰ना॰र॰ 338
2. किरतु पइआ परवाणा लिखिआ बाहुड़ि हुकमु न होई ।
   जैसा लिखिआ तैसा पड़िआ मेटि न सकै कोई ।। -आसा म॰१, पदे॰गु॰ना॰र॰ 224
   लेखु न मिटई हे सखी जो लिखिआ करतारि ।। -रामकली म॰१, ओअंकार, गु॰ना॰र॰ 496
3. प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव वा ।
   सुखं वा यदि दुखं नैपात्र मम कर्तृता ।। - अक्ष्युपनिषद्-22॰

जाते हैं । फिर शनैः शनैः यह संस्कार (किरत) मन का एक भाग बन जाती है तथा सभी क्रियाएँ इसी के अधीन होने लगती हैं । यह स्वाभाविक ही है कि जिस कर्म को मनुष्य बार-बार करता है वह उसका स्वभाव बन जाता है । फिर उसी स्वभाव के वशीभूत मनुष्य सभी क्रियाएं करता है ।[1]

कर्म-बन्धन तोड़ा जा सकता है -

अब यह प्रश्न उठता है कि कर्म-बन्धन किस प्रकार टूट सकता है । इस से पूर्व वेदों में तथा गुरु नानक वाणी में बताया गया है कि जीव को किए हुए कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है । गुरु नानक वाणी में इस बात का भी उल्लेख हुआ है कि जब मनुष्य को आत्मज्ञान हो जाता है तो उसका अहंभाव समाप्त हो जाता है । उस समय उसके द्वारा सम्पादित कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते । पूर्वजन्मोपार्जित कर्म भी ज्ञानाग्नि से जल जाते हैं । इस प्रकार दग्ध हुए कर्म जले हुए बीज की भान्ति फलदायक नहीं होते । उपनिषदों में यह स्वीकार किया गया है कि किए हुए कर्मों का फल अवश्यमेव भुगतना पड़ता है । कर्म करने के पश्चात् ज्ञान हो जाने पर भी उसके फल से बचा नहीं जा सकता । उस का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है जिस प्रकार बाघ समझ कर छोड़ा गया बाण छूटने के बाद "यह बाघ नहीं वरन् गाय है" ऐसी बुद्धि होने पर भी नहीं रुक सकता परन्तु वेगपूर्वक अपने लक्ष्य को बींध डालता है । इस प्रकार किया हुआ कर्म ज्ञान होने पर भी नष्ट नहीं होता । महाभारत में भी ऐसा माना गया है कि किया हुआ पाप कर्म यदि उसके कर्त्ता में फल का जनक नहीं देखा जाता तो उसके पुत्रों, पौत्रों तथा नप्तृयों (प्रपौत्रों) में फल का जनक होगा ।[3] परन्तु गुरु नानक

---

1. मारू म॰1, पदा 3, गु॰ना॰र॰ 542
2. ज्ञानोदयात् पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति ।
   यदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टवाणवत् ॥ 53 ॥
   व्याघ्र बुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ ।
   न तिष्ठति भित्त्वत्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ॥ 54 ॥ -अध्यात्मोपनिषद् 53,54
3. पापं कर्म कृतं किंचिद् यदि तस्मिन् न दृष्यते ।
   नृपते । तस्य पुत्रेषु पौत्रेषवपि च नप्तृषु ।। - महाभारत, शान्ति पर्व 129॰2।

वाणी में कर्म इतने शक्तिशाली नहीं माने गए । जैसे कि पहले बताया जा चुका है कर्मों के कारण मनुष्य का विशेष स्वभाव बन जाता है । जब तक मनुष्य उस स्वभाव के अनुसार कर्म करता है, वह उसके प्रभाव से बच नहीं सकता । परन्तु यदि वह उस स्वभाव को त्याग कर गुरुमति का अनुसरण करले तो धीरे-धीरे उसका पूर्व स्वभाव समाप्त हो जाता है तथा मनुष्य गुरु के स्वभाव को प्राप्त कर लेता है ।[1] इस प्रकार सद्गुरु की मति के अनुसार चल कर पूर्व जन्म के उपार्जित कर्मों से मुक्त हो जाता है ।[2] इसके अतिरिक्त हरिनाम-स्मरण भी लिखे हुए मनुष्य के भाग्य को बदल सकता है ।[3]

गुरु नानक वाणी में यह भी बताया गया है कि ईश्वर दयावान है । दया के लिए प्रार्थना करने पर वह जीव को अनजान समझ कर उसके सभी अवगुणों को क्षमा कर देता है । तभी तो साधक उस से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु समुद्रजल की भान्ति मेरे अवगुण अत्यधिक हैं । कृपया आप मुझ पर दया कीजिए तथा मेरे अवगुणों को क्षमा कीजिए । आपने तो डूबते हुए पत्थर भी तार दिए ।[4] इस प्रकार सच्चे दिल से प्रार्थना कर यदि मनुष्य आगे से दुष्कर्मों को त्याग देता है तो परमात्मा उसके पूर्ण अवगुण क्षमा कर देता है ।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि कर्म जीव के बन्धन अथवा मोक्ष

---

1. द्रष्टव्य - गुरमति निर्णय, भाई जोध सिंह, पृ. 248
2. सतगुर मिलिए फलु पाइआ ।। जिनि विचहु अहकरण चुकाइआ ।
   दुरमति का दुखु कटिआ भागु बैठा मसतकि आइ जीउ ।। -सिरीराग म.१, गु.ना.र. 90
3. आवै जाइ भवाइऐ पइऐ किरति कमाइ ।
   पूरबि लिखिआ किउ मेटीऐ लिखिआ लेखु रजाइ ।।
   बिनु हरिनाम न छुटीऐ गुरमति मिलै मिलाइ ।। 7 ।। -सिरी राग म.१, अस, गु.ना.र. 74
4. जेता समुंदु सागरु नीरि भरिआ तेते अउगुण हमारे ।
   दइआ करहु किछु मिहर उपावहु डुबदे पथर तारे ।। - गउड़ी म.१, पदा, गु.ना.र. 152

के कारण है । हमारा वर्तमान पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों से संचालित है और हमारे वर्तमान के कृत्य हमारे भविष्य के आधार बनेंगे । जीवन की प्रकृति तथा परिस्थितियों की सृष्टि भी हमारे विचारों, भावनाओं एवं कर्मों के आधार पर होती है । इस प्रकार कर्म हमारी शुभ या अशुभ क्रियाओं के प्रतिफल का विश्वव्यापी नियम है ।

गुरुनानक वाणी के परिशीलन से ज्ञात होता है कि कर्म-विपाक का वैदिक सिद्धान्त ही गुरु नानक वाणी में पल्लवित हुआ है । फिर भी गुरु नानक वाणी में कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश कर दिया गया है जिन से गुरु नानक वाणी में निरूपित कर्म विपाक के सिद्धान्त में थोड़ी विलक्षणता आ गई है । गुरु नानक वाणी में कर्म-विपाक के साथ-साथ परमात्मा के हुक्म का सम्मिलन इसकी महती विशेषता है । कर्म-विपाक तथा परमात्मा का हुक्म देखने में एक दूसरे के विरोधी होने पर भी एक दूसरे के पूरक हैं । गुरु नानक वाणी में अहंयुक्त कर्म, कर्म-काण्डीय कर्म तथा त्रिगुणात्मक कर्मों का नितरां विरोध करते हुए इन्हें बन्धन का कारण माना गया है जब कि वेदों में कर्म-काण्डीय कर्मों का विरोध नहीं है । उपनिषदों में अवश्य कर्मकाण्ड के विरुद्ध आवाज़ सुनाई पड़ती है । वैदिक मान्यता के अनुसार वर्तमान कर्मों को जीव में लिपायमान होने से रोका जा सकता है परन्तु पूर्व जन्मकृत कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है परन्तु गुरु नानक देव जी की यह मान्यता है कि पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों को भी ज्ञानाग्नि से दग्ध कर उनके फलोपभोग से बचा जा सकता है ।

4·4 पुनर्जन्म -

पुनर्जन्म भारतीय धर्म एवं दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक सिद्धान्त है । आज के वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी युग में उच्च बुद्धिवादी स्तर पर स्थित अधिकतर लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं । चार्वाक की तरह उनका भी यही मत है कि उनका पंचभौतिक शरीर ही उनका वास्तविक स्वरूप है तथा शरीर के नष्ट हो जाने पर उनका अस्तित्व भी विलीन हो जाता है । इस विषय में यह भी कहा जाता है कि जिस प्रकार माता-पिता के रज-वीर्य के संयोग से शरीर उत्पन्न हो जाता है वैसे ही रज-वीर्य के संयोग से आत्मा भी उत्पन्न हो जाता है । दूसरी बात यह भी है कि पुनर्जन्म के विषय में कोई प्रत्यक्ष

प्रमाण भी नहीं है । अत: इस विषय के लिए आप्त प्रमाण का ही आश्रय लेना पड़ता है । प्रस्तुत अनुच्छेद में वैदिक साहित्य में पुनर्जन्म की धारणा के विषय में आए उद्धरणों का विवेचन किया जाएगा तथा गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित पुनर्जन्म के सिद्धान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा ।

इस से पूर्व हम देख चुके हैं कि आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग एवं नरक को प्राप्त करता है । किन्तु ये लोक भी स्थायी नहीं हैं । कर्मों के क्षीण हो जाने पर आत्मा पुन: इह लोक में जन्म लेता है । आत्मा का इस लोक में पुन: शरीर धारण करना ही पुनर्जन्म कहलाता है । पुनर्जन्म के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है जिससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि मृत्यु के पश्चात् पुन: जन्म भी होता है ।

वैदिक संहिताओं में पुनर्जन्म पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश डालने वाली सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाती है, परन्तु पुनर्जन्म का स्पष्टतया उल्लेख उपनिषदों में ही हुआ है । कुछ विद्वानों ने संहिताओं में पुनर्जन्म संबन्धी सामग्री का अभाव माना है ।[1] उनका मत है कि संहिताओं में जन्मान्तर और मोक्ष की बात नहीं कही गई है । यह तो परवर्ती युग में हिन्दु धर्म में प्रविष्ट हुई है । जैसा कि बेबर ने लिखा है कि यह बात सर्वप्रथम छान्दोग्योपनिषद् तथा तदनुरूप बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलती है ।[2] परन्तु यह मत अधिक मान्य नहीं है क्योंकि वैदिक संहिताओं में पुनर्जन्म से सम्बन्धित कई उद्धरण पाए जाते हैं ।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में बहुत से ऐसे मन्त्र उपलब्ध होते हैं जिनमें पुनर्जन्म में के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है । इस मण्डल में एक सम्पूर्ण सूक्त (ऋ॰10॰177) में जीवात्मा और जन्मान्तर का विवरण है । वहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि मानस चक्षु से विद्वानों ने देखा कि जीवात्मा को माया आक्रान्त कर चुकी है । पण्डितों ने कहा कि यह समुद्र (परमात्मा) में घटित हो रहा है । ज्ञानवान् परमात्मा की ज्योति में जाने की इच्छा करते हैं । जीवात्मा को गर्भ में ही गन्धर्वों ने

---

1. भारतीय दर्शन, संपा; नन्द किशोर देवराज, पृ॰ 57
2. **The History of Indian Literature, A. Weber, p.73.**

वाक्य सिञ्चाया । अर्थात् गर्भावस्था में ही जीवात्मा को ईश्वरीय शक्ति के द्वारा बीज रूप में शब्द प्राप्त हो जाते हैं । तीसरे वा अन्तिम मन्त्र में बताया गया है कि जीवात्मा का पतन वा विनाश नहीं होता । वह कभी समीप और कभी दूर नाना योनियों में भ्रमण करता है । वह कभी अनेक वस्त्र (गुण) धारण करता है कभी कम । इस प्रकार संसार में वह बार-बार आता जाता है ।[1]

ऋग्वेद में जीवात्मा को अमर माना गया है ।[2] एक और स्थल पर भी व्यक्ति के एक अंश (आत्मा) को जन्म रहित और शाश्वत माना है ।[3] ऋग्वेद के ही एक मन्त्र में मृत व्यक्ति के नेत्रों को सूर्य में तथा श्वास को वायु में चले जाने को कहा है तथा पुण्य कर्मों को फल प्राप्त करने के लिए उसे आकाश, पृथ्वी एवं जलों ~~का~~ में जाने को कहा है तथा उसके अवयवों को वनस्पतियों में रहने को कहा है ।[4] इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि यह पंचभौतिक शरीर मृत्यु के पश्चात् अपने-अपने तत्त्वों में विलीन हो जाता है और आत्मा अपने किए हुए पुण्यों या पापों को भोगने के लिए पुन: शरीर धारण करता है । ऐसा भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आत्मा को कर्म-फल प्राप्त करने के लिए आकाश में विचरण करने वाले पक्षी, पृथ्वी पर चलने वाले जीव या जलचरों के रूप में जन्म लेना पड़ता है या फिर बनस्पतियों के रूप में उसका जन्म होता है । एक और स्थल पर मृतकात्मा को पितरों के पास पहुँचने के लिए एवं पुन: शरीर धारण करने के लिए अग्नि देव से प्रार्थना की गई है ।[5]

ऋग्वेद में परमात्मा की एक शक्ति का नाम असुनीति कहा गया है जो दशम मण्डल के एक सूक्त की देवता है । असुनीति ही जीव को एक शरीर से दूसरे शरीर तक ले जाती है । इस लिए उस से प्रार्थना की गई है कि वह अगले

---

1. ऋ॰ 10·177·1-3
   तुलना - करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि । - जपु जी, गु॰ना॰र॰22
2. ऋ॰ 1·164·30
3. अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चि: ।। - ऋ॰ 10·16·4
4. सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा ।
   अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरै: ।।-ऋ॰10·16·3
5. अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभि: ।
   आयुर्वसान उप वेतु शेष: सं गच्छतां तन्वा जातवेद: ।। -ऋ॰10·16·5

जन्म में भी नेत्रादि समस्त इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल तथा पराक्रम आदि से युक्त शरीर हमें प्रदान करे । अगले जन्मों में भी वह हमें सुख प्रदान करे और ऐसी कृपा करे कि सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि हमारे लिए कल्याणकारी हों ।[1]

पुनर्जन्म क्यों होता है । आत्मा को विभिन्न योनियों में क्यों जाना पड़ता है । इस का उत्तर अस्यवामीय सूक्त के एक प्रसिद्ध मन्त्र में दिया गया है । जीवात्मा और परमात्मा मिल कर रहने वाले दो सखा संसार रूपी वृक्ष पर बैठे हैं । जीवात्मा उस वृक्ष के फलों का भक्षण करता है परन्तु परमात्मा न खाते हुए केवल द्रष्टा मात्र ही है ।[2] वृक्ष के फलों का आस्वादन ही भोगेच्छा का द्योतक है । भोगों में आसक्त होना ही बन्धन का कारण है । इस प्रकार जब तक वह सांसारिक भोगों में आसक्त रहता है, इनका आस्वादन करता रहता है, तब तक वह बन्धन में पड़ा रहता है, एक योनि से दूसरी योनि को प्राप्त होता रहता है । जब तक वह इस बन्धन को तोड़ नहीं लेता यह चक्र इसी प्रकार चलता रहता है । इस लिए ऋग्वेद में इस जन्म और पूर्व जन्म के पापों से शून्य होकर पवित्र बनने के लिए कहा गया है ।[3]

ऊपर हमने देखा कि जीवात्मा को नया जन्म उसके कर्मों के अनुसार मिलता है । जीव जैसे कर्म करता है, उसी के अनुरूप उसे जीवन प्राप्त होता है । अच्छे कर्मों के करने से वह उच्चता की ओर जाता है और बुरे कर्म करने से निकृष्टता की ओर । इसी बात को ऋग्वेद में स्पष्ट किया गया है "जो नीचे थे वह ऊपर पहुंच जाते हैं और जो ऊपर थे वे नीचे आ जाते हैं । इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा जो कर्म करता है, वे धुरे की तरह संयुक्त होकर इसे लोक-लोकान्तर में एक योनि

---

1. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
   ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृड़या नः स्वस्ति ।। -ऋ॰10॰59॰6
2. पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम् ।
   पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः ।। -ऋ॰10॰59॰7
3. ऋ॰ 10॰18॰2

से दूसरी योनि तक ले जाते हैं ।[1] इस प्रकार यह जीव ऊपर-नीचे, अवर एवं परले पथों से विचरण करता है । यह अनुकूल प्रतिकूल आदि दशाओं को अपनाता हुआ भुवनों के अन्दर बार-बार आया जाया करता है ।[2] दु:खों में पड़ा हुआ यह सब कुछ भूल जाता है, यहाँ तक कि इसे अपना भी स्मरण नहीं रहता । वह अपने आप को भी शरीर समझने लग जाता है, शरीर के अतिरिक्त उसे अपना अस्तित्व नहीं सूझता । तब वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि उस पर कृपा करें तथा उसे ऋत की प्रथमजा को प्राप्त कराएं तभी इस वाणी का भाग भोग्य बन सकेगा ।[3]

यजुर्वेद और अथर्ववेद में पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है । यजुर्वेद के एक मन्त्र में आयु तथा मन, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की पुन: प्राप्ति के साथ आत्मा के पुनरागमन की बात कही गई है ।[4] जीव जैसे कर्म करता है उसी के अनुसार उसकी गति होती है । मर्त्य मनुष्य अपने शुभ कर्मों के अनुसार पुण्य फल भोगने के लिए दो मार्गों से जाते हैं । एक पितृयान तथा दूसरे देवयान से । पिता आकाश तथा माता पृथ्वी के बीच यह जो गतिशील है इन्हीं दो भागों में समा जाता है । पितृयान से जाने वाले मर्त्य पुन: पुन: जन्म ग्रहण करते हैं जब कि देव यान गति को प्राप्त हुए मर्त्यों का आवागमन समाप्त हो जाता है ।[5] वास्तव में देवयान और पितृयान सूर्य की ही दो गतियों के नाम हैं । उत्तरायण को देवयान या देव मार्ग कहा गया है तथा दक्षिणायन को पितृयान या पितृ मार्ग ।

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में आत्मा मनुष्य और पशवादि योनियों में ही नहीं

---

1. ये अर्वाञ्चस्तां उ पराच आहुर्ये परा-चस्तां उ अर्वाच आहु: ।
   इन्द्रश्च या चकृथु: सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ।। -ऋ॰ 1॰164॰19
2. अपश्यं गोपामनिपद्यमान मा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
   स सध्रीची: स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्त: ।। -ऋ॰ 1॰164॰31
3. ऋ॰ 1॰164॰37
4. पुनर्मन: पुनरायुर्म आगन् पुन: प्राण: पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षु:
   पुन: श्रोत्रम्म आगन् । - यजु॰ 4॰15
5. यजु॰ 19॰47

प्रत्युत जलचरों की योनियों में भी जाती हुई मानी गई है । इसके अतिरिक्त जल, ओषधि तथा वनस्पति आदि नाना स्थानों में भ्रमण और निवास करता हुआ बार-बार जन्म धारण करता है । इन सभी के गर्भ में रहकर जीव पुन: मानव योनि में आता है । इन भोग योनियों में रहने के उपरान्त उसे कर्म करने के लिए मानव योनि प्राप्त होती है ।[1] मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है उन्हीं के अनुरूप उसे पुन: जन्म धारण करना पड़ता है । इसीलिए जब मनुष्य का अन्तिम समय समीप आ जाता है तो उसे अपने कर्मों का स्मरण करते हुए ईश्वर नाम "ओम्" का उच्चारण करना चाहिए ।[2]

पुनर्जन्म विषयक धारणा के तत्त्व हमें अथर्ववेद में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं । वहाँ शरीर के साथ एक अमर्त्य तत्त्व (आत्मा) का वर्णन किया गया है । एक अमर तत्त्व दूसरे मरणशील तत्त्व के साथ एक स्थान पर रहकर, अपनी स्वधा शक्ति से बन्ध कर ऊपर नीचे विभिन्न योनियों में जाता है । उनमें से एक तत्त्व (शरीर) को लोग प्रत्यक्ष देखते हैं और दूसरे तत्त्व (आत्मा) को नहीं देख पाते ।[3] परन्तु इस से पूर्व यह मन्त्र ऋग्वेद १०१६४०३८ में भी प्राप्त हो जाता है । अथर्ववेद के एक मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि दूसरे जन्म में भी इन्द्रिय, आत्मा, धन और ब्राह्मण्य (रहस्य ज्ञान) तथा धिष्ण्यों की अग्नियाँ यथा स्थान प्राप्त हों ।[4] विभिन्न योनियों को प्राप्त करने वाला आत्मा पूर्व जन्म कृत पाप पुण्यों के अनुसार आगामी जन्म में शरीर धारण करता है । धर्माचरण से उत्तम शरीर तथा निकृष्ट कर्म करने से नीच योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ता है ।[5] आत्मा पहले देवताओं के अन्दर गर्भ बन कर फिरता है फिर आकार धारण कर विद्यमान हुआ ही जन्म धारण करता है । वही कर्म प्रेरणा से पिता द्वारा पुत्र शरीर में प्रविष्ट हो जाता है ।[6] एक और मन्त्र में प्राणों के नेता असुनीति से प्रार्थना की गई है कि

---

1. यजु० १२३६-३९
2. ॐ क्रतो स्मर क्लिबे स्मर ।। - यजु० ४०१७
3. अथर्व० ९१०१६; ऋ० १०१६४३८
4. पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
   पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थान कल्पयन्तामिहैव । - अथर्व० ७१६७१
5. अथर्व० ५१२
6. अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूत: स उ जायते पुन: ।
   स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभि: ।। -अथर्व०११४२०

जो हमारे पितर, पिता, पितामह आदि अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हैं उन के लिए हमारी कामना के अनुरूप शरीर बनावें ।[1] इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में पितृयान तथा देवयान मार्गों का भी वर्णन आया है जिनके माध्यम से इस लोक में ऋण मुक्त हो कर परलोक तथा तीसरे लोक में जाया जाता है ।[2] इस प्रकार वैदिक संहिताओं में पुनर्जन्म सम्बन्धी प्राप्त सामग्री के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक काल में पुनर्जन्म का सिद्धान्त पूर्ण रूप से मान्य था ।

पुनर्जन्म सम्बन्धी जो सामग्री हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होती है वह संहिताओं में पाई जाने वाली विचारधारा से आगे नहीं निकल पाई । इस विषय में अधिकतर विवरण शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होता है । इस विषय में कीथ का विचार है कि शतपथ ब्राह्मण के कतिपय संदिग्ध संकेतों को छोड़कर पुनर्जन्म सिद्धान्त का प्राचीनतम संकेत हमें बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है ।[3]

उपनिषद् साहित्य में पुनर्जन्म का सिद्धान्त सविस्तार प्राप्य है । कठोपनिषद् का नचिकेता का वृत्तान्त इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालता है । नचिकेता ने अपने तृतीय वर के रूप में यमराज से मरणोपरान्त आत्मा की स्थिति के विषय में पूछा था ।[4] इस के उत्तर में यमराज ने यही बताया था कि यह चेतन आत्मा न जन्मता है न मरता है और न किसी को मारता है ।[5] छान्दोग्योपनिषद्

---

1. ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरर्वन्तरिक्षम् ।
   तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ।। - अथर्व॰18·3·59
2. अथर्व॰ 6·117·3
3. "वैदिक धर्म एवं दर्शन" ए॰बी॰ कीथ, अनुवादक सूर्यकान्त, पृ॰712
4. कठो॰ 1·1·20
5. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
   अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ 18 ॥ कठो॰
   द्रष्टव्य - न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।2·18
   अजो नित्यः शाश्वतो यं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।
   -गीता 2·20
   हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
   उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।। -कठो॰1·2·19
   द्रष्टव्य -
   य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।।
   उभौ नौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।। - गीता 2·19

में भी बताया गया है कि आत्मा से अलग हुआ शरीर मरता है, आत्मा नहीं ।[1] इस प्रकार यह आत्मा बार-बार शरीरों को धारण करता है तथा त्यागता है । यह मर्त्य खेती की तरह पकता है तथा पक कर गिर जाता है तथा खेती की तरह दोबारा उत्पन्न हो जाता है ।[2] पुनर्जन्म किसका होता है इस विषय में बताते हुए प्रश्नोपनिषद् में उल्लेख है कि तेज उदान है, इस लिए जिसके शरीर का तेज ठंडा हो जाता है, वह अपनी सभी इन्द्रियों समेत, जो उस समय मन में लीन हो गई थीं पुनर्जन्म को प्राप्त होता है ।[3] आत्मा का पुनर्जन्म उसके कर्मों के कारण होता है ।[4] बृहदारण्यकोपनिषद् में तो यह भी बता दिया गया है कि जीव अगले जन्म के लिए आश्रय ढूँढ कर ही पूर्व शरीर को त्यागता है ।[5] आगे जीव किस योनि में जाएगा, इस विषय में प्रश्नोपनिषद् में बताया गया है कि पुण्य करने से जीव देवलोक को जाता है और पाप करने से पाप लोक अर्थात् पशु, कीट, आदि नीच योनियों को प्राप्त होता है । पुण्य-पाप दोनों के होने पर मानव योनि को प्राप्त होता है ।[6] यहाँ तक कि कुछ आत्माएँ तो अपने कर्म और ज्ञानानुसार स्थावर भाव को भी प्राप्त होती हैं ।[7] इस प्रकार पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उपनिषदों में पूर्ण वर्णन मिलता है ।

गुरु नानक वाणी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मनुष्य के लिए अतीत जीवन उसके वर्तमान का ही अंग है और वर्तमान जीवन उसके भविष्य का आधार है ।

---

1. छान्दोग्य 6·11·3
2. सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव जायते पुनः ।।- कठो· 1·1·6
   द्रष्टव्य भास प्रणीत स्वप्नवास्वदत्तम् 6-10
   एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च ॥ 10 ॥
3. तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ 9 ॥
   - प्रश्नो· 3·9
4. बृहद्· 4·4·2
5. बृहद्· 4·4·3
6. अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ।। -प्रश्नो· 3·7
7. कठो· 2·2·7

जीवन का यह प्रवाह आदिकाल से चला आ रहा है । परमात्मा ने आवागमन की रचना करके ही सृष्टि की रचना की ।[1] उसी ने जन्म-मृत्यु का यह चक्र चलाया है ।[2] आसा राग की वार में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख है कि कर्त्ता ने इस जगत् की रचना की है और उसी ने यह पुनर्जन्म का चक्र चलाया है ।[3] इस प्रकार यह जन्म और मृत्यु उसी के आदेश के अनुसार हैं ।[4] उस के आदेश से ही जीव कई जन्मों में घूमता है ।[5] इस जीवात्मा का कई लोगों से मिलन होता है तथा कई लोगों से वियोग । इस ने अनेक बार जन्म धारण किए हैं । यह ज्ञात नहीं है कि यह कितनों का पिता बना है और कितनों का पुत्र । कितनों का गुरु बना है और कितनों का शिष्य । यह जीव कितनी योनियों में पड़ चुका है, इससे आगे पीछे गणना नहीं हो सकती । पीछे यह किन-किन वर्णों में जन्म ले चुका है और आगे किन-किन वर्णों में जाएगा यह भी किसी को ज्ञात नहीं ।[6]

पुनर्जन्म के सिद्धान्त को समझाने के लिए गुरु नानक देव जी ने रहट का दृष्टान्त दिया है । जिस प्रकार रहट के पात्रों की माला के चलने पर एक पात्र खाली होता रहता है और दूसरा भरता रहता है उसी प्रकार परमात्मा की सृष्टि का यह खेल लगातार चल रहा है । इस जगत् में कोई आ रहा है तो कोई जा रहा है ।[7] इस प्रकार यह आवागमन का चक्र सतत प्रवाहशील रहता है । इस पुनर्जन्म के

---

1. आवागउणु रचाइ उपाई मेदनी ।। - मलार म॰१, गु॰ना॰र॰ 722
2. जंमण मरणा आखीऐ तिनि करते कीआ ।। -आसा म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰252
   आवागउण तुधु आपि रचाइआ ।। - परभाती म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰762
3. जिनि करते कारण कीआ लिखिआ आवण जाणु ।। -आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 286
4. जंमणु मरणा हुकम है भाणै आवै जाइ ।। -आसा म॰१, वार, आ॰ग्र॰472
5. एहु जीउ बहुते जनम भरंमिआ ।। - आसा म॰१, वार, आ॰ग्र॰465
6. जुड़ि जुड़ि विछुड़ि विछुड़ि जुड़े ।। जीवि जीवि मुए मुए जीवे ।।
   केतिआ के बाप केतिआ के बेटे केते गुर चेले हुए ।।
   आगे पाछै गणत न आवै किआ जाती किआ हुणि हुए ।।-सारंग म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 684
7. जैसे हरहट की माला टिउलगत है इक सरवनी होर फेर भरीअत है ।
   तैसो ही इहु खेलु खसम का जिउ उस की वडिआई ।। - परभाती म॰१, पदा, गु॰ना॰र॰ 750

चक्र में जीव के वश में कुछ भी नहीं है । वह इस जगत् में तभी आता है, जब प्रभु उसे भेजता है तथा उसी के बुलाने पर लौट जाता है ।[1]

यह पुनर्जन्म का चक्र कैसे चलता है । जीव को बार-बार जन्म क्यों लेना पड़ता है । इस विषय में गुरु नानक वाणी में पर्याप्त विवरण उपलब्ध हो जाते हैं । वास्तव में आत्मा परमात्मा का ही एक अंश है । किन्तु जगत् में अवतरित होने के पश्चात् जीव अपनी वास्तविकता को भूल जाता है । इस का कारण गुरु नानक अहंभाव (हउमै) मानते हैं । इसी अहं भाव के कारण जीव को कष्ट सहन करने पड़ते हैं तथा पुनर्जन्म के चक्र में फंसना पड़ता है ।[2] इस प्रकार गुरु नानक वाणी के अनुसार जीव के आवागमन और जन्म-मरण का कारण अहंभाव ही है ।[3]

पुनर्जन्म का दूसरा कारण गुरु शब्द को न पहचानना है । मनमुख गुरु शब्द को पहचानते नहीं हैं । इसी दुर्बुद्धि के कारण बार-बार जन्म-मृत्यु के जाल में बँध जाते हैं ।[4] अनेक जन्मों में घूमने के बाद जीव को "शब्द" की पहचान होती है ।[5] जो व्यक्ति झूठ बोलता है, उसको भी पुनर्जन्म प्राप्त होता है ।[6] मनमुख मिथ्याभाषी होते हैं, सत्य उन्हें अच्छा नहीं लगता, द्वैत भाव में फंस कर वे भी इस लोक में आते-जाते रहते हैं ।[7]

पुनर्जन्म का कारण प्रभु-नाम का स्मरण न करना भी है ।[8] जो हरि-नाम स्मरण नहीं करते उन्हें भी बारम्बार जीना-मरना पड़ता है ।[9] हरि-नाम स्मरण के बिना बार-बार गर्भ योनि प्राप्त होती है ।[10] इसके अतिरिक्त पूर्व जन्म के

---

1. जा आए ता तिनहि पठाए चाले तिनै बुलाइ लइआ ।। -रामकली म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰470
2. हउमै खपहि जनमि मरि आवहि ।। - गउड़ी म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰176
3. हउ विचि आइआ हउ विचि गइआ ।।
   हउ विचि जम्मिआ हउ विचि मूआ ।।-आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰284
4. सबदि न भीजै साकता दुरमति आबनु जानु ।। -सिरीराग म॰१, पदा, गु॰ना॰र॰42
5. एहु जीउ बहुते जनम भरंमिआ ता सतिगुर सबदु सुणाइआ ।।-आसा म॰१ , वार, गु॰ना॰र॰280
6. कूड़ु कमावै आवै जावै ।। -आसा म॰१, पदा, गु॰ना॰र॰204
7. साकत कूड़े सचु न भावै ।। दुबिधा बाधा आवै जावै।।-माझ म॰१, गु॰ना॰र॰100
8. विणु नावै दुखु पाइ आवण जाणिआ ।। -माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰120
9. जिनि हरि हरि नामु न चेतिओ सु अउगुणि आवै जाइ ।।-सिरी राग म॰१, पदा, गु॰ना॰र॰46
10. बिनु सिमरन आवहि पुनि जावहि ग्रभ जोनी नरक मझारा है ।। -मारू म॰१, सो॰गु॰ना॰र॰590

कर्मों[1] अज्ञान[2] एवं मोह[3] के कारण भी जीव पुनर्जन्म के पाश में फँसता है ।

गुरु नानक वाणी में पुनर्जन्म से बचने के साधनों का भी उल्लेख हुआ है । सर्व प्रथम यह बात बताई गई है कि जिस प्रभु ने इस आवागमन की रचना की है, वही इस को स्थिर करने वाला है ।[4] आसा राग की अष्टपदी में यह प्रश्न उठाया गया है "आवणु जावणु किउ रहै किउ मेला होई ।" आगे इस का उत्तर देते हुए बताया गया है कि "आवणु जावणु तउ रहै पाईऐ गुरु पूरा" अर्थात् यह आवागमन का चक्र तभी समाप्त हो सकता है, जब पूर्ण गुरु प्राप्त हो जाए ।[5] गुरु से शिक्षा पाकर तदनुसार सत्य की कमाई कर आवागमन को रोका जा सकता है ।[6] इस प्रकार साधक का मन सत्यस्वरूप परमात्मा में लीन हो जाएगा तथा वह पुनर्जन्म से छूट जाएगा ।[7] इसके अतिरिक्त प्रभु नाम स्मरण से[8] तथा सत्य स्वरूप प्रभु को जान कर उस में विलीन हो जाने से भी जन्म-मरण के चक्र को समाप्त किया जा सकता है ।[9]

उपरोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि गुरु नानक देव द्वारा निरूपित पुनर्जन्म का सिद्धान्त वेदों के अनुरूप ही है । वेदों में जो इसके बीज प्राप्त होते हैं वही बीज गुरु नानक वाणी में आकर विस्तार को प्राप्त हो गए हैं । गुरु

---

1. आवै जाइ भवाईऐ पइऐ किरति कमाइ ।। -सिरी राग म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 74
2. मारू म॰१, सो॰ 9, गु॰ना॰र॰ 588
3. एतु मोहि फिरि जूनी पाहि ।। - आसा म॰१, आ॰ग्र॰ 356
4. आवागउणु सिरजिआ तू थिरु करणै हारो ।
   - वडहंस म॰१, दखणी, गु॰ना॰र॰ 336
5. आसा म॰१, अस॰ 22, गु॰ना॰र॰ 258
6. गुरमुखि कोई सचु कमावै ।। आवणु जाणा ठाकि रहावै ।।
   - प्रभाती म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰ 768
7. सचे सिउ चितु लाइ बहुड़ि न आईऐ ।। आसा म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰ 250
8. जनम मरण दुख मेटिआ जपि नामु मुरारे ।। - आसा म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰ 260
9. माझ म॰१, अस॰ १॰7, गु॰ना॰र॰ 100

नानक वाणी में पुनर्जन्म के साथ-साथ उसका कारण और उससे बचने के उपाय भी सुझाए गए हैं । गुरु नानक वाणी का वैशिष्ट्य इस बात में है कि यह पुनर्जन्म से छूटने के बहुत सरल एवं उपयोगी उपाय बताती है तथा परमात्मा को ही आवागमन के चक्र का स्रष्टा एवं स्थापयिता मानती है ।

= = = = = =

पंचम अध्याय

वैदिक दर्शन और गुरु नानक वाणी

पिछले दो अध्यायों में धर्म के विषय में विचार किया गया है । धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने से, शुभ कर्म करने से, सदाचार का पालन करने से मनुष्य परमात्मा का सामीप्य स्थापित कर लेता है तथा अपने जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पा लेता है । धर्म के पथ पर मनुष्य श्रद्धा और विश्वास के कारण चलता रहता है । परन्तु कभी-कभी उसके अन्त:करण में ऐसे प्रश्न उठते हैं कि ये पूजा-पाठ तथा धर्मानुष्ठान क्यों किए जाते हैं, क्या इन से परम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है, क्या मृत्यु के पश्चात् भी मनुष्य का कोई अंश बचा रहता है, यह जगत् कैसे और कब सत्ता में आया, इस जगतीतल पर यह सब व्यवस्था कौन कर रहा है, उस परमतत्त्व का स्वरूप क्या है तथा उसे प्राप्त कैसे किया जा सकता है । इस तरह के प्रश्नों पर चिन्तन करना तथा इनका कोई युक्ति-पूर्ण उत्तर देना ही दर्शन है । प्रस्तुत अध्याय में दर्शन-शास्त्र के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया जाएगा तथा वेदों एवं गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित उन के स्वरूप का निरूपण किया जाएगा ।

5.1 दर्शन का अर्थ -

दर्शन भारतीय वाङ्मय का बहुत प्रसिद्ध शब्द है तथा भारतीय वाङ्मय में यह विशेष अर्थ रखता है । पाश्चात्य विचारशास्त्र में इसके समानान्तर फ़िलासफ़ी (Philosophy) शब्द पाया जाता है । शब्दोत्पत्ति के आधार पर फ़िलासफ़ी शब्द दो यूनानी शब्दों "फ़िलास" (Philos) - प्रेम या अनुराग तथा "सोफ़िया" (Sophia) -विद्या, के सम्मिश्रण से बना हुआ है । अत: इस शब्द का अर्थ है विद्यानुराग । यह अनुराग किसी भी विद्या से हो सकता है । परन्तु सुप्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने अपने समय के प्रसिद्ध विज्ञान आदि विषयों के व्याख्याता "सोफ़िस्ट" (ज्ञानोपदेशक) लोगों से अपने को पृथक् करने के लिए अपने आप को फ़िलासफ़र बताया था।[1] जगतीतल के चेतन और अचेतन पदार्थों के बाहरी एवं

---

1. भारतीय दर्शन, पं. बलदेव उपाध्याय, पृ.6

स्थूल भाव पर बाहर से विचार करने वाले शास्त्र को विज्ञान और भीतरी एवं सूक्ष्म भाव पर भीतर से निर्णय करने वाले शास्त्र को दर्शन कहते हैं ।[1]

दर्शन शब्द /दृश् (देखना) धातु से करण अर्थ में ल्युट प्रत्यय करने से बनता है । इसका अर्थ है "जिसके द्वारा देखा जाए" । "मेदिनी" में इसका अर्थ करते हुए बताया गया है कि जिस के द्वारा यथार्थ तत्त्व देखा जाए उसे दर्शन कहते हैं ।[2] इस प्रकार इसका अर्थ हो जाएगा "जिस से किसी तत्त्व की यर्थार्थता का ज्ञान हो" वह दर्शन है । ज्ञान-प्राप्ति के भी अनेक उपाय हैं किन्तु सब से निश्चित उपाय प्रत्यक्ष (आंख से देखना) ज्ञान है । प्रत्यक्ष ज्ञान पांचों ज्ञानेन्द्रियों से हो सकता है परन्तु चक्षु रूपी ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा प्राप्त ज्ञान सबसे प्रामाणिक माना जाता है । फिर भी, किसी भी ज्ञान इन्द्रिय से ज्ञान प्राप्त करना दर्शन कहलाता है । अत: दर्शन शब्द का अर्थ हो जाएगा "किसी भी पदार्थ को यथार्थतया देखना या उसका यथार्थतया ज्ञान प्राप्त करना ।[3]

यदि नेत्रों द्वारा देखने को ही दर्शन मान लिया जाए तो बहुत से तत्त्व ऐसे हैं जो दर्शन का विषय नहीं बन सकते । जैसे बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं प्राकृतिक जगत् के बहुत से तत्त्व इतने सूक्ष्म हैं जिन्हें चक्षु से देखना नितान्त असम्भव है, परन्तु वे दर्शन-शास्त्र के विषय हैं । उन्हें देखने के लिए मनुष्य के पास एक विशेष चक्षु होती है जिसे साधारणत: "प्रज्ञाचक्षु" या "ज्ञानचक्षु" कहते हैं । यही चक्षु भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विश्वरूप देखने के लिए प्रदान की थी । इस चक्षु का उन्मीलन तपस्या, भक्ति एवं ईश्वर-कृपा से होता है । या फिर इस की प्राप्ति जीवन काल में मरने (जीवत-मरणा) से हो सकती है ।[4] ऐसी अवस्था में व्यक्ति

---

1. हिन्दु धर्म कोश, डा॰ राजबली पाण्डेय, पृ॰315
2. दृश्यते यथार्थ तत्त्वमनेनेति । - मेदिनी, 73
3. दृश्यते यथार्थतया ज्ञायते पदार्थो नेन करणे ल्युट । - वाचस्पत्यम्, पृ॰3434
4. 'जीवत-मरणा' गुरु वाणी का एक विशेष शब्द है जिसका भाव है कि अपने जीवनकाल में अहंकार का परित्याग करना, दुनियां को सराय समझ कर अपने को मुसाफिर समझना, ईश्वरीय आदेश मानना, क्षमा, धैर्य को धारण करना परोपकार करना तथा मोह का त्याग करना; यह दशा 'जीवत-मरणा' की है । "गुरमत प्रभाकर" भाई कान्ह सिंह नाभा, पृ॰260

को प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान प्राप्त हो सकता है । वह आंखों के बिना देख सकता है तथा कानों के बिना सुन सकता है । उसके लिए पैरों के बिना चलना, हाथों के बिना कार्य करना तथा जिह्वा के बिना बोलना, सब कुछ सम्भव है ।[1] अत: दर्शन के लिए दोनों तरह के नेत्रों की आवश्यकता है । स्थूल तत्त्वों को स्थूल नेत्रों से तथा सूक्ष्म तत्त्वों को सूक्ष्म नेत्रों से जाना जाता है ।

वस्तुत: हमारी ज्ञानेन्द्रियां बाहर की ओर खुलती हैं तथा ये बाहरी जगत् का ज्ञान प्राप्त कराती हैं । परन्तु कभी-कभी आत्म-चिन्तन से मनुष्य का ध्यान अन्तर्मुख हो जाता है और वह एक अद्वितीय स्थिति का अनुभव करने लगता है । शुरू में यह अनुभव अस्पष्ट होता है, फिर उसे स्पष्ट करने का यत्न किया जाता है, उसका तार्किक अनुसन्धान किया जाता है । इस अनुभव की तार्किक अभिव्यक्ति ही दर्शन है । दार्शनिक तौर पर "स्वयं के आन्तरिक अनुभव को प्रमाणित करना तथा उसे तर्क-संगत ढंग से प्रचारित करना" दर्शन कहलाता है ।[2] दर्शन-शास्त्र में मुख्यत: आत्मा-परमात्मा, रचना-रचयिता, पुरुष-प्रकृति एवं मोक्ष-बन्धन आदि विषयों का विवेचन किया जाता है । बृहत् हिन्दी कोश में तत्त्व-ज्ञान कराने वाले उस शास्त्र को दर्शन माना गया है जिसमें आत्मा, अनात्मा, जीव, ब्रह्म, प्रकृति, पुरुष, जगत्, धर्म, मोक्ष तथा मानवजीवन के उद्देश्य आदि का निरूपण हो ।[3] फ्रांसिस बेकन के अनुसार "दर्शन में इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संस्कारों की सैद्धान्तिक धारणाओं पर विचार किया जाता है । सत्ता और प्रकृति के नियम के अनुसार इन धारणाओं का संघटन और विभाजन करना ही दर्शन का उद्देश्य है ।[4] रेने देकार्त ने कलाओं के ज्ञान को भी दर्शन माना है ।

---

1. अखी बाझहु वेखणा विणु कना सुनणा ।
   पैरा बाझहु चलणा विणु हथा करणा ।।
   जीभै बाझहु बोलणा इउ जीवत मरणा ।
   नानक हुकमु पछाणिके तउ खसमै मिलणा ।। - माझ म॰2, वार,आ॰ग्र॰139
2. हिन्दु धर्म कोश, डा॰ राजबली पाण्डेय, पृ॰315
3. बृहत् हिन्दी कोश, पृ॰612
4. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, फ्रैंक थिली, अनु॰ मधुकर, पृ॰11

उन के अनुसार मनुष्य अपने जीवन के आचारीय विषय, अपने स्वास्थ्य को बनाए रखने और सब कलाओं की खोज के विषय में जो कुछ जान सकता है, दर्शन उसका पूर्ण ज्ञान है ।[1]

पाश्चात्य दर्शन में चाहे कितनी भी कलाओं का समावेश हो परन्तु भारतीय दर्शन का मुख्य उद्देश्य दु:खत्रय से छुटकारा पाना है । भारतीय दर्शन वास्तविकता को प्रत्यक्ष कराने का मार्ग है । इसीलिए भारतीय धर्म एवं दर्शन एक दूसरे के बहुत समीप हैं तथा दोनों ही मनुष्य को मोक्ष का मार्ग दिखाते हैं । धर्म मानव जीवन को जीने का ढंग बताता है तथा दर्शन जीवन के उद्देश्य की खोज करता है ।

5·2 वैदिक दर्शन का स्वरूप -

वेद वह ज्ञान है जिसका वैदिक ऋषियों ने "अभय ज्योति" के रूप में साक्षात्कार किया था तथा बाद में उसे शब्दों के द्वारा मन्त्र रूप में प्रकाशित किया था । वेद में लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार के तत्त्वों का समावेश है और परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए इन दोनों तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है ।

विद्वज्जनों का विचार है कि दर्शन का आरम्भ जिज्ञासा की पूर्ति के लिए होता है । इस विषय में अफलातून (Plato) का मत है कि दर्शन का आरम्भ आश्चर्य (Wonder) अथवा कुतूहल या जिज्ञासा में होता है ।[2] वेदों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन ऋषियों को भी प्रकृति की अद्भुत शक्तियों को देखकर उन के विषय में आश्चर्य हुआ था तथा उन्होंने उन शक्तियों को जानने की जिज्ञासा की थी ।

ऋग्वेद के सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त देव इन्द्र के विषय में भी लोगों को जिज्ञासा होने लगी थी कि वे कहां हैं ।[3] इसी प्रकार अग्नि के विषय में भी पूछा जाने लगा कि वे कौन हैं और कहां रहते हैं ।[4] तब देवताओं की उत्पत्ति

1· पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, फ्रैंक थिली, अनु· मधुकर, पृ·26

2· दर्शन-शास्त्र के मूल तत्त्व, ब्रजगोपाल तिवारी, पृ·1

3· यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति·····। - ऋ· 2·12·5

4· कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाशवध्वर: । को ह कस्मिन्नसि श्रित: ।।
- ऋ· 1·75·3

के विषय में भी प्रश्न किए जाने लगे थे । ऋग्वेद में मरुत्तों के विषय में प्रश्न किया गया है कि उन की उत्पत्ति को कौन जानता है ।[1] अथर्ववेद में प्रश्न उठाया गया है कि इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा और धाता किससे उत्पन्न हुए ।[2]

देवताओं के उपरान्त मनुष्य को मानव जाति के विषय में जिज्ञासा होने लगी । मन की अलौकिकता को देख कर उसे मन की उत्पत्ति के विषय में जिज्ञासा हुई ।[3] तब उसे इस बात से भी आश्चर्य हुआ कि अस्थिरहित प्रकृति से यह अस्थियुक्त संसार कैसे उत्पन्न हुआ । प्राणियों के शरीर, रक्त तथा प्राण तो पृथ्वी से उत्पन्न हुए परन्तु आत्मा कहां से उत्पन्न हुई ।[4] इसी प्रकार अथर्ववेद में भी पूछा गया है कि मनुष्य के केश, नाड़ियां, हड्डियां, अंग, जोड़, मज्जा तथा मांस को कौन कहां से लाया ।[5] दशम काण्ड में यह प्रश्न किया गया है कि मनुष्य को किस ने बनाया ।[6]

वेदों में जीवात्मा तथा परमात्मा का वर्णन हुआ है तथा साथ ही उनके आपस में सम्बन्ध के विषय में भी प्रकाश डाला गया है । जीवात्मा और परमात्मा एक ही संसार रूपी वृक्ष पर निवास करने वाले दो सखा हैं । जीवात्मा इस संसार के भोगों में आसक्त भोक्ता है तथा परमात्मा इस संसार रूपी वृक्ष का प्रेक्षक मात्र है ।[7]

सृष्टिवाद दर्शन-शास्त्र का बहुचर्चित विषय है । इस विषय में भी हमें वेदों में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है । ऋग्वेद में देवताओं की स्तुति करते हुए इन्द्र, अग्नि, सोम तथा वरुण आदि देवों से जगत् की सृष्टि मानी गई है।

---

1. को वेद जानमेषां को वा पुरा सुम्नेष्वास मरुताम् । - ऋ॰5॰53॰1
2. कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत ।
   कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत ।। -अथर्व॰ ।।॰8॰8
3. देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ।। - ऋ॰ 1॰164॰18
4. ऋ॰ 1॰164॰4
5. कुतः केशान् कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत् ।
   अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मासं कुत आभरत् ।। अथर्व॰ 11॰8॰12.
6. अथर्व॰ 10॰2 इस सूक्त में मनुष्य के एक-एक अंग को लेकर प्रश्न किया गया है कि उसे किसने बनाया है ।
7. ऋ॰ 1॰164॰20

परन्तु यह तो केवल देवताओं की स्तुति मात्र है । सृष्टिवाद के विषय में विशद वर्णन नारदीय सूक्त में प्राप्त होता है जिसमें ब्रह्माण्ड बनने की प्रकृति के विषय में गम्भीर प्रश्न उठाया गया है तथा उसकी गहराई में जाने का प्रयत्न किया गया है । इस जगत् से पूर्व की अवस्था का वर्णन करते हुए बताया गया है कि उस समय न असत् था न सत् था, न अन्तरिक्ष था न व्योम । प्रश्न किया गया है कि आवरक तत्त्व क्या था । क्या गहन और गम्भीर जल था । उस समय न मृत्यु थी न अमृत था, न दिन था न रात्रि । तब केवल एक तत्त्व था जो बिना प्राण वायु के भी अपनी स्वधा शक्ति से सांस ले रहा था । इस के अतिरिक्त गहन अन्धकार था तथा अप्रकेत सलिल था । सर्वप्रथम तप के प्रभाव से तुच्छ्य से आवेष्टित एक जीवित तत्त्व का उदय हुआ । तब उस परम तत्त्व के मन में सृष्टि का प्रथम बीज, काम,उत्पन्न हुआ । विद्वान् लोगों ने अपने अन्त:करण में विचार करके अविद्यमान वस्तु से विद्यमान वस्तु का स्थान निरूपित किया ।

सृष्टिवाद के विषय में अन्यत्र भी प्रश्न उठाए गए हैं कि वह कौन सा वन और कौन सा वृक्ष था जिस से द्यावा-पृथ्वी का निर्माण किया गया ।[1] सृष्टिकाल में सृष्टि के निर्माता का आश्रय क्या था । कहाँ से और कैसे उन्होंने सृष्टिकार्य आरम्भ किया तथा किस स्थान पर रह कर पृथ्वी तथा आकाश का निर्माण किया ।[2]

सृष्टिवाद के विषय में इसी तरह के प्रश्न अथर्ववेद में भी पाए जाते हैं । इस विषय में अथर्ववेद का दशम काण्ड बहुत महत्त्वपूर्ण है जिस में यह प्रश्न उठाया गया है कि किस ने जलों को साथ-साथ फैलाया । किस ने दिन को चमकने के लिए बनाया, किस ने उषा को प्रदीप्त किया, किस से सांझ का आना हुआ ।[3] किस से यह भूमि बनाई गई, किससे द्यौ ऊपर रखी गई, किस से यह फैला हुआ अन्तरिक्ष ऊँचा और तिरछा रखा गया है ।[4] अन्त में इस का उत्तर देते हुए बताया गया है कि ब्रह्म से ही इन सभी का निर्माण किया गया है तथा वही इन्हें धारण करता है ।

---

1. किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु: ।
   मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ।।-ऋ॰ 10·81·4
2. ऋ॰ 10·81·2
3. केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रचे ।
   उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ।। -अथर्व॰ 10·2·16
4. अथर्व॰ 10·2·24
5. वही, 10·2·25

ऋग्वेद में और भी अनेकों ऐसे संकेत प्राप्त होते हैं जिन से दर्शन का आरम्भ होता है । जैसे एक मन्त्र में पूछा गया है कि उस सत्यभूत अर्थ को कौन जानता है । कौन उस जाने हुए अर्थ को बोलेगा । कौन समीचीन पथ देवताओं के समीप ले जाता है ।[1] ये सारे विषय दर्शन से ही सम्बन्धित हैं ।

वेद का दूसरा भाग "ब्राह्मण" है । प्रत्येक वेद का अपना-अपना ब्राह्मण है । ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण काल में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना पूर्णरूपेण हो गई थी । इसके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञविधान का विशेष विचार प्राप्त होता है । लगभग सभी ब्राह्मण ग्रन्थ तत्त्वत: यज्ञ सिद्धान्त से संबद्ध हैं । यज्ञ का महत्त्व केवल इतना ही नहीं कि देवता को उद्देश्य करके अग्नि में आहुति डाल दी जाए, परन्तु ब्राह्मण साहित्य में तो यज्ञ को विश्व के नियामक तत्त्व के रूप में ग्रहण किया गया है । सम्पूर्ण विश्व को ही यज्ञ का रूप माना गया है । ब्राह्मण काल के पुरोहित लोगों ने शेष सभी बातों को त्याग कर यज्ञ के प्रति विशेष आग्रह दिखाया है । उनकी ज्ञान-चर्चा का विषय भी ब्रह्मण्ड, देवता एवं मनुष्यों के साथ यज्ञ का संबन्ध स्थापित करना ही बन गया है । जिसके फल-स्वरूप ब्राह्मण ग्रन्थों में दार्शनिक विचारों का विशेष वर्णन नहीं हो पाया है । विचारों में विविधता होने के कारण किसी दार्शनिक विचारधारा को खोज निकालना भी टेढ़ी खीर है । इस विषय में ए॰बी॰ कीथ लिखते हैं, "दर्शन के स्रोत रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों का निश्चय के साथ मूल्यांकन करना कठिन है । ऐसे भी प्रबन्ध हैं जिनमें पुरोहितों की क्रमागत पीढ़ियों की मनगढ़न्त को निर्बाध-रूपेण व्यक्त होने दिया है: उनकी धारणाओं में कोई सामंजस्य नहीं है और निश्चय के साथ तो यह भी कहा जा सकता है कि कोई भी बड़ा ब्राह्मण ग्रन्थ किसी एक मस्तिष्क की उपज नहीं है ।"[2]

ब्राह्मणों की तरह प्रत्येक वेद का अपना-अपना आरण्यक है । येग्रन्थ ब्राह्मणों के सहायक हैं, यहाँ तक कि बहुत से आरण्यक तो ब्राह्मण ग्रन्थों के ही

1॰ को अद्धा वेद क इह प्र वोचद् देवां अच्छा पथ्या का समेति ।
ददृश्र एषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ।। - ऋ॰ 3॰54॰5

2॰ वैदिक धर्म एवं दर्शन, ए॰बी॰ कीथ, अनु॰ सूर्यकान्त, पृ॰548

भाग हैं । आरण्यकों में यज्ञ-रहस्य की यथार्थ मीमांसा करते हुए उनकी दार्शनिक व्याख्या की गई है । आरण्यक वेद और उपनिषदों के बीच की कड़ी हैं । इनके विवेचन से ज्ञात होता है लोग पुरोहितों की कट्टरता तथा याज्ञिक कर्म-काण्ड से उब कर अब ज्ञान मार्ग की ओर आकृष्ट हो रहे थे । अत: ज्ञान और कर्म के समन्वय की जो बात उपनिषद् काल में विशेष रूप से पाई जाती है, उसका आरम्भ आरण्यकों में ही हो गया था । इन ग्रन्थों में दार्शनिक विचारों का विशेष वर्णन है यही कारण है कि कतिपय प्रमुख उपनिषदें, आरण्यकों की ही भाग हैं । आरण्यकों में मुख्यत: क्रम-भावना के साथ-साथ आत्म-भावना का भी उदय हो गया था। ऐतरेय आरण्यक में तो चिद्-रूप पुरुष या ब्रह्म के साथ आत्मा को अभिन्न माना गया है ।[1]

वेद का अन्तिम भाग उपनिषद् हैं जिन्हें ज्ञान काण्ड या वेदान्त (वेद + अन्त) भी कहा जाता है । प्रथम तीन भागों में प्रधानत्या स्तुति, यज्ञ और प्रार्थना का वर्णन है । इन में ज्ञान की बातें अपेक्षाकृत कम हैं तथा साधारण रूप से ही कही गई हैं । इन में किसी प्रकार के तर्क-वितर्क का कोई स्थान नहीं है । उपनिषदों में तर्क एवं युक्ति-पूर्वक आत्मा के स्वरूप का परिचय करवाया गया है । उपनिषदों में आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए उपासना का विचार भी प्राप्त हो जाता है । मुख्यत: गुरु-शिष्य के कथनोपकथन के रूप में ज्ञान की बातें सिखलाई गई हैं तथा आध्यात्मिक विद्या के गूढ़तम रहस्यों का विशद् विवेचन किया गया है । इस लिए वैदिक दर्शन के प्रधान एवं मूल ग्रन्थ इन्हें ही माना जाता है । भारतीय तत्त्वज्ञान का मूल स्रोत इन्हीं ग्रन्थ रत्नों में है । इसीलिए "प्रस्थानत्रयी" में इन्हें प्रथम स्थान गृहीत है । उपनिषदों की महिमा का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन एवं चार्वाक सदृश नास्तिक दर्शनों ने भी इन्हीं ग्रन्थों से विचार गृहीत किए हैं ।

उपनिषदों की संख्या पर विचार करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में प्रत्येक वैदिक शाखा को अपनी-अपनी उपनिषदें थीं, परन्तु आजकल उस में से 108 उपनिषदें ही प्राप्त होती हैं । कुछ वर्ष पूर्व मद्रास से लगभग साठ और उपनिषदों

---

1. ऐतरेय आरण्यक, 2·4·1, 3

को प्रकाशित किया गया था । इन सभी में मुख्यत: ग्यारह उपनिषदें मुख्य मानी जाती हैं जो विषय-प्रतिपादन की विशदता तथा प्राचीनता के कारण प्रामाणिक मानी जाती हैं । श्री शंकराचार्य ने भी इन्हीं पर भाष्य लिख कर इनकी प्रामाणिकता स्वीकार की है । ये उपनिषदें हैं–ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद् । ये ग्यारह उपनिषदें ही अधिक महत्त्वशाली एवं लोकप्रिय हैं तथा इन्हीं का पठन-पाठन अधिकतर होता है ।

उपनिषदों में कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है । उपनिषदों में कर्म को प्रेय तथा ज्ञान को श्रेय कहा गया है । प्रेय और श्रेय दोनों अलग-अलग फल प्रदान करने वाले हैं जो नानार्थ में मनुष्य को बांधते हैं, इनमें श्रेय को अपनाने वाला सदा के लिए सब प्रकार के दु:खों से छूट जाता है परन्तु प्रेय का वरण करने वाला अपने परमार्थ मार्ग से च्युत होकर वास्तविक सुख से भ्रष्ट हो जाता है ।[1] प्रेय मार्ग का वरण करने वाले, अविद्या में रहते हुए अपने आप को धीर एवं विद्वान् मानने वाले वे मूर्ख लोग संसार में उसी प्रकार भटकते फिरते हैं जिस प्रकार अन्धे के द्वारा ले जाया जाता हुआ अन्धा पुरुष ।[2] सांसारिक भोगों में आसक्त ये लोग इष्टापूर्त या यज्ञ को ही श्रेष्ठ मानते हुए श्रेय को नहीं जान पाते । परन्तु उपनिषदों में इस यज्ञ कर्म को अदृढ़ नाव के समान माना गया है तथा इन्हीं के आश्रित मनुष्य को बारंबार जन्म एवं मृत्यु को प्राप्त होने वाला बताया है ।[3]

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है आत्मा या ब्रह्म । इसी को ही आत्म-विद्या या ब्रह्म-विद्या कहते हैं । संहिता से लेकर आरण्यक-पर्यन्त ब्रह्म आत्मा से भिन्न रूप में विवेचित है, परन्तु उपनिषदों में दोनों में अभेद माना गया है । लगभग सभी प्रमुख उपनिषदें मुख्यत: ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करती हैं ।

यह सारा जंगम एवं स्थावर जगत् एक ईश्वर या ब्रह्म से परिपूर्ण है । छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े पदार्थ में ब्रह्म ही वासित है । यह जगत् उसी से

---

1. कठो॰ 1॰2॰1

2. अविद्यायामन्तरे वर्तमाना: स्वयं धीरा: पण्डितम्मन्यमाना: ।
   दन्द्रम्यमाणा: परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा: ।।
   -कठो॰ 1॰2॰5; मुण्ड॰ 1॰2॰8

3. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा·····।। - मुण्ड॰ 1॰2॰7

पूर्ण है । परमाकाश में प्रविष्ट वह ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त है । वह ही इस जगत् की रचना, पालन तथा अन्त में संहार करता है । जगत् की रचना के लिए उसे किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है । जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले को रचती है तथा बाद में निगल जाती है इसी प्रकार यह ब्रह्म भी जगत् की रचना करके अन्त में उसे अपने में ही लय कर लेता है । ब्रह्म का वर्णन करते हुए उपनिषदों में उसे अदृश्य, अग्राह्य, अगोचर, अगोत्र, अवर्ण, अरूप, अचक्षु, अश्रोत्र, अपाणिपाद्, अमूर्त, अभय, नित्य, विभु, सुसूक्ष्म, अव्यय, स्वयंभू और समस्त भूतों की प्रकृति माना गया है । उपनिषदों में उसके सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का वर्णन हुआ है ।

यही ब्रह्म या परमात्मा सभी प्राणियों में जीवात्मा के रूप में निवास करता है । यह आत्मा अविद्या अथवा अज्ञान के कारण बन्धन में पड़ जाता है तथा अपनी अलग सत्ता मानने लग जाता है । वस्तुत: आत्मा और परमात्मा में अभेद है । दोनों इस संसार रूपी वृक्ष पर समान रूप से निवास करते हैं । जीवात्मा इस संसार के भोगों में आसक्त हो जाता है तथा माया के कारण बन्धन में पड़ जाता है । परन्तु जब अज्ञान का पर्दा हट जाता है, तब उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है; जब वह परमात्मा की महिमा को जान लेता है तब पाप-पुण्य से निर्लिप्त हुआ वह परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित कर लेता है ।

यह आत्मा न जन्म लेता है न मरता है और न ही अवस्थादिकृत दोषों को प्राप्त होता है । यह अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है । शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह मरता नहीं है । यह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अगन्ध, पूर्ण, अखण्ड तथा ज्ञानस्वरूप है । यह सत्-असत्, सूक्ष्म-स्थूल, चल-अचल, अन्त:-बहि:, दूर-अन्तिक आदि विरोधी धर्मों को धारण करने वाला है । इसके अतिरिक्त भी आत्मा के अनेकों गुण उपनिषदों में वर्णित हैं ।

सृष्टि-विज्ञान के संबन्ध में भी उपनिषदों में प्रकाश डाला गया है । उपनिषदों में बताया गया है कि सृष्टि से पूर्व यहाँ कुछ भी नहीं था, केवल मृत्यु ही थी, उसी से यह संसार आच्छादित था । बाद में मन, जल, तेजस्, पृथ्वी और प्रजापति की सृष्टि हुई तथा इन के बाद शेष पदार्थों की रचना की गई ।[1]

---

1. बृहद्., 1.3.1

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि सर्व प्रथम असत् ही था; असत् से सत् तथा सत् से फिर द्यावापृथ्वी की रचना हुई ।

उपनिषदों में यह भी बताया गया है कि सृष्टि से पूर्व अव्यक्त रूप था, उससे व्यक्त रूप तथा व्यक्त से सारे जगत् की सृष्टि हुई । वह अव्यक्त रूप ही निर्गुण ब्रह्म या परब्रह्म है । इसी से सारा जगत् पैदा होता है, इसी में जीवन धारण करता है और अन्त में इसी में लय हो जाता है ।[1]

5·3 सृष्टिवाद

सुदूर प्राचीन काल से मनुष्य प्रकृति तथा अन्य सांसारिक दृश्यों को देखकर आश्चर्य में पड़ता रहा है तथा उन्हें समझने के लिए निरन्तर प्रयास करता रहा है, परन्तु तब से लेकर आज तक सृष्टिवाद एक अनोखी पहेली बना रहा है । विभिन्न मनीषियों, दार्शनिकों एवं तत्त्व-वेत्ता-विद्वानों ने इस समस्या को अपने-अपने ढंग, बुद्धि एवं कल्पना से सुलझाने का प्रयास किया है, परन्तु यह समस्या आज तक उसी रूप में बनी आ रही है । इस अत्यन्त गूढ़ पहेली को समझना तो एक ओर रहा, इस के एक अंश को समझना भी कठिन है । इस विषय में प्रसिद्ध दार्शनिक मेटरलिङ्क का कथन है, "इस विश्व के एक अणु का रहस्य भी जिस दिन मेरी समझ में आ सकेगा, उस दिन या तो यह विश्व समस्त वैचित्र्य से हीन श्मशान के तुल्य हो जाएगा या मेरा मस्तिष्क ही फटकर गिर पड़ेगा ।"[2]

सृष्टि-रचना से पूर्व की अवस्था -

सृष्टि की रचना के विषय में जानने से पूर्व सृष्टि के पूर्व तत्त्वों को जानना भी आवश्यक है । गुरु नानक वाणी में सृष्टि से पूर्व की अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में गुरु नानक वाणी में एक ऐसे समय की कल्पना की गई है जब ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप के अलावा किसी अन्य चीज़ का नाम-निशान तक नहीं था । सृष्टि-रचना से पूर्व की अवस्था एवं

1· सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति उपासीत । - छान्दो· 3·14·1।
तथा - तै·उ· 3·1

2· ऊरु ज्योति, डा· वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ·11 से संग्रहीत ।

शून्य की स्थिति के विषय में सिद्धों के प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु नानक देव ने बताया है कि सृष्टि के पूर्वकाल के सम्बन्ध में कथन करना विस्मयकर है, उस समय शून्य सतत अपने-आप में निवास कर रहा था।[1] यह काल युगों के आदि का समय है, जब सांसारिक प्रपंच एवं सृष्टि का प्रसार नहीं था। कई युगों तक निरंतर अंधकार फैला रहा। उस समय अपार प्रभु समाधि लगाकर अन्धकारमयी अवस्था (शून्यावस्था) में बैठा था।[2] इस काल की अवधि गुरु नानक वाणी में छत्तीस युग बताई गई है।[3] उस समय ब्रह्म शून्य समाधि में स्थित था, इससे भिन्न और कोई आकार नहीं था, जल, स्थल, पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चाँद, माया तथा प्रकाश आदि कुछ भी नहीं था।[4]

इस "अफुर" अवस्था वाले समय का चित्रण गुरु नानक वाणी में बहुत आलंकारिक भाषा में हुआ है। मारु राग में बताया गया है कि उस समय निरंकार "शून्य समाधि" में था तथा अगणित युगों पर्यन्त महान् अन्धकार एवं "हुक्म अपारा" था। उस समय धरती नहीं थी, आकाश नहीं था, अन्तरिक्ष नहीं था, दिन-रात नहीं थे, सूर्य-चान्द नहीं थे, वाणी नहीं थी, खाणी(व्यक्त जीवों की चार कोटियां) नहीं थीं, क्योंकि वायु और जल नहीं था। उत्पत्ति-प्रलय, जन्म-मृत्यु, खण्ड-ब्रह्माण्ड, नदी-सागर, स्वर्ग-नरक, पाताल एवं मर्त्य लोक नहीं थे। ब्रह्मा, विष्णु, महेश नहीं थे, स्त्री-पुरुष नहीं थे, जाति-पाँति नहीं थी, दु:ख-सुख नहीं थे,

---

1. आदि कउ कवन बीचारु कथीअले सुंन कहा घर वासो।
   आदि कउ विसमादु बीचारु कथीअले सुंन निरंतर वासु लीआ।। -रामकली म॰१, सिध गोसटि, गु॰ना॰र॰506

2. केतड़िआ जुग धुंधूकारै।
   ताड़ी लाई सिरजणहारै।। मारु म॰१, सो॰गु॰ना॰र॰ 576
   केते जुग वरते गुबारै। ताड़ी लाई अपर अपारै।।
   धुंधूकारि निरालमु बैठा ना तदि धुंधु पसारा हे।। - मारु म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰582

3. जुग छतीह गुबार तिसही भाइआ।। - मलार म॰१, वार, गु॰ना॰र॰720

4. सुंन समाधि रहहि लिव लागे एका एकी सबदु बीचार।
   जलु थलु धरणि गगनु तह नाही आपे आपु कीआ करतार।।
   ना तदि माइआ मगनु न छाइआ ना सूरज चंद न जोति अपार।।
   - गूजरी म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 314

धर्म-कर्म नहीं थे; यती, सतोगुणी, वनवासी, सिद्ध, साधक, योगी, संयमी, व्रत, पूजा, शौच, तुलसी-माला, गोपियाँ, कान्ह, तन्त्र, मन्त्र तथा पाखण्ड नहीं थे। माया-ममता, निन्दा-स्तुति, जीव-जन्तु, ज्ञान-ध्यान, वर्ण-वेश, ब्राह्मण-क्षत्रिय, हवन-यज्ञ, देव-दानव, ध्याता-ध्येय, मन्दिर-मस्जिद, भाव-भक्ति, शिव-शक्ति, राजा-प्रजा, वेद-कतेब, स्मृति-शास्त्र, गाय-गायत्री, सूर्योदय-सूर्यास्त आदि कुछ भी नहीं था। वह अलक्ष्य एवं अगोचर स्वयं अपने को प्रदर्शित कर रहा था।

गुरु नानक देव की उपर्युक्त धारणा में ऋग्वेद के नासदीय सूक्त की विचारधारा ही प्रतिबिम्बित हुई है। दोनों में इतना साम्य है कि देखने वाले को ऐसा लगता है जैसे गुरु नानक देव यहाँ पर नासदीय सूक्त की ही

। · अरबद नरबद धुंधूकारा। धरणि न गगना हुकमु अपारा ।।
ना दिनु रैनि न चंदु न सूरजु सुंन समाधि लगाइदा ।।
खाणी न बाणी पउण न पाणी। ओपति खपति न आवण जाणी ।।
खंड पताल सपत नहीं सागर नदी न नीरु वहाइदा ।।
ना तदि सुरगु मछु पइआला। दोजकु भिसतु नहीं रवै काला ।।
नरकु सुरगु नहीं जमणु मरणा ना को आइ न जाइदा ।।
ब्रह्मा बिसनु महेसु न कोई। अवरु न दीसै एको सोई ।।
नारि पुरखु नहीं जाति न जनमा ना को दुखु सुखु पाइदा ।।
ना तदि जती सती बनवासी। ना तदि सिध साधिक सुखवासी ।।
जोगी जंगम भेखु न कोई ना को नाथु कहाइदा ।।
जप तप संजम ना ब्रत पूजा। ना को आखि वखाणै दूजा ।।
आपे आपि उपाए विगसै आपे कीमति पाइदा ।। ·····
निंदु बिंदु नही जीउ न जिंदो। ना तदि मोरखु ना माछिंयो।
ना तदि गिआनु धिआनु कुल ओपति ना को गणत गणाइदा ।।
वरन भेख नहीं ब्रहमण खत्री। देउ न देहुरा गऊ गाइत्री।
होम जग नही तीरथि नावणु ना को पूजा लाइदा ।।····
बेद कतेब न सिमृति सासत। पाठ पुराण उदै नहीं आसत ।।
कहता बकता आपि अगोचरु आपे अलखु लखाइया ।।

– मारू म॰१, सो, गु॰ना॰र॰ 602

व्याख्या कर रहे हों । नासदीय सूक्त में भी बताया गया है कि सृष्टि-रचना से पूर्व न असत् था न सत् था । भाव यह कि न नामरूप-विहीन कुछ था न नामरूप-युक्त । न अन्तरिक्ष था न परमाकाश था । फिर प्रश्न किया गया है कि आवरण क्या था । कहाँ था । किस के संरक्षण में था । क्या गहर गम्भीर जल था ।[1] न मृत्यु थी न अमृतत्व या जीवन था, न रात-दिन का कोई विभाजक चिन्ह था । उस समय केवल वही (शून्यावस्था स्थित निर्गुण) था जो बिना प्राण वायु के अपनी शक्ति से श्वास-निश्वास की क्रिया करता था, उस से परे और कुछ नहीं था ।[2] चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था । तब यह सम्पूर्ण दृष्टिगोचर जगत् ज्ञापक चिह्नों से रहित शून्य सा कुछ था । जो कुछ उस समय अस्तित्व में था वह आकार-रहित एवं शून्य सा (शून्य समाधि में स्थित) था । तभी तप (तपस्या अथवा ऊष्णता) की मह शक्ति से उस आकार की उत्पत्ति हुई ।[3]

ऋग्वेद में प्रतिपादित इस "असत्" शब्द का अर्थ कुछ आधुनिक विद्वान् "अभाव" करते हैं ।[4] परन्तु असत् का अर्थ"कुछ भी नहीं"अधिक समीचीन नहीं दिखाई पड़ता, यत: ऋग्वेद के ही एक मन्त्र में बताया गया है कि ब्रह्मणस्पति ने इनको लुहार की न्याई धौंका, तब देवताओं से भी पूर्व असत् से सत् उत्पन्न हुआ ।[5] यदि असत् का अर्थ अभाव किया जाए तो अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं । फिर मन्त्र में यह बताया गया है कि "ब्रह्मणस्पति ने इन को धौंका", इस से ज्ञात होता है कि उस समय कोई द्रव्य विद्यमान था जिस को

---

1. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
   किमावरीव: कुह कस्य शर्मन्नभ्य: किमासीद्गहनं गभीरम् ।। -ऋ॰10॰129॰1
2. ना मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह न आसीत् प्रकेत: ।
   आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्याद्धान्यन्न पर: किं चनास ।। -ऋ॰10॰129॰2
3. ऋ॰ 10॰129॰3
   तुलना: आसीदिदं तमोभूतम प्रज्ञातमलक्षणम् ।
   अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वत: ।। मनु॰ 1॰5
4. **Vedic Mythology, A.A. Macdonell, p. 13.**
5. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधामत् ।
   देवानां पूर्व्ये युगे सत: सदजायत ।। -ऋ॰ 10॰72॰2

धौंका गया । इस लिए असत् का अर्थ अभाव नहीं बल्कि ब्रह्म का अव्यक्त रूप है, जिसे गुरु नानक वाणी में "सुन्न" (शून्य)[1] कहा गया है । इस प्रकार असत् से सत्[2] की उत्पत्ति का अर्थ होगा ब्रह्म का अव्यक्त से व्यक्त रूप में आना ।[2]

सृष्टि-रचना से पूर्व की अवस्था के विषय में परवर्ती वैदिक साहित्य में भी अनेक उद्धरण पाए जाते हैं, परन्तु उन में मतैक्य नहीं है । तैत्तिरीय ब्राह्मण में बताया गया है कि सर्वप्रथम जल ही था।[4] बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लेख आया है कि पहले जल ही था, जलों ने ही सत्य की रचना की ।[5] छान्दोग्य एवं तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है कि सृष्टि-रचना से पूर्व असत् ही था ।[6] छान्दोग्योपनिषद् में ही एक और स्थल पर बताया गया है कि पहले एक अद्वितीय सत् था ।[7] ऐतरेय उपनिषद् में आत्मा[8] तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में सृष्टि से पूर्व ब्रह्म[9] की सत्ता स्वीकार की गई है । इसी उपनिषद्

---

1. गुरु नानक वाणी में सृष्टि-रचना से पूर्व निर्गुण ब्रह्म की अव्यक्त अवस्था को शून्य माना गया है तथा इसे सृष्टि का मूल कारण माना गया है । डा॰ जयराम मिश्र के अनुसार "शून्य"का अर्थ "कुछ नहीं" नहीं है । शून्यावस्था का तात्पर्य उस स्थिति से है, जबकि संसार की उत्पत्ति से पूर्व सारी शक्तियां एक मात्र निर्गुण कर्म में केन्द्रीभूत होती है ।"
   - द्रष्टव्य नानक वाणी, डा॰ जयराम मिश्र, पृ॰49
2. पं॰ राजा राम भी असत् और सत् का अर्थ अव्यक्त और व्यक्त मानते हैं । द्रष्टव्य आर्य्य-दर्शन, पृ॰34
3. तुलना: अविगतो निरमाइलु उपजे निर्गुण ते सरगुण थीआ ।।-रामकली म॰1, गु॰ना॰र॰ 506
4. आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । -तै॰ब्रा॰ 1॰1॰3॰5
5. आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त ।। -बृहद॰5॰5॰1
6. असदेवेदमग्र आसीत् ।। -छान्दो॰ 3॰19॰1
   असद् वा इदमग्र आसीत् । - तै॰उ॰ 2॰7॰1
7. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । -छान्दो॰ 6॰2॰1
8. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । - ऐ॰उ॰ 1॰1॰1
9. ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् ।। -बृहद॰ 1॰4॰10

में एक और स्थान पर बताया गया है कि पहले यहाँ कुछ भी नहीं था, सब मृत्यु से ही आच्छादित था ।[1]

सृष्टि-रचना से पूर्व की अवस्था को गुरु नानक वाणी में शून्य (सुंन) भी कहा गया है । "शून्य" वह अवस्था है जब सृष्टि-रचना से पूर्व केवल "अकुर" या निर्गुण ब्रह्म जगत् की सभी शक्तियों को अपने में समेटे हुए होता है । "जगत् की रचना से पूर्व वह अपरम्पार ब्रह्म अपनी "शून्य कला" में स्थित था फिर भी वह स्वयं सब से निर्लेप था । शून्य से ही वह सारी सृष्टि की रचना करता है तथा उसकी देखभाल करता है । वायु, जल, अग्नि तथा जीव आदि की रचना भी शून्य से होती है । इसी से ब्रह्मा, विष्णु, महेश, चन्द्र, सूर्य, आकाश, पृथ्वी तथा तीनों लोकों की उत्पत्ति होती है । माया की रस्सी की उत्पत्ति भी इसी शून्य से होती है और अन्त में वह इसी में विलीन हो जाती है । शून्य से जीवों की चार कोटियाँ एवं वाणी उत्पन्न हुई । शून्य से ही दिन-रात, सुख-दु:ख, पाताल, तीनों गुण, दस अवतार, देव, दानव, गंधर्व, आदि सभी की उत्पत्ति इस शून्य से होती है ।"[2]

ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति -

गुरु नानक वाणी में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है, इसी लिए मूलमन्त्र में उस ब्रह्म को "कर्त्ता-पुरख" कहा गया है । सांख्यवादियों का द्वैतपरक सिद्धान्त गुरु नानक को मान्य नहीं है ।

गुरु नानक वाणी में ब्रह्म को कर्त्ता कहा गया है तथा उसे ही सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण माना गया है । वह अपने आप से सृष्टि का निर्माण करता है । उसने पृथ्वी तथा आकाश को अलग-अलग रखा है तथा चाँदनी को तान रखा है । उसी ने रात, दिन, सूर्य तथा चन्द्रमा को बनाया है तथा

---

1. नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् । - बृहद् ।·2·।
2. सुंन कला अपरंवर धारी·····।।
   - मारु म·।, सो·गु·ना·र· 606

बिना किसी सहारे के आकाश को सम्भाल रखा है ।[1] सृष्टि-रचना के लिए उसे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है । वह अपने आप से ही अपनी रचना करता है तथा आप ही अपना नाम धारण करता है ।[2] वह स्वयं सृष्टि का निर्माण करता है तथा स्वयं ही इसका विनाश करता है ।[3] वही सभी जीवों का मालिक है तथा जगत् की सर्जना करने वाला है ।[4] उसी से ब्रह्मा, पर्वत, युग एवं वेदों का निर्माण होता है ।[5] बसंत राग में बताया गया है कि वह ब्रह्म जगत् की रचना कर बिना किसी कला के आकाश को धारण करता है ।[6] उस ने सृष्टि का निर्माण अपने हाथों से किया तथा अण्डाकार जगत् को तोड़कर दो भागों में विभक्त कर दिया । फिर इन दोनों भागों, धरती और आकाश को शून्य मण्डल से जोड़ दिया ।[7]

---

1. आपीन्है आपु साजि आपु पछाणिआ ।
   अंबरु धरति विछोड़ि चंदोआ ताणिआ ।।
   विणु थंम्हा गगनु रहाइ सबदु नीसाणिआ ।
   सूरजु चंदु उपाइ जोति समाणिआ ।।
   कीए राति दिनंतु चोज विडाणिआ ।। - मलार म॰१, वार, गु॰ना॰र॰714
2. आपीन्है आपु साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ ।। - आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 274
3. ढढै ढाहि उसारै आपे जिउ तिसु भावे तिवै करे ।। -आसा म॰१, पटी, गु॰ना॰र॰262
   आपे थापि उथापे आपे ।। -मारू म॰१, सो॰गु॰ना॰र॰598
   जिनि सिरजि तिन ही फुनि गोई ।
   आपि उपाए आपि खपाए ।। -मारू म॰१, सो॰गु॰ना॰र॰570
4. ससै सोइ सृसटि जिनि साजी सभना साहिबु एक भइआ ।
   - आसा म॰१, पटी, गु॰ना॰र॰ 260
   वाहु खसम तू वाहु जिनि रचि रचना हम कीए ।। -सूही म॰१, गु॰ना॰र॰418
5. रामकली म॰१, दखणी ओअंकार, गु॰ना॰र॰ 472
6. एको करता जिनि जगु कीआ ।
   बाझु कला करि गगनु धरीआ ।। -बसंत म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰666
7. आपे साचु कीआ कर जोड़ि ।
   अंडज फोड़ि जोड़ि विछोड़ि ।। -बिलावल म॰१, थिती, गु॰ना॰र॰ 432

वेदों में भी सृष्टि की रचना परमात्मा से मानी गई है । ऋग्वेद में बताया गया है कि हिरण्यगर्भ रूप उस परमात्मा ने आकाश, पृथ्वी और स्वर्ग लोक को स्तम्भित कर रखा है तथा उसी ने अन्तरिक्ष का निर्माण किया है ।[1] पृथ्वी, द्युलोक तथा अह्लादकारी जलों का निर्माण भी उस परमात्मा से हुआ है ।[2] पुरुष सूक्त में तो स्पष्ट रूप से बता दिया गया है कि यह सम्पूर्ण व्यक्त जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है ।[3] उस ब्रह्म से अश्व, गाय, बैल, बकरे, मेढ़े तथा दोनों ओर दांतों वाले जीव,[4] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,[5] चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, अग्नि, वायु,[6] अन्तरिक्ष, द्युलोक, भूमि तथा दिशाएं उत्पन्न हुई ।[7]

अथर्ववेद में भी सृष्टि-रचना ब्रह्म से मानी गई हैं । अथर्व वेद के उच्छिष्ट सूक्त में बताया गया है कि सांस लेने वाले, आंखों से देखने वाले, द्यौ में रहने वाले देव,[8] प्राण, अपान, नेत्र, अक्षय, क्षय,[9] आनन्द, हर्ष, उपभोग, उपभोक्ता,[10] देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व एवं अप्सराएं, सब ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं ।[11] ब्रह्म ने ही यह भूमि बनाई है, ब्रह्म ने ही द्यौ ऊपर रखी है, ब्रह्म से ही यह फैला हुआ अन्तरिक्ष ऊंचा और तिरछा रखा गया है ।[12]

---

1. ऋ॰ 10॰121॰5
2. ऋ॰ 10॰121॰9
3. तस्मादादिपुरुषाद् विराड् ब्रह्माण्डदेहो जायत उत्पन्नः ।
   - ऋ॰ 10॰90॰5 पर सायण भाष्य
4. ऋ॰ 10॰90॰10
5. ऋ॰ 10॰90॰12
6. ऋ॰ 10॰90॰13
7. ऋ॰ 10॰90॰14
8. अथर्व॰ 11॰7॰23
9. अथर्व॰ 11॰7॰25
10. अथर्व॰ 11॰7॰26
11. अथर्व॰ 11॰7॰27
12. ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ।
    ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ।। -अथर्व॰ 10॰2॰25

उपनिषदों में भी सम्पूर्ण सृष्टि का विस्तार ब्रह्म से माना गया है। मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है कि मन, समस्त इन्द्रियां, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथ्वी[1], अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, दिशाएं, नेत्र, श्रोत्र,[2] देव, साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण, अपान, धान, जौ, अन्न,[3] समुद्र, पर्वत, नदियां, रस एवं औषधियां[4] आदि सब कुछ उस से ही उत्पन्न हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद् में बताया गया है कि उस ब्रह्म से ही ये सभी जीव उत्पन्न होते हैं, उसी में जीवन धारण करते हैं और अन्त में उसी में प्रवेश कर जाते हैं।[5] ऐतरेय उपनिषद् में भी ऐसा उल्लेख है कि ब्रह्मा ने ही इन लोकों की रचना की।[6]

उपनिषदों में यह भी बताया गया है कि इस जगत् की रचना के लिए परमात्मा को किसी उपादान की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार मकड़ी स्वयं ही अपने जाले को रचती है और स्वयं उसे निगल जाती है उसी प्रकार वह ब्रह्म भी स्वयं अपने से इस जगत् की रचना करता है और अपने में ही लय कर लेता है।[7] उसे किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

गुरु नानक वाणी में अण्डाकार से जगत् की उत्पत्ति की जो बात कही गई है, उसके बीज छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त हो जाते हैं। बताया गया है कि आदि में केवल असत् की सत्ता थी। असत् ने अपने को सत् रूप में परिणत कर लिया। सत् विशाल अण्डे के रूप में परिवर्तित हो गया। संवत्सर पर्यन्त वह इसी अवस्था में पड़ा रहा। तब वह टूट कर दो भागों में विभक्त हो गया, एक रजत कपाल और दूसरा स्वर्ण कपाल। रजत कपाल पृथ्वी बन गया और स्वर्ण कपाल द्यौ। अण्डे के जरायु से पर्वत-श्रेणियां, उल्ब से नीहार और मेघ,

---

1. एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
   खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वी विश्वस्य धारिणी॥ - मुण्ड॰ 2॰1॰3
2. मुण्ड॰ 2॰1॰4
3. मुण्ड॰ 2॰1॰7
4. मुण्ड॰ 2॰1॰9
5. तै॰उ॰ 3॰1
6. स इमाँल्लोकान सृजत। - ऐ॰उ॰ 1॰1॰2
7. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
   यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथा क्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥
   -मुण्ड॰ 1॰1॰7

धमनियों से सरिताएँ और द्रव्य पदार्थ से समुद्र बन गया । इस अण्डे से जिसका उद्भव हुआ वह सूर्य था ।[1]

परमात्मा के हुक्म से सृष्टि की उत्पत्ति -

सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में गुरु नानक वाणी में कहे स्थलों पर बताया गया है कि सृष्टि की रचना परमात्मा के हुक्म से होती है । हुक्म का अर्थ आज्ञा या आदेश होता है । परन्तु डा॰ शेर सिंह ज्ञानी इसका अर्थ आज्ञा या आदेश नहीं लेते । उन के मतानुसार "हुक्म" का अर्थ ईश्वरीय इच्छा (Divine Will)[2] है । प्रो॰ प्रीतम सिंह भी इसका अर्थ इच्छा (WILL)[3] करते हैं । डा॰ तारन सिंह के अनुसार इसका अर्थ "निज़ाम" (Order)[4] है । आदेश सदा दूसरों को दिया जाता है, परन्तु उस समय तो ब्रह्मा के बिना किसी की सत्ता ही नहीं थी, फिर आदेश (Order) कैसा । इस लिए हुक्म का अर्थ "ईश्वरीय इच्छा" ही अधिक समीचीन दिखाई पड़ता है । यही ईश्वरीय इच्छा बाद में एक विश्व-व्यापी नियम बन जाती है । गुरु नानक वाणी में "हुक्म" को सृष्टि का मूल कारण माना गया है तथा इसी से सृष्टि का प्रसार माना गया है । "जपु जी" में बताया गया है कि हुक्म से ही सृष्टि के सभी आकार अस्तित्व धारण करते हैं । यह हुक्म ऐसा है जिसके विषय में कोई कुछ नहीं कह सकता । हुक्म से ही सभी जीव उत्पन्न होते हैं और हुक्म से ही उन्हें बड़ाई प्राप्त होती है । हुक्म से ही जीव अच्छे-बुरे (ऊँचे-नीचे) कर्म करते हैं तथा हुक्म से ही उन्हें सुख-दु:ख की प्राप्ति होती है। उसके हुक्म के द्वारा कुछ तो क्षमा कर दिए जाते हैं तथा कुछ आवागमन के चक्र में भ्रमित किए जाते हैं । इस प्रकार यह सम्पूर्ण

1॰ असदेवेदमग्र आसीत् । तत्सदासीत् । तत्समभवत् । तदाण्डं निरवर्तत । तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत् । तन्निरभिधत । ते अण्डकपाले रजतं च सवर्णं चाभवताम् । तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी । तत्सुवर्णं सा द्यौ: । यज्जरायु ते पर्वता: । यदुल्बं स मेघो नीहार: । या धमनयस्ता नद्य: । यद्वास्तेयमुदकं स समुद्र: । अथ यतदजायत सो सावादित्य: ।।-छान्दो॰3॰19॰1-

2॰ गुरमति दर्शन, डा॰ शेर सिंह ज्ञानी, पृष्ठ 29।

3॰ गुरु नानक विचार अध्ययन, प्रो॰ प्रीतम सिंह, पृ॰ 61

4॰ सिख फ़लसफ़े दी रूप-रेखा, संपा॰ प्रो॰ प्रीतम सिंह, पृ॰74

सृष्टि उसके हुक्म के प्रभावाधीन है, उस से बाहर कुछ नहीं है ।[1] सर्वत्र प्रभु का हुक्म चल रहा है तथा उसी से सभी की उत्पत्ति होती है ।[2] सभी जीव हुक्म से पैदा होकर हुक्म से ही कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, हुक्म से ही काल के वश में पड़ते हैं तथा हुक्म से ही उस सत्यस्वरूप प्रभु में समा जाते हैं ।[3] वह परमात्मा स्वेच्छा अनुसार अपने हुक्म से सृष्टि का विनाश कर देता है तथा फिर उस की रचना करके उसकी देख-भाल करता है तथा अपने हुक्म से ही इसका संचालन करता है ।[4]

हुक्म के इस दृष्टिकोण को मारू राग के एक अन्य प्रसंग में और भी अच्छी तरह चित्रित किया गया है । परमात्मा के हुक्म से जीव की उत्पत्ति होती है और उसी के हुक्म से वह परमात्मा में समाहित हो जाता है । हुक्म के द्वारा ही यह जंगम और स्थावर जगत् उत्पन्न होता है और हुक्म से ही स्वर्ग लोक, मर्त्य लोक और पाताल लोक अस्तित्व में आए हैं तथा हुक्म से ही वे अपनी "कला" (शक्ति) से युक्त रहते हैं । हुक्म के द्वारा ही धर्म-धवल के सिर पर धरती का सम्पूर्ण भार है । हुक्म से जीव अनेक प्रकार की खेलें खेलते हैं । हुक्म से आकाश की उत्पत्ति हुई और हुक्म से ही जल, थल तथा तीनों लोकों

---

1. हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई ।
   हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिलै वडिआई ।।
   हुकमी उतमु नीचु हुकमि लिखि दुख सुख पाईअहि ।
   इकना हुकमी बखसीस इकि हुकमी सदा भवाईअहि ।।
   हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ ।। - जपु जी, गु॰ना॰र॰2
2. एको हुकमु वरतै सभु लोई ।
   एकसु ते सभ ओपति होई ।। - गउड़ी म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰ 162
3. हुकमी सभे उपजहि हुकमी कार कमाहि ।
   हुकमी काले वसि है हुकमी साचि समाहि ।। - सिरीराग म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰64
4. ढाहे ढाहि उसारै आपे जिउ तिसु भावै तिवै करे ।
   कीरि कीरि वेखै हुकमु चलाए तिसु निसतारे जाकउ नदरि करे ।
   - आसा म॰1, पटी, गु॰ना॰र॰ 262
   तूं हुकमी साजहि सृसटि, साज समावही ।। - मारू म॰5, वार, आ॰ग्र॰ 1094

में प्राणियों का निवास हुआ । दस अवतार तथा अगणित देव-दानव भी हुक्म के अन्तर्गत हुए । हुक्म में छत्तीस युग व्यतीत हुए, हुक्म में ही सिद्ध, साधक उत्पन्न हुए । वस्तुत: परमात्मा स्वयं स्वामी है तथा उसके हुक्म में यह सम्पूर्ण सृष्टि बंधी हुई है ।[1] अपने हुक्म से वह क्षण भर में लाखों का सर्जन और विनाश कर देता है ।[2] हुक्म से ही सृष्टि की रचना और विनाश होता है और यह आगे-पीछे हुक्म में ही समाई हुई है ।[3]

गुरु नानक वाणी में परमात्मा के हुक्म या इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति का जो सिद्धान्त पाया जाता है, इसके बीज हमें वेदों में प्राप्त हो जाते हैं । वेदों में सृष्टि की उत्पत्ति परमात्मा की इच्छा या संकल्प से मानी गई है । ऋग्वेद में वर्णन आया है कि सर्वप्रथम परमात्मा के मन में सृष्टि की इच्छा (कामना) उत्पन्न हुई[4] और यह विविध प्रकार की सृष्टि उसी कामना का फल है ।

सृष्टि-विवेचन के सम्बन्ध में इस तरह के वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी उपलब्ध हो जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि सृष्टि-पूर्व आदिकाल में कुछ नहीं था केवल एक परमात्मा (प्रजापति) था । उसके मन में इच्छा हुई कि वह (ब्रह्म) बहुत प्रजाओं वाला बने, इसके लिए उसने कठिन तपस्या की ।[5] इस इच्छा को वह शब्द द्वारा ही व्यक्त कर सकता था, तो सर्वप्रथम उसने कहा "भू:" जिसके फलस्वरूप पृथ्वी की सृष्टि हुई ।[6] आगे, वह जिस-जिस वाणी का विसर्जन करता गया तत्तत् तत्त्व का सर्जन होता रहा ।

---

1. मारु म॰1, सो॰1 6॰10-14 गु॰ना॰र॰ 604-6

2. हुकमी साजे हुकमी ढाहे एक चसे महि लख । -मलार म॰1, वार, गु॰ना॰र॰734

3. हुकमे आवै हुकमे जाइ ।
आगै पाछै हुकमि समाइ ।। -गउड़ी म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰138
हुकमे आवै हुकमे जावै हुकमे रहै समाई ।।-रामकली म॰1, सिध गोसटि गु॰ना॰र॰506

4. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत् । -ऋ॰10॰129॰4

5. प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास । स ऐक्षत कथं नु प्रजायेय, इति सो श्राम्यात्, स तपोऽतप्यत । -शत॰ब्रा॰ 2॰2॰2॰1
एक एव सोऽकामयत स्यां प्रजायेय इति । -शत॰ब्रा॰ 6॰1॰1॰1

6. सोऽकामयत स भूरिति व्याहरत् । स भूमिमसृजत । -तै॰ब्रा॰2॰2॰4॰2
स भूरिति व्याहरत् सेयं पृथिव्यभवत् । -शत॰ब्रा॰ 1॰1॰5॰3

उपनिषदों में भी बहुत से ऐसे वचन प्राप्त हो जाते हैं जहाँ ब्रह्म की इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है।[1] ऐतरेय उपनिषद् में बताया गया है कि सृष्टि से पूर्व केवल परमात्मा था। उसने इच्छा की कि वह (परमात्मा) लोकों का निर्माण करे, तब उस ने इन लोकों का निर्माण कर डाला।[2] प्रश्नोपनिषद् में उल्लेख है कि सृष्टि की इच्छा से परमात्मा ने तप तपा तथा रयि (प्रकृति) और प्राण (जीवन-शक्ति) का मिथुन उत्पन्न किया[3] जिस से सृष्टि का निर्माण हुआ। इसी तरह का उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् में भी प्राप्त हो जाता है। वहाँ परमात्मा की इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति के साथ यह भी बता दिया गया है कि इस जगत् की रचना कर वह इसी में प्रविष्ट हो गया।[4] परमात्मा की इसी इच्छा को गुरु नानक वाणी में "भाणा" या "हुक्म" के रूप में निरूपित किया गया है।

सृष्टि-प्रक्रिया -

सृष्टि-प्रक्रिया के सम्बन्ध में गुरु नानक वाणी में कहीं भी एक स्थान पर विचार नहीं किया गया और न ही गुरु नानक वाणी में सृष्टि-प्रक्रिया का क्रम-बद्ध उल्लेख ढूंढना ही चाहिए क्योंकि गुरु नानक वाणी में तो केवल आध्यात्मिक चिंतन ही हुआ है, दार्शनिक दृष्टि से इसकी रचना नहीं की गई। फिर भी गुरु नानक वाणी में यत्र-तत्र प्राप्य कतिपय फुटकल पदों के आधार पर सृष्टि-प्रक्रिया की रूप-रेखा तैयार की जा सकती है।

सृष्टि-रचना से पूर्व जगत् में निर्गुण ब्रह्म के बिना कुछ नहीं था। वह

---

1. तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्रेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेति। तदापोऽसृजत। -छान्दो॰ 6॰2॰3

2. आत्मा वा इदयेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किंचनमिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥ स इमाँल्लोकानसृजत। - ऐ॰उ॰ ।॰।॰।॰

3. प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः। -प्रश्नो॰ ।॰4

4. सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत। - तै॰उ॰ 2॰6

"निरंकार" अपनी "अफुर" अवस्था या "शून्य समाधि" में था ।[1] दूसरी अवस्था "एकंकार" की थी । वह निरंकार ही आकार धारण करके एंककार हो गया ।[2] वस्तुत: निर्गुण अवस्था का अव्यक्त ब्रह्म ही व्यक्त रूप धारण करके सगुण रूप में प्रकट हो जाता है ।[3]

तीसरी अवस्था में उस ब्रह्म की सृष्टि-रचना की इच्छा होती है ।[4] इस इच्छा से "हुकम" अवस्था का प्रादुर्भाव होता है ।[5] इस अवस्था में वह "आवे साहु आवे वणजारा" होता है और यही उसे अच्छा लगता है ।[6]

तब "सबद" की अवस्था आती है । क्योंकि हुक्म केवल शब्द के माध्यम से ही दिया जा सकता है । अत: उस परमात्मा के "सबद" से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है ।[7]

इस के पश्चात् की अवस्था "हउमे" ~~अ~~ (अहंकार) की है । सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व "हुकम" "सबद" तथा "हउमै" एक ही समय काम करते हैं । सृष्टि की उत्पत्ति का "हुकम" "सबद" के द्वारा उत्तम पुरुष (मैं) के द्वारा दिया जाता है ।[8] गुरु नानक वाणी में यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति "हउमै" से होती है[9] और इस सारी सृष्टि का विस्तार परमात्मा के एक "सबद" से हो जाता है ।[10] "पसाउ" का अर्थ फैलना या वृद्धि को प्राप्त होना है । इसका यह भाव नहीं कि परमात्मा के हुक्म से सृष्टि एकाएक सत्ता में आ जाती है । सृष्टि का प्रसार धीरे-धीरे होता है तथा इसका विकास उत्तरोत्तर होता रहता है ।[11]

---

1. अरबद नरबद धुंधूकारा·····।। -मारु म·1, सो·गु·ना·र·602
2. आपीन्है आपु साजिओ·····।। -आसा म·1, वार, गु·ना·र·274
3. अविगतो निरमाइल उपजे निरगुण ते सरगुण थीआ । -रामकली म·1, सिध गोसटि, गु·ना·र·506
4. जा तिसु भाणा ता जगतु उपाइआ । -मारु म·1, सो, गु·ना·र·604
5. हुकमी सभे उपजहि हुकमी कार कमाहि ।। -सिरीराग म·1, अस गु·ना·र·64
6. मारु म·1, सो·, गु·ना·र· 602
7. उतपति परलो सबदे होवै····।। - माझ म·3, अस·गु·ना·र·117
8. Facets of Guru Nanak's Thought: Dr. Ajit Singh Sikka, p. 30-31.
9. हउमै विचि जगु उपजै पुरखा····।। -रामकली म·1, सिध गोसटि, गु·ना·र· 526
10. कीता पसाउ एको कवाउ ।
    तिस ते होए लख दरीआउ ।। -जपु जी, गु·ना·र· 8
11. गुरमति दर्शन, डा· शेरसिंह ज्ञानी, पृ·290-91

सृष्टि-प्रक्रिया का विवेचन करते हुए बताया गया है कि परमात्मा से सर्वप्रथम पवन की उत्पत्ति होती है तथा पवन से जल की । जल से फिर तीनों लोकों की सृष्टि होती है ।[1] इसलिए गुरु नानक वाणी में पवन को गुरु तथा जल को पिता (जनक) माना गया है ।[2] प्रभाती राग में यह भी बताया गया है कि परमात्मा ने जल, अग्नि और पवन की उत्पत्ति की तथा इन्हीं के मेल से जगत् की रचना की ।[3] गूजरी राग में बताया गया है कि उस परमात्मा ने पवन, जल तथा अग्नि की रचना करके ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के आकार बनाए ।[4] मारु राग में जल, अग्नि, वायु, पृथ्वी और आकाश, पाँचों तत्त्व गिनाए गए हैं ।[5] तथा इन पांचों तत्त्वों के मेल से शरीर की रचना मानी गई है ।[6] सूही राग में भी शरीर की रचना पाँचों तत्त्वों से मानी गई है ।[7]

सृष्टि-प्रक्रिया के सम्बन्ध में ऋग्वेद का अध्ययन करने से ज्ञान होता है कि ऋग्वेद में सृष्टि-प्रक्रिया कई प्रकार से मानी गई है । एक सिद्धान्त के अनुसार तो सृष्टि-प्रक्रिया के पीछे एक ऐसी शक्ति काम करती है जो लुहार या बढ़ई की तरह इस सृष्टि का निर्माण करती है । जिस के विषय में ऋग्वेद में स्पष्ट प्रश्न उठाया गया है कि वह कौन सा वन तथा कौन सा वृक्ष था जिस से द्यावा-पृथ्वी का निर्माण किया गया है।[8] तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसका उत्तर देते हुए स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्म ही वह वृक्ष तथा वन था जिससे द्यावापृथिवी का निर्माण किया गया ।[9]

---

1. साचे ते पवणा भइआ पवनै ते जल होइ ।
   जल ते त्रै भवण साजिआ घटि घटि जोति समोइ ।। -सिरीराग म॰१, गु॰ना॰र॰38
2. पउणु गुरु पाणी पिता जाता । -मारू॰म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰570
   पवणु गुरु पाणी पिता·····। - जपु जी, गु॰ना॰र॰ 22
3. जलु तरंग अगनी पवनै फुनि त्रै मिलि जगतु उपाइआ ।। - परभाती म॰१, अस गु॰ना॰र॰772
4. पवणु पाणी अगनि तिनि कीआ ब्रहमा बिसनु महेस अंकार ।। - गूजरी म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 314
5. आपु तेजु वाइ पृथमी आकासा । - मारू म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰592
6. पंच ततु मिलि काइआ कीनी ।। - मारू म॰१, सो॰गु॰ना॰र॰ 590
7. पंचभू नाइको आपि सिरंदा जिनि सच का पिंडु सवारिआ ।। -सूही म॰१, छंत, गु॰ना॰र॰416
8. ऋ॰ 10·81·4
9. ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्·।·।·। -तै॰ब्रा॰ 2·8·9·6

दूसरी प्रकार की सृष्टि का सिद्धान्त पुरुष सूक्त[1] में प्राप्त होता है जहाँ पर सृष्टि की रचना आदि पुरुष के शरीर से बताई गई है । देवताओं ने पुरुष रूप मानस हवि से मानसिक यज्ञ किया जिससे आदि पुरुष के एक-एक अंग से आकाश, वायु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि तथा शेष जीव एवं पदार्थों की उत्पत्ति हुई ।

परन्तु सृष्टि-प्रक्रिया की वह धारणा जो गुरु नानक वाणी में प्रतिबिम्बित हुई है, मुख्यरूप से नासदीय सूक्त[2] में ही प्राप्त होती है । इस सूक्त में बताया गया है कि सृष्टि-रचना से पूर्व कुछ भी नहीं था, केवल अंधकार ही अंधकार था । इस अवस्था में ब्रह्म अपनी शून्य अवस्था में, अविद्यमान वस्तु के द्वारा आच्छन्न था । फिर तप के प्रभाव से वह एक तत्त्व उत्पन्न हुआ ।[3] शून्य से ब्रह्म की उत्पत्ति को ऋग्वेद में असत् से सत् की उत्पत्ति[4] तथा गुरु नानक वाणी में निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति कहा गया है । इसके पश्चात् उस परमतत्त्व को सृष्टि करने की इच्छा (कामना) हुई जो मन (स्वाभाविक ज्ञान) का प्रथम विकार, कार्य का सर्जन था ।[5] ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त में बताया गया है कि प्रज्वलित तपस्या से यज्ञ और सत्य उत्पन्न हुए । फिर दिन-रात बने तथा इसके अनन्तर जलपूर्ण समुद्र की उत्पत्ति हुई ।[6] समुद्र से संवत्सर तथा निमिष आदि वाले जगत् की उत्पत्ति हुई जिसका स्वामी वह परमात्मा है ।[7] इसके

---

1. ऋ॰ 10·90
2. ऋ॰ 10·129
3. ऋ॰ 10·129·3
4. देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत । - ऋ॰ 10·12·2
5. अग्रे अस्य विकारजातस्य सृष्टेः प्रागवस्थायां परमेश्वरस्य मनसि कामः समवर्तत सम्यगजायत । सिसृक्षा जातेत्यर्थः । -ऋ॰ 10·129·4 का सायण भाष्य।
6. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।
   ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।। -ऋ॰ 10·190·1
7. समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
   अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।। -ऋ॰ 10·190·2

पश्चात् ईश्वर ने सूर्य, चन्द्रमा, स्वर्ग, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष का निर्माण किया ।[1] इस मन्त्र में सृष्टि-प्रक्रिया के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह बताई गई है - इन सब की रचना ईश्वर ने पूर्वकाल के अनुसार ही की । इसका भाव यह है कि इस सृष्टि की रचना से पूर्व भी कभी किसी और सृष्टि की रचना हुई थी जिसके अनुरूप ही इस सृष्टि की रचना हुई है । अत: यह सृष्टि अनादि नहीं है । इस की रचना होती है, फिर विनाश भी होता है तथा पुन: निर्माण हो जाता है । इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी बताया गया है कि सृष्टि-रचना से पूर्व द्यौ, पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष आदि कुछ भी नहीं था । तब असत् ने सत् बनाने का इरादा उत्पन्न किया ।[2]

सृष्टि-प्रक्रिया के सम्बन्ध में उपनिषदों में अनेक प्रकार के मत व्यक्त किए गए हैं । बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार आदि काल में केवल जल ही था । जलों ने सत्य को रचा, सत्य से ब्रह्म, ब्रह्म से प्रजापति तथा प्रजापति से देवताओं की रचना हुई ।[3] छान्दोग्योपनिषद् सर्वप्रथम सत् से अग्नि की उत्पत्ति मानती है । अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी पैदा होती है ।[4] तैत्तिरीयोपनिषद् में ईश्वर से पंचमहाभूत तथा बाद में शेष जगत् की उत्पत्ति मानते हुए बताया गया है कि परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न, अन्न से रेतस् और रेतस् से पुरुष

---

1. सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत ।
   दिवं च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो स्व: ।। - ऋ॰ 10·190·3
2. न द्यौरासीत् । न पृथिवी । नान्तरिक्षम् । तदसदेव सन्मनो कुरुत स्थामिति ।
   - तै॰ ब्रा॰ 2·2·9·1
3. आप एवेदमग्र आसुस्ता आप: सत्यमसृजन्त । सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम्, प्रजापतिर्देवास्ते सत्यमेवोपासते ।।
   - बृहद्॰ 5·5·1
4. छान्दो॰ 6·8·6

उत्पन्न हुआ ।[1] प्रश्नोपनिषद् में निरूपित सिद्धान्तानुसार परमात्मा ने सर्वप्रथम प्राण की रचना की, फिर श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, मन और इन्द्रियसमुदाय तथा अन्न, अन्न से वीर्य, फिर तप तथा बाद में नानाप्रकार के मन्त्र, कर्म और लोकों का निर्माण हुआ ।[2]

सृष्टि-रचना का समय -

सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि इस की रचना कब हुई । इस तरह का प्रश्न गुरु नानक वाणी में भी उठाया गया है कि वह कौन समय, तिथि, वार, ऋतु तथा मास था जब इस सृष्टि की रचना हुई । इसके उत्तर में बताया गया है कि उसके उत्तर को कोई नहीं जानता । यदि पण्डित लोग सृष्टि-रचना के समय को जानते होते तो वे निश्चित रूप से इसका उल्लेख पुराणों में कर देते । काजी लोग भी सृष्टि-रचना का निश्चित समय नहीं जानते, क्योंकि यदि ऐसा होता तो कुरान में इसका उल्लेख अवश्य होता । सृष्टि-रचना की तिथि और दिन को योगीगण भी योगशक्ति के द्वारा नहीं जान पाए और न ही इसकी ऋतु और मास को कोई दूसरा ही जानता है । वस्तुत: सृष्टि-रचना का वास्तविक ज्ञान किसी को भी नहीं है, इस का ज्ञान केवल उस कर्तार को है जिस ने इस सृष्टि का निर्माण किया है ।[3]

ऋग्वेद में भी सृष्टि-रचना के समय को जानने का यत्न किया गया है,

---

1. तस्माद्वा एतस्मादात्मन: आकाश: संभूत:, आकाशाद्वायु:, वायोरग्नि:, अग्नेराप:, अद्भ्य: पृथिवी, पृथिव्या ओषधय:, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद् रेत:, रेतस: पुरुष: । - तै॰उ॰ 2॰1

2. स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनो ऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ।
- प्रश्नो॰ 6॰4

3. कवणु सु वेला वखतु कवणु थिति कवणु वारु ।
कवणि सि रुती माहु कवणु जितु होआ आकारु ।।
वेल न पाईआ पंडती जि होवै लेखु पुराणु ।
वखतु न पाइओ कादीआ जि लिखनि लेखु कुराणु ।।
थिति वारु न जोगी जाणै रुति माहु न कोई ।
जा करता सिरठी कउ साजे आपे जाणै सोई ।।
- जपु जी, गु॰ना॰र॰ 10-12

परन्तु यह काम मानव-मस्तिष्क की सीमा से बाहर का है । जो काम मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता वह उस काम को देवताओं पर छोड़ देता है । ऋग्वेद में बताया गया है कि देवगण भी सृष्टि के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं रखते । इसके समय को वे भी नहीं जानते, क्योंकि वे भी सृष्टि का एक अंग हैं तथा उन की रचना भी सृष्टि-निर्माण के बाद हुई है ।[1] ऋग्वेद में भी अन्ततः यही बात कह दी गई है कि जो इसका अध्यक्ष परमाकाश में है वही इसको जानता है, किन्तु यह ब्रह्माण्ड इतना विस्तृत और विशाल है कि जिसने इसे बनाया है वह भी इसे पूरी तरह जानता है या नहीं, इस बात को कोई नहीं कह सकता ।[2] ऋग्वेद के एक और मन्त्र में बताया गया है कि जिसने इसे बनाया है वह भी इसे नहीं जानता ।[3] जब सृष्टि-निर्माता के विषय में भी ऐसे संशय हैं तो फिर इस अल्पज्ञ मनुष्य की तो बात ही क्या, वह इसे कैसे जान सकता है । शायद, सृष्टि के समय का ज्ञान न होने के कारण ही मीमांसकों ने सृष्टि को अनादि मान लिया है ।

सृष्टि अनन्त है -

गुरु नानक वाणी में सृष्टि को अनन्त माना गया है । गुरु नानक का मत है कि उस परमात्मा ने यह सृष्टि बनाई है, इसके कई रंग तथा कई भेद हैं तथा अनेक ढंगों से इसका निर्माण किया गया है ।[4] गुरु नानक वाणी में ऐसा उल्लेख है कि उस परमात्मा की प्रकृति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता । उस की प्रकृति में अनेकों जीव हैं जो दिन-रात उसकी प्रशंसा करते रहते हैं । उसकी प्रकृति के अनेकों रूप, रंग एवं जातियां हैं ।[5] इस दृश्यमान जगत् में एक

---

1. अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद·····। -ऋ· 10·129·6
2. यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ।। -ऋ·10·129·7
3. य ईं चकार न सो अस्य वेद····। -ऋ· 1·164·32
4. तूं करता पुरखु अंगमु है आपि सृसटि उपाती ।
   रंग परंग उपारजना बहु बहु विधि भाती ।। - माझ म·1, वार,गु·ना·र· 102
5. केतीआ तेरीआ कुदरती केवड तेरी दाति ।
   केते तेरे जीउ जंत सिफति करहि दिनु राति ।
   केते तेरे रूप रंग केते जाति अजाति ।। -सिरीराग म·1, पदे, गु·ना·र·34

धरती तो हम देखते ही हैं परन्तु इसके आगे मालूम नहीं कितनी भूमियां हैं ।[1] उस सृष्टि में लाखों आकाश हैं, लाखों पाताल हैं । इन का अन्त खोजते-खोजते लोग थक गए हैं परन्तु इनका अन्त नहीं पा सके ।[2]

सृष्टि की अनन्तता के विषय में गुरु नानक वाणी में विस्तार सहित वर्णन हुआ है । "जपुजी" की तीन "पउड़ियों" ।17, 18, 19। में बताया गया है कि परमात्मा की सृष्टि में अनन्तर सत्त्वगुणी एवं रजोगुणी जीव हैं और असंख्य ऐसे लोक हैं जो मन,वाणी एवं बुद्धि की सीमा से परे हैं । परमात्मा की सृष्टि इतनी असीम है कि उसके लिए गुरु नानक असंख्य शब्द कहना भी उचित नहीं समझते क्योंकि असंख्य कह कर भी उस का कथन नहीं किया जा सकता । असंख्य कहकर तो व्यर्थ में सिर पर अनुचित कथन का भार उठाने वाली बात है ।[3] इसके पश्चात् जब मनुष्य "ज्ञान खण्ड" में पहुंच जाता है तो सृष्टियों का अन्त ही नहीं रहता । वहां पर वायु, जल, वैश्वानर, कान्ह, महेश, ब्रह्मा, रूप, रंग, वेश, कर्म-भूमियां, सुमेरु पर्वत, ध्रुव एवं ध्रुव के उपदेश, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, मण्डल, देश, सिद्ध, बुद्ध, नाथ, देवी-देवता, दानव, मुनि, रत्न, समुद्र, जीवों की कोटियां, वाणियां, पातशाह और नरेन्द्र कितने हैं, इनका अन्त नहीं जाना जा सकता ।[4] सृष्टि की इस अनन्तता को देख कर गुरु नानक महान् आश्चर्य प्रकट करते हैं तथा उस ब्रह्म द्वारा रचित नाद, वेद, जीव, जीवों के भेद, रूप, रंग, पवण, पानी, अग्नि तथा धरती आदि के प्रति "विसमाद"।विस्मय। शब्द का प्रयोग कर अपने आश्चर्य को प्रकट करते हैं ।[5] यह सृष्टि इतनी विस्तृत है कि इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता और न ही इस विषय में कुछ कहा

---

1. धरती होरु परे होरु होरु ।। - जपु जी, गु॰ना॰र॰ 8
2. पाताला पाताल लख आगासा आगास ।
   ओड़क ओड़क भालि थके वेद कहनि इक बात ।। - जपु जी, गु॰ना॰र॰12
   खंड पताल असंख मै गणत न होई ।। -मलार म॰1, वार, गु॰ना॰र॰722
3. असंख नाव असंख थाव । अगंम अगंम असंख लोअ ।
   असंख कहहि सिरि भारु होइ ।। -जपु जी, गु॰ना॰र॰ 10
4. जपु जी, पउड़ी 35, गु॰ना॰र॰ 20
5. विसमादु नाद विसमादु वेद ।·····
   वेखि विडाणु रहिआ विसमादु ।। - आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰276

ही जा सकता है ।[1] अन्त में गुरु नानक को यही बात कहनी पड़ती है "जा करता सिरठी कउ साजे आपे जाणै सोई ।"[2]

सृष्टि की अनन्तता के विषय में वेदों में भी कई प्रमाण प्राप्त हो जाते हैं । ऋग्वेद में निम्न, मध्यम तथा उच्च, तीन पृथिव्यों का उल्लेख है ।[3] इस के अतिरिक्त रजस् शब्द का बहुवचन में प्रयोग भी लोकों की अनन्तता को दर्शाता है ।[4] यह सारा दृश्यमान जगत् तो परमात्मा की सृष्टि का एक पाद है, शेष तीन पाद तो दिव्य लोक में हैं ।[5] इस से सृष्टि की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है । उस के एक पाद में स्थित सृष्टि को आज तक कोई नहीं समझ सका तो सम्पूर्ण सृष्टि (चारों पादों) को कौन जान सकेगा ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में लोकों की संख्या तीन मानी गई है ।[6] ये तीन लोक हैं-मनुष्य लोक, पितृ लोक तथा देव लोक ।[7] काठक संहिता में इन लोकों की संख्या सात बताई गई है[8] परन्तु एक अन्य स्थल पर सहस्रों लोकों का निर्देश है ।[9]

---

1. कहण है किछु कहणु न जाइ ।
   तउ कुदरति कीमति नहि पाइ ।। -गउड़ी म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰140
2. जपु जी, गु॰ना॰र॰ 12
3. यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुतस्थः । -ऋ॰1॰108॰10
   तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः । -ऋ॰ 7॰104॰11
4. विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि । -ऋ॰1॰154॰1
5. पादो स्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।। -ऋ॰10॰90॰3
   गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित ज्ञानखण्ड की तरह यह दिव्यलोक भी एक मानसिक मण्डल है ।
6. त्रय इमे लोकाः । -तै॰सं॰2॰5॰11; कपिष्ठल कठ सं॰47॰6; जै॰ब्रा॰1॰159; ता॰ब्रा॰16॰16॰4; त्रयो वा इमे लोकाः । - जै॰ब्रा॰ 1॰139; शत॰ब्रा॰ 1॰2॰4॰20
7. त्रयो वाव लोकाः । मनुष्य लोकः पितृलोको देवलोक इति ।
   -शत॰ब्रा॰ 14॰4॰3॰24
8. सप्त इमे लोकाः । -काठक सं॰25॰2॰3
9. सहस्रसंमिता ह्यमे लोकाः । -काठक सं॰21॰6

शतपथ ब्राह्मण में नक्षत्रों के विषय में उल्लेख करते हुए इनकी संख्या करोड़ों बताई गई है। ऐसा निर्देश है कि एक संवत्सर में 10800 मुहूर्त होते हैं। मुहूर्तों से पन्द्रह गुना क्षिप्र हैं, इनके पन्द्रह गुना सत्राई, इनके पन्द्रह गुना इद, इद से पन्द्रह गुना प्राण तथा प्राणों की संख्या के समान लोम-गर्त होते हैं जितने लोमगर्त होते हैं उतने ही नक्षत्र भी होंगे।[1] इस प्रकार वैदिक साहित्य में विवेचित सृष्टि इतनी विशाल है कि उसका अनुमान लाना कठिन है।

सृष्टि का अन्त

प्रकृति का एक विधान है जो पदार्थ सत्ता में आया है, कभी न कभी उसका नाश भी अवश्य होगा। इस प्रकार यह सृष्टि जो कभी उत्पन्न हुई थी एक दिन नष्ट हो जाएगी। सृष्टि के इस नाश का नाम प्रलय है। प्रलय काल में सृष्टि का अभाव हो जाता है तथा इसका कोई भी चिह्न शेष नहीं रहता। विद्वानों का मत है कि जिस क्रम से सृष्टि की रचना होती है उसके विपरीत क्रम से प्रलय होती है।[2]

गुरु नानक वाणी में ऐसा उल्लेख है कि जिस प्रकार वह परमात्मा इस सृष्टि की रचना और संचालन करता है उसी प्रकार वह उसे लीन भी करता है।[3] गुरु नानक देव के अनुसार जिस प्रकार यह सृष्टि उस परमात्मा से उत्पन्न होती है उस प्रकार उसी में समाहित हो जाती है।[4] वह स्वयं इस सृष्टि का निर्माण करता है और स्वयं ही विनाश, यह सब उसकी इच्छा पर निर्भर करता है, वह जैसा चाहे वैसा ही करता है।[5]

---

1. दश च वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि संवत्सरस्य मुहूर्ता। यावन्तो मुहूर्तस्तावन्ति पञ्चदशकृत्वः क्षिप्राणि····यावन्तो लोमगर्तास्तावन्ति श्वेदायनानि यावन्ति स्वेदायनानि तावन्त एते स्तोका वर्षीन्ति।
   - शत॰ब्रा॰ 12·3·2·5
2. वेदार्थ चन्द्रिका, मुन्शीराम शर्मा, पृ॰104
3. आपे थापि उथापे आपे।
   आपे जोड़ि बिछोड़े करता आपे मारि जीवाइदा॥ -मारू म॰1, सो, गु॰ना॰र॰ 598
   जिनि सिरजी तिन फुनि गोई।····
   आपि उपाए आपि खपाए। आपे सिरि सिरि धंधे लाए॥-मारू म॰1, सो, गु॰ना॰र॰570
   आपे करे आपे हरे····। आसा म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰256
   जिसते उपजै बिनसै···। -सिरीराग म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰40
4. तुझ ते उपजै तुझ माहि समावहि॥ -मारू म॰1, सो, गु॰ना॰र॰602
5. ढढ ढोहि उसारे आपे जिउ तिसु भावै तिवै करे। ... र॰2

यद्यपि सृष्टि के अन्त-सम्बन्धी कुछ विचार संहिताओं तथा ब्राह्मणों में भी पाए जाते हैं तथापि गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित सृष्टि के अन्त-सम्बन्धी दृष्टिकोण का मूल उपनिषदों में ही पाया जाता है । श्वेतावतर उपनिषद् के अनुसार अपनी शक्ति के योग से ब्रह्म इस सृष्टि की रचना करता है और अन्त में यह सम्पूर्ण विश्व उसी में विलीन हो जाता है ।[1] इसी उपनिषद् के एक और मन्त्र में बताया गया है कि परमात्मा इस सृष्टि को उत्पन्न करता है तथा वही इसके एक-एक तत्त्व को संहार करता है ।[2] इसी बात को मुण्डकोपनिषद् में मकड़ी के दृष्टान्त से समझाया गया है । जिस प्रकार मकड़ी स्वयं अपने जाले की रचना करके स्वयं उसे निगल जाती है, उसी प्रकार वह परमात्मा स्वयं इस जगत् की रचना करके इसे लय करता है ।[3] इस उपनिषद् में इसी बात को एक और दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है । जिस प्रकार प्रचण्ड आग में सहस्रों चिनगारियां उत्पन्न होती हैं और अन्त में उसी में समा जाती हैं इसी प्रकार यह सृष्टि परमात्मा से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाती है ।[4] तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार यह सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न होती है, उसी में जीवन धारण करती है तथा उसी में लय हो जाती है ।[5] इसी बात को छान्दोग्योपनिषद् में अत्यन्त संक्षेप रूप में "तज्जलान्" कह कर बताया गया है ।[6]

---

1. य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
   वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देव: .....।। - श्वेता. 4.1
2. एकैकं जालं बहुधा.....कुरुते महात्मा । -श्वेता. 5.3
3. मुण्ड. 1.7.7
4. तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गा: सहस्रश: प्रभवन्ते सरूप: ।
   तथाक्षराद् विविधा: सोम्य । भावा: प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।
   -मुण्ड.2.1.1
   तुलना, जैसे एक आग ने कनूका कोट आग उठे न्यारे न्यारे ह्वै के फिर
   आग में मिलाहिंगे ।....
   तैसे विश्वरूप ते अभूत भूत प्रगट हैं ताहीं ते उपज सबै ताहीं में
   समाहिंगे ।। - पातसाही 10
5. तै.उ. 3.1
6. छान्दो. 3.14.1

5•4 माया -

माया भारतीय दर्शन शास्त्र का एक बहुचर्चित विषय है । माया के सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्य रूप से आचार्य शंकर ने किया है, किन्तु इससे पूर्व माया शब्द वैदिक संहिताओं में प्राप्त हो जाता है । वैदिक संहिताओं में माया शब्द का अर्थ शंकर की माया से भिन्न है; वहाँ इसका प्रयोग न तो भौतिक जगत् को मिथ्या बताने के लिए हुआ है और न ही वैदिक ऋषियों ने भ्रम का अज्ञान अर्थ में इसका प्रयोग किया है । ऋग्वेद में "माया" शब्द एवं उससे बने शब्दों का सबसे अधिक बार उल्लेख हुआ है । यहाँ माया शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से शक्ति अर्थ में हुआ है ।[1]

उदाहरण के रूप में ऋग्वेद में बताया गया है कि पराभवकर्त्ता तथा ज्ञानसम्पन्न इन्द्र ने अपनी माया (शक्ति) द्वारा दस्युओं को चूर्ण किया ।[2] पंचम मण्डल में उल्लेख है कि मित्र और वरुण की माया (सामर्थ्य) स्वर्ग में प्रकटित होती है ।[3] आठवें मण्डल में उल्लेख है कि इन्द्र ने अपनी माया से मायावी वृत्र को व्यथा पहुँचाई ।[4]

माया का सम्बन्ध मुख्य रूप से वरुण, मित्र-वरुण, इन्द्र एवं अग्नि से रहा है । कुछ स्थलों पर इसका सम्बन्ध असुरों के साथ भी बताया गया है । उदाहरणार्थ "अग्नि देव प्रबुद्ध होकर आसुरी माया को पराभूत करते हैं ।[5] इन्द्र जाकर आसुरी माया को विशेष प्रकार उच्छिन्न करें ।[6] अग्नि की स्तुति करने वाले वीर नेता आसुरी माया को दबा दें ।[7] इन्द्र ने आसुरी माया को परास्त किया ।[8] नेताओं ने वृषशिप्र नाम के दास की माया को संग्राम में विनष्ट किया ।[9] सोम ने गो रूप धन चुराने वाले द्वेषियों की माया और अस्त्रों को

1• ऋ• 4•30•21; 5•30•6; 8•23•15; 8•41•3; 10•99•10
2• ऋ• 3•34•6
3• मायाँ वाँ मित्रावरुणा दिवि श्रिता····। -ऋ• 5•63•4
4• त्वं मायाभिरनवद्य मायिनं श्रवस्यता मनसा वृत्रमर्दयः ।-ऋ•10•147•2
5• ऋ• 5•2•9
6• ऋ• 6•18•9
7• इमे नरो वृत्रहत्येषु शूरा विश्वा अदेवीरभि सन्तु मायाः ।
ये मे धियं पनयन्त प्रशस्ताम् । -ऋ• 7•1•10
8• ऋ• 7•98•5
9• दासस्य चिद् विषशिप्रस्य माया जघ्नथुर्नरा पृत्ना येषु ।-ऋ•7•99•4

व्यर्थ किया ।[1] इस के अतिरिक्त ऋग्वेद में "मायावी वृत्र"[2] "मायावी दानव"[3] आदि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है जहाँ माया शब्द का असुरों के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है ।

शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त ऋग्वेद में माया शब्द ज्ञान[4] या बुद्धि-बल[5] के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है । ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में उल्लेख है कि इन्द्र ने अपनी माया से द्युलोक को पतन से बचाया । यहाँ पर सायण "माया" का अर्थ बुद्धिबल करते हैं ।[6]

माया शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में प्रज्ञा अर्थ में भी हुआ है । पंचम मण्डल के वरुण सूक्त में कहा गया है कि हम लोग वरुण देव की माया {महती प्रज्ञा} की घोषणा करते हैं ।[7] वरुण देव की माया {महती प्रज्ञा} की घोषणा कोई नहीं कर सकता ।[8] मरुद्गण अपनी माया {प्रज्ञा} के बल से मेघों की रक्षा भली-भान्ति करते हैं ।[9]

ऋग्वेद के कुछ प्रसंगों में माया का रहस्यमयी या अद्भुत शक्ति के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है । तृतीय मण्डल में उल्लेख है कि मायावी इन्द्र अपने शरीर को नानाविध बनाते हैं ।[10] एक अन्य स्थल पर इन्द्र का माया द्वारा अनेक रूप धारण करने का भी उल्लेख है ।[11] शरीर को नानाविध बनाना तथा अनेक रूप धारण करना, साधारण शारीरिक शक्ति, बुद्धि का प्रज्ञा के वश नहीं है ।

---

1. ऋ॰ 6·44·22
2. ऋ॰ 2·11·9
3. ऋ॰ 2·11·10
4. ऋ॰ 10·147·5
5. ऋ॰ 7·28·4; 6·48·14
6. द्रष्टव्य ऋ॰ 2·17·5 पर सायण भाष्य ।
7. इमामूष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम् । -ऋ॰ 5·85·5
8. ऋ॰ 5·85·6
9. अभ्रा वसत मरुत: सु मायया द्यां वर्षयतमरुणामरेपसम् । -ऋ॰ 5·63·6
10. रूपं रूपं मघवा बोभवीति माया: कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम् । -ऋ॰3·53·8
11. इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते । -ऋ॰ 6·47·18

इन के बल पर कोई अनेक रूप नहीं धारण कर सकता । इसलिए यहाँ पर माया शब्द से अभिप्राय शारीरिक शक्ति तथा बुद्धि-बल से अतिरिक्त किसी और शक्ति से है । ऐसी शक्ति असुरों के पास भी होती थी जिस से वे अपना रूप परिवर्तित कर लेते थे । ऋग्वेद में उल्लेख है कि मायावी इन्द्र ने अपनी माया द्वारा मृग-रूपधारी वृत्र का वध किया ।[1] एक अन्य मन्त्र में बताया गया है कि इन्द्र अपनी माया द्वारा सर्वत्र फैलने वाले हैं । वे द्युलोक में चढ़ने वाले दस्युओं को निम्नाभिमुख प्रेरित करते हैं ।[2]

ऋग्वेद में माया शब्द उपर्युक्त अर्थों से भिन्न और भी कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । जैसे एक मन्त्र में कहा गया है कि "हे संसार के तृप्तिकर्त्ता एवं प्रार्थितफलप्रदाता अग्नि ! मायावियों की जिन मायाओं को देवों ने तुम्हें प्रदान किया है, वह सब तुम में ही हैं ।[3] "सारे मायावी लोग इन्द्र की नानाविध कीर्तियां देखते हैं ।"[4] "पूजनीय आदित्यगण द्रोहकारियों के लिए तुम्हारी जो माया बनाई गई है, और जो पाश शत्रुओं के लिए ग्रथित हुआ है, अश्वरोहियों की तरह हम उसे अनायास ही लांघ जाएं" ।[5] "इन्द्र ने माया द्वारा प्रवृद्ध वृत्र को चूर्ण किया ।"[6] "वरुण द्युतिमान् पद के द्वारा माया का विनाश करते हैं और स्वर्ग गमन करते हैं ।"[7] "मित्र-वरुण दोनों माया द्वारा उदक या यज्ञ से समस्त भूताजाति को दीप्त करते हैं ।"[8] "वरुण ऊपर गमन करते हुए माया व कर्म के द्वारा सारे संसार को धारण करते हैं ।"[9] ऋग्वेद में माया को द्युतिमान

---

1. ऋ॰ 1॰80॰7
2. मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरक्षतः । अव दस्यूँरधूनुथाः ।।
   -ऋ॰ 8॰14॰14
3. ऋ॰ 3॰20॰3
4. विश्वे पश्यन्ति मायिनः कृतानि । ऋ॰ 3॰38॰9
5. या वो माया अभिद्रुहे यजत्राः पाशा आदित्या रिपवे विचृत्ताः ।
   अश्वीव तां अति येषं रथेनारिष्टा उरावा शर्मन् त्यामः ।। -ऋ॰2॰27॰16
6. ऋ॰ 6॰22॰6
7. ऋ॰ 8॰41॰8
8. ऋ॰ 5॰63॰7
9. स क्षपः परि षस्वजे न्युप्तो मायया दधे स विश्वं परि दर्शतः । -ऋ॰8॰41॰3

बताया गया है ।[1] अथर्ववेद के अनुसार माया से माया बनी और माया से मातली ।[2] ऋग्वेद में एक मन्त्र में ऐसा भी उल्लेख है कि मन में विचार करके मानसचक्षु से विद्वान् लोगों ने देखा कि जीवात्मा (पतंग) को माया आक्रान्त कर चुकी है ।[3] इस प्रकार माया शब्द का वैदिक संहिताओं में अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है ।

उपनिषद् ग्रन्थों में मायावाद के स्पष्ट चिह्न पाए जाते हैं और यहाँ से ही प्रेरणा पाकर शंकर की अभिनव कल्पना ने मायावाद के सिद्धान्त का विकास एवं विस्तार किया । इस विषय में विद्वानों का मत है कि शंकर ने उपनिषदों से गृहीत भावों का विकास करके उन्हें अद्वैत दर्शन के रूप में सुगुम्फित कर दिया ।[4]

उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उपनिषदीय वाङ्मय में माया शब्द का प्रयोग अधिक बार नहीं हुआ । बृहदारण्यकोपनिषद् में ऋग्वेद का उद्धरण देकर बताया गया है कि इन्द्र ने अपनी माया (रहस्यमयी शक्ति) से अनेक रूप धारण किए ।[5] प्रश्नोपनिषद् में माया शब्द कपट या आचार की कुटिलता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[6] श्वेताश्वतरोपनिषद् में बताया गया है जब मनुष्य तन्मय होकर निरन्तर परमात्मा में ध्यान लगाता है तो वह भगवान् को प्राप्त कर लेता है । फिर समस्त माया की निवृत्ति हो जाती है ।[7] आगे चल कर एक अन्य मन्त्र में माया को प्रकृति कहा गया है तथा मायापति को परमेश्वर ।[8] मायापति परमात्मा (मायी) इस जगत् की रचना करता है ।

---

1. ऋ॰ 5॰40॰10
2. माया ह यज्ञे मायाया मायाया मातली परि । - अथर्व॰ 8॰9॰5
3. पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः । -ऋ॰10॰177॰1
4. उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, पृ॰154 (Hindu Mysticism)
5. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश । -बृहद॰2॰5॰19
6. तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्वमनृतं न माया चेति ।-प्रश्नो॰1॰16
7. तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः । -श्वेता॰ 1॰10
8. श्वेता॰ 4॰10

इस जगत् में यह जीव समुदाय माया के द्वारा बन्धा हुआ है ।[1] इस मन्त्र में माया को एक ऐसी शक्ति माना गया है जो जीव को बन्धन में डाल देती है तथा उस का परमात्मा से मिलन या साक्षात्कार नहीं होने देती । इसी बात का विवेचन करते हुए ईशोपनिषद् में बताया गया है कि सत्य का मुख हिरण्यमय पात्र से आच्छादित है ।[2] यह हिरण्यमय पात्र ही माया है । यह माया अपने बाहरी स्वरूप, उज्ज्वलता तथा वैभव से देखने वाले के मन को आकृष्ट कर उसे वास्तविकता को जानने से रोक लेती है । इसके लिए ईश्वर-कृपा की आवश्यकता होती है, तभी उस सत्य का दर्शन सम्भव है । इस मन्त्र में वर्णित यह पर्दा या आवरण अज्ञान का भी हो सकता है । अज्ञान के कारण ही मनुष्य सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता, परन्तु जब वह अज्ञान को त्यागकर ज्ञान का आश्रय ले लेता है तो वह इस सत्य को सुगमतापूर्वक समझ जाता है ।[3] श्री रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे के अनुसार उपनिषदों में माया के दो रूप वर्णित हैं । एक रूप से वह ईश्वर को परिवेष्टित किए हुए है और दूसरे रूप (अविद्या) से वह जीव को घेरे हुए है । यहाँ पर वेदान्त दर्शन की तरह दोनों में विभाजक रेखा नहीं खींची गई । दोनों के लिए प्राय: माया शब्द का ही प्रयोग हुआ है ।[4]

परवर्ती उपनिषदों में भी माया के स्वरूप तथा गुणों का वर्णन हुआ है । गर्भोपनिषद् में बताया गया है कि मनुष्य, जन्म से पूर्व माता के गर्भ में अपने पूर्व जन्म और कर्मों को भली-भान्ति जानता रहता है । परन्तु जब जन्म लेता है तो माया के स्पर्श से सब कुछ भूल जाता है, पूर्व जन्म एवं मृत्यु को भूल जाता है, उसे अपने गर्भज्ञान का भी ध्यान नहीं रहता, वह शुभाशुभ कर्मों को भी भूल जाता है ।[5] उसे केवल फल ही भोगना पड़ता है । मैत्रिकोपनिषद् माया को

---

1. यस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्ध: ।
   -श्वेता. 4.9
2. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
   तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। - ईशा. 15
3. कठो. 1.2.4-5
4. उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, रामचन्द्र दत्तात्रेय, रानाडे, पृ.156
5. गर्भोपनिषद् - 4

आदि-अन्त रहित, सभी की जननी, भूतों का पालन करने वाली, श्वेत, काली और लाल (सत्त्व, तमस् और रजस् गुण से युक्त) तथा समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली मानती है ।[1] सर्वसारोपनिषद् में इस का विस्तृत विवेचन है । उस के अनुसार माया अनादि तो है पर अन्तवती है । वह न सत् है न असत् है और न सदसत्, वह सर्वाधिक विकार-रहित दिखाई पड़ने वाली है । इसके अतिरिक्त और किसी ढंग से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । यह अज्ञान-रूप, तुच्छ तथा मिथ्या है परन्तु मूढ़ लोगों को तीनों काल में वास्तविक जान पड़ती है । इसलिए यह कहकर कि वह ऐसी है, उसका यथार्थ रूप नहीं समझाया जा सकता ।[2]

माया का चित्रण करते हुए गुरु नानक वाणी में बताया गया है कि यह दृश्यमान जगत् स्थिर नहीं है, यह परिवर्तनशील, चलायमान एवं नश्वर है । इसी चलायमानता का नाम माया है । गुरु नानक वाणी के अनुसार यह जगत् सत् तो नहीं है किन्तु वेदान्तियों की तरह गुरु नानक इसे भ्रम अथवा शशशृंग या खपुष्प की तरह असत्य भी नहीं मानते । इस नश्वर संसार को स्थायी समझ लेना ही माया है । डा॰ रत्न सिंह जग्गी के अनुसार "गुरु नानक ने अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि को माया माना है अर्थात् असत्य को सत्य मान लेना माया है । अंधकार में रस्सी को सर्प समझ लेना अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि का उदाहरण है ।"[3]

गुरु नानक वाणी में माया का दार्शनिक स्तर पर विश्लेषण किया गया है । माया ब्रह्म की ही एक शक्ति है जो रचना करने की इच्छा से अस्तित्व में आती है । इसी पर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश निर्भर करता है । इस धाराप्रवाह को चलाने के लिए माया के तीन शिष्य काम करते हैं, ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति करते हैं, विष्णु पालन तथा शिव संहार करते हैं ।[4]

1॰ गौरनाद्यन्तवती स्याज्जनित्री भूत भावनी ।
सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुधा विभो: । -मन्त्रकोपनिषद् -5

2॰ सर्वसारोपनिषद्-15

3॰ गुरु नानक : व्यक्तित्व, कृतित्व और चिंतन, पृ॰445

4॰ एका माई जुगति विआई तिनि चेले परवाणु ।
इकु संसारी इकु भंडारी इकु लाए दीबाणु ।। - जपु जी, गु॰ना॰र॰18

माया जगत् को आकृष्ट करने वाली शक्ति है । जो इस के पाश में फँस जाते हैं, उन के सभी कर्म व्यर्थ हो जाते हैं ।[1] वस्तुत: यह प्रभु द्वारा दिया गया नशे का पिण्ड है जिसके प्रभाव से मानव-बुद्धि मृत्यु को भूल कर चार दिन की खुशियों में रत हो जाती है ।[2]

माया का स्वरूप सीमा-रहित है । यह अनेक रूपों में विद्यमान रहती है एवं अनेक रूपों के द्वारा संसार के जीवों को प्रभावित करती है । माया स्त्री, पुत्र, भाई, घर, धन, यौवन, लोभ एवं अहंकार आदि रूपों को धारण कर संसार के जीवों को ठगती है ।[3] गुरु नानक वाणी में माया को धोखा कहा गया है,[4] क्योंकि यह किसी के साथ नहीं जाती ।[5] फिर भी राजा लोग माया का संचय कर अहंकार करते हैं, परन्तु उनकी प्रिया ये माया, उनके साथ नहीं जाती, ये तो विविध रंगों वाली ममता है ।[6]

गुरु नानक वाणी के अनुसार माया के मोह ने सम्पूर्ण जगत् को प्रभावित किया हुआ है । कामिनी को देख कर कामी पुरुष लुब्ध हो जाता है । पुत्र तथा स्वर्ण आदि के साथ मनुष्य का प्रेम है । उसके लिए यह सब कुछ अपना है, केवल ईश्वर ही पराया है । उसे वह कभी याद नहीं करता ।[7] यह संसार

---

1. इह माइआ जीं कोहणी भाई करम सभे वेकारी । सोरठ म॰१, अस, गु॰ना॰र॰ 356
2. अमलु गलोला कूड़ का दिता देवणहारि ।
मती मरणु बिसारिआ खुसी कीतो दिन चारि ।। -सिरीराग म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰28
3. तृसना माइआ मोहणी सुत बंधप धारि नारि ।
धनि जोबनि जगु ठगिआ लबि लोभि अहंकारि ।
मोह ठाउली हउ मुई सा वरतै संसारि ।। -सिरीराग म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰78
4. बाबा माइआ रचना धोहु । -सिरीराग म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰26
5. बाबा माइआ साथि न होइ ।। -सोरठ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰344
6. माइआ संचि राजे अहंकारी । माइआ साथ न चलै पिआरी ।
माइआ ममता है बहु रंगी ।। -परभाती म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰ 760
7. माइआ मोहि सगल जगु छाइआ ।
कामणि देखि कामि लोभाइआ ।।
सुत कंचन सिउ हेतु वधाइआ ।
सभु किछु अपना इकु रामु पराइआ ।। - परभाती म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 762

व्यक्ति कामिनी और कंचन के मोहपाश में बन्धा रहता है और द्वैत भाव में फंसकर नाम को भूल जाता है ।[1]

गुरु नानक वाणी में माया का स्वरूप त्रिगुणात्मक माना गया है ।[2] गुरु नानक का मत है कि जीव जगत् की त्रिगुणात्मक माया और मोह में फंसा हुआ है ।[3] जीव माया के तीनों गुणों के वशीभूत होकर कई प्रकार की क्रिया करता है जिसके परिणामों का गुरु नानक वाणी में चित्रण बहुत सुन्दर हुआ है -

तेरे तीनि गुण संसारि समावहि अलख न लखणा जाई रे ।
सकरु खंडु माइआ तनि मीठी हम तउ पंड उचाई रे ।
राति अनेरी सूझसि नाही लमु टूकसि मूसा भाई रे ।[4]

गुरु नानक वाणी में कुछ स्थलों पर रूपकों के द्वारा माया के प्रभाव का चित्रण किया गया है । आसा राग में माया के लिए बुरी सास के रूपक का प्रयोग करते हुए गुरु नानक बताते हैं कि माया एक ऐसी बुरी सास है जो जीवरूपी बहू को निजघर (आत्मसुख) में बसने नहीं देती तथा उसे अपने प्रियतम (परमेश्वर) से मिलने नहीं देती ।[5] गुरु नानक वाणी में कबीर की तरह माया के लिए सर्पिणी का रूपक भी प्रयोग किया गया है । गुरु नानक वाणी में उल्लेख है कि यह जीव माया रूपी सर्पिणी के वश में है तथा उस के अन्दर अहंभाव तथा द्वैतभाव है।[6]

---

1. कनिक कामनी हेतु गवारा ।
   दुबिधा लागे नामु विसारा ।। - आसा म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰240
2. त्रिहु गुण बंधी देहरी जो आइआ जगि सो खेलु । -सिरीराग म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰42
   त्रिकुटी छूटी बिमल मझारि । -गउड़ी म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰156
3. नानक तीजै त्रिबिधि लोका माइआ मोहि विआपी । -तुखारी म॰१, छंत, गु॰ना॰र॰634
4. गउड़ी म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰152
   डा॰ मनमोहन सहगल के अनुसार प्रस्तुत पद्य में माया के तीनों गुणों की ओर संकेत किया गया है । "सकरु खंडु" का रसास्वादनसुख सत्वगुण, "पंड उचाना" में लोभ और बल का संकेत होने से रजोगुण एवं "राति अनेरी" में अज्ञानता के कारण तमोगुण का स्वरूप चित्रित है । गुरु ग्रन्थ साहिब एक सांस्कृतिक सर्वेक्षण, पृ॰276
5. सासु बुरी घरि वासु न देवै पिर सिउ मिलणु न देह बुरी । -आसा म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰214
6. इउ सरपनि कै वसि जीअड़ा अंतरि हउमै दोइ ।
   -सिरीराग म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 84

माया के प्रभाव को व्यक्त करते हुए "तिलंग राग" में बताया गया है कि जिन पर माया का रंग चढ़ा होता है उन पर प्रभु के नाम का रंग नहीं चढ़ता । ऐसे व्यक्ति प्रभु-मिलन का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते ।[1]

गुरु नानक वाणी में माया की एक ऐसे जाल के रूप में कल्पना की गई है जो संसार-सागर में मन को बांधे हुए है तथा जिस में सभी प्राणी फंसे हुए हैं ।[2] जगत् के सभी प्राणियों को माया का मोह मीठा लगता है ।[3] गुरु नानक वाणी में माया की छाया के रूप में भी परिकल्पना की गई है, जो भीतर से खोखली है, फिर भी यह जगत् इस में फंसा हुआ है ।[4] वस्तुत: यह जगत् माया की ही छाया है ।[5]

गुरु नानक का मत है कि माया के मोह की मिठास प्राणियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है और इसी मिठास के कारण प्राणियों की अन्त में दुर्दशा होती है । इस बात को गुरु नानक वाणी में ईख के दृष्टान्त से समझाया गया है । ईख के अन्दर भी मिठास होती है, इसलिए उसे काट-छील कर बांधा जाता है । फिर बेलन में पेल कर उसका रस निकाला जाता है । रस को कड़ाहे में डाल कर तपाया जाता है । यहाँ तक कि उसके फोग एवं खोई को भी जला दिया जाता है । गन्ने की यह दुर्दशा उसकी मिठास के कारण होती है । इसी प्रकार जिनके अन्दर माया की मिठास है उन्हें तरह-तरह के कष्ट झेलने पड़ते हैं ।[6]

उपनिषदों की भान्ति गुरु नानक वाणी में भी माया की रचना परमात्मा

---

1. इहु तनु माइआ पाहिआ पिआरे लीतड़ा लबि रंगाए ।
   मेरे कंत न भावै चोलड़ा पिआरे किउ धन सेजै जाए ।। - तिलंग म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 386
2. मनु माइआ बंधिओ सर अ जाति ।
   घटि घटि बिआपि रहिओ बिखु नालि ।। - बिलावल म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰430
3. संसारु माइआ मोहु मीठा । आसा म॰१, छंत, गु॰ना॰र॰272
4. छाइआ छूछी जगतु भुलाना । रामकली म॰१, ओअंकार, गु॰ना॰र॰482
5. सभु जगु देखिआ माइआ छाइआ । आसा म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 208
6. माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰।।6

से मानी गई है । आसा राग की वार में बताया गया है कि द्वैतभाव वाली माया की रचना परमात्मा स्वयं करता है ।[1] रामकली राग में उल्लेख है कि वह परमात्मा माया की रचना करता है तथा वही इसके स्वरूप को समझ सकता है ।[2] इसी प्रकार सारंग की वार में भी स्पष्ट किया गया है कि तीनों गुण तथा उन से सम्बद्ध माया की रचना ब्रह्म ही करता है और वही मोह की वृद्धि करता है ।[3]

वेदान्तवादियों की तरह गुरुनानक माया को परमात्मा की दासी मानते हैं । गउड़ी राग में परमात्मा को ठाकुर तथा माया को दासी कहा गया है । गुरु नानक का मत है कि माया रूपी दासी की सेवा करने वाला व्यक्ति सुख नहीं प्राप्त कर सकता । वास्तविक सुख तो परमात्मा की सेवा से प्राप्त होता है । जिस प्रकार जल मथने से नवनीत नहीं प्राप्त होता, उस प्रकार माया की सेवा से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ।[4]

गुरु नानक वाणी में माया के अनेक रूप एवं रंग माने गए हैं ।[5] इस माया का प्रसार सभी लोकों में है ।[6] काम, क्रोध, लोभ, मोह, अंहकार आदि विकार भी माया के विभिन्न रूप हैं ।[7] यदि मनुष्य इन के वश में आ जाए तो वह ठीक से देख-विचार भी नहीं कर सकता । काम, क्रोध के रूप में माया शरीर को इस प्रकार नष्ट कर देती है जिस प्रकार सुहागा सुवर्ण को ढाल देता है ।[8] पुत्र-पुत्रियों, स्त्री एवं सम्बन्धियों के प्रेम में जब व्यक्ति खो जाता है तो यह सब भी माया बन जाते हैं ।[9]

---

1. आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰274
2. माइआ ममता मोहणी जिनि कीती सो जाणु । रामकली म॰१, सिध गोसटि, गु॰ना॰र॰494
3. त्रैगुण आपि सिरजिअनु माइआ मोहु बधाइदा । सारंग म॰१, वार, आ॰ग्र॰ 1237
4. चेरी की सेवा करहि ठाकुरु नहीं दीसै ।
   पोखरु नीरु विरोलीए माखनु नही रीसै ।। -गउड़ी म॰१, अस, गु॰ना॰र॰184
5. माइआ ममता है बहुरंगी । परभाती म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰760
6. सगल भवन तेरी माइआ मोह । बसंत म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰654
7. दूजी माइआ जगत चित वासु ।
   काम क्रोध अहंकार बिनासु ।। -गउड़ी म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰162
8. कामु क्रोधु काइआ कउ गालै ।
   जिउ कंचन सोहागा ढालै ।। -रामकली म॰१, ओअंकार, गु॰ना॰र॰480
9. पुत्र कलत्र जगि हेतु पिआरा ।
   माइआ मोहु पसरिआ पासारा ।। -मारू म॰१, सो॰गु॰ना॰र॰588

माया का प्रभाव बहुत तीव्र है । इसके प्रभाव से बचना अति कठिन है । गुरु नानक का मत है कि माया ने समस्त जगत् के मन में वास किया हुआ है ।[1] साधारण लोगों की बात तो अलग रही, इस के प्रभाव से तो देव भी नहीं बच सके ।[2] इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् माया के वश में है । बहुत कम व्यक्ति ही ये जानते हैं कि मोहणी माया अपने नाना रूपों के द्वारा जीव को ठग रही है ।[3] वस्तुत: यह जगत् तो सूत के धागे के समान (कच्चा) है और इस को दशों दिशाओं से माया ने बांध रखा है ।[4]

माया के प्रभाव का वर्णन करते हुए रामकली राग में बताया गया है कि मनुष्य के अन्दर संशय है और बाहर माया आंखों में बाण सदृश ला रही है ।[5] मनुष्य का मन माया रूपी अंधकारपूर्ण कूएं में गड़ा हुआ है तो उस से मुक्ति किस प्रकार पाई जाए ।[6] इस विषय में गुरु नानक का मत है कि माया के प्रभाव से ईश्वर-कृपा द्वारा छूटा जा सकता है । मनुष्य चाहे माया में कितना भी रत क्यों न हो, ईश्वर-कृपा माया के विष-सदृश प्रभाव को रोक देती है ।[7]

माया से मुक्ति का दूसरा साधन परमात्मा का नाम है । परमात्मा के पवित्र नाम में लीन होने से माया का प्रभाव जाता रहता है । परन्तु यह बात गुरु की शिक्षा द्वारा ही समझ में आती है ।[8] गुरु शब्द द्वारा प्राप्त परमात्मा का निर्मल नाम माया एवं मोह को जला कर नष्ट कर देता है ।[9]

---

1. दूजी माइआ जगत चित वासु । गउड़ी म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰162
2. माइआ मोहे देवी सभि देवा ।। गउड़ी म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰176
3. इन माइआ जग मोहिआ ~~बिबस~~ बिरला बूझै कोइ । -सोरठ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰344
4. इहु जगु तागो सूत को भाई दहदिस बाधो माइ ।-सोरठ म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰358
5. अंतरि सहसा बाहरि माइआ नैणी लागसि बाणि । रामकली म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰446
6. अंधकूपि माइआ मनु गाडिआ किउकरि उतरउ पारि सुआमी । रामकली म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰446
7. लाल भए सूहा संगु माइआ ।
   नदरि भई विचु ठाकि रहाइआ ।। - गउड़ी म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰156
8. त्रिकुटी छूटी बिमल मझारि । गुरु की मति जीइ आई कारि ।।-वही
9. माइआ मोहु गुरु सबदि जलाए ।
   निरमल नामु सद हिरदै धिआए ।। - आसा म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰228

5·5 जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध

जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का वर्णन करने से पूर्व, जीवात्मा और परमात्मा के अर्थ पर संक्षेप में विचार करना अनुचित नहीं होगा । जीवात्मा "जीव" तथा "आत्मा" दो शब्दों से बना है । "आत्मा" अन् धातु से व्युत्पन्न शब्द है । यह जीवन का श्वास है ("आत्मा ते वात:" ऋ· 7·87·2) धीरे-धीरे इसका अर्थ विस्तार होता गया और इस से जीवन, आत्मा या व्यक्ति की मूल सत्ता का बोध होने लगा ।[1] शंकर आत्मा शब्द को √अत धातु से बना मानते हैं ।[2] न्याय-दर्शन के अनुसार जो ज्ञान का अधिकरण हो वही आत्मा है । सभी का द्रष्टा, सभी का भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य तथा सर्वव्यापक आत्मा है ।[3] आत्मा मानवीय जीवन का आधार है । यह मानव शरीर में पूर्ण रूपेण व्याप्त है, किन्तु शरीर के नष्ट होने पर, यह नष्ट नहीं होती, इस की सत्ता तब भी बनी रहती है । यह आत्मा माया के प्रभाव के कारण जब अपनी अलग सत्ता समझने लगती है, अहंकार के कारण जब "मैं" (अहम्) उत्पन्न हो जाता है, तब यह जीव कहलाती है । इस विषय में निरालम्बोपनिषद् में बताया गया है कि जब इस चैतन्य को ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तथा इन्द्र आदि नाम और रूप के द्वारा यह मिथ्या देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है कि "मैं स्थूल हूं", तब इसे जीव कहा जाने लगता है । यह चैतन्य "सोऽहं" के रूप में एकत्व का अनुभव करता है पर भिन्न-भिन्न शरीर के कारण वह जीव रूप बन जाता है ।[4] यह ही वह आत्मा है जो कर्मों का फलोपभोग करती है तथा पंचभौतिक शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती । उपनिषदों में इसे भोक्ता और कर्ता कहा गया है ।[5]

1· उपनिषदों की भूमिका, डा· राधा कृष्णन, पृ·74 अनु· रामनाथ शास्त्री

2· आप्नोतेरत्तेरततेर्वा । ऐत·उ· 1·1 पर शंकर भाष्य

3· भारतीय दर्शन, उमेश मिश्र, पृ·184

4· जीव इति च ब्रह्मा विष्णवीशानेन्द्रादीनां नामरूपद्वारा स्थूलोऽहमिति मिथ्याध्यासवशाज्जीव: । सोऽहमेकोऽपि देहारम्भकभेदवशाद् बहु जीव: ।
-निरालम्बोपनिषद् 5

5· कठो· 1·3·4; प्रश्नो· 4·9

यह आत्मा ही शरीर के साथ संयुक्त होकर जीवात्मा कहलाती है ।

इस जगत् की सृष्टि-पालन तथा संहार करने वाली सत्ता को परमात्मा माना जाता है जिस में से सभी जीवात्माएं आग से स्फुलिंग की तरह निकलती हैं । वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, आनन्दपूर्ण, भयरहित, वेद-रहित, काल तथा समय की सीमा से परे तथा जगत् का संचालन करने वाला है ।[1]

ऋग्वेद का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में आत्मा के विषय में अधिक चर्चा नहीं हुई । आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध के विषय में मुख्यत: अस्यवामीय सूक्त में विवेचन किया गया है । इस सूक्त में आत्मा को अमर माना गया है । अर्थात् आत्मा एक ऐसा तत्त्व है जिसका मृत्यु से भी विनाश नहीं होता ।[2] इस जगत् की सृष्टि करने वाला परमात्मा सर्वज्ञ है, परन्तु जीवात्मा अपने वर्तमान रूप में अल्पज्ञ है । वह अपने स्वरूप को नहीं जानता क्योंकि वह निण्य और सन्नद्ध है । तथापि यह मन से व्यवहार करता है, जहाँ तक मन की गति है, वहाँ तक जानता है[3] परन्तु जब वह परमात्मा को जान जाता है तब उसी में समा जाता है ।[4]

ऋग्वेद में जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को बहुत आलंकारिक भाषा में व्यक्त किया गया है । दो सुपर्ण पक्षी मित्रता के साथ एक वृक्ष पर रहते हैं । उन में से एक स्वादु पिप्पल का भक्षण करता है, दूसरा कुछ भी भक्षण नहीं करता, केवल द्रष्टा मात्र है ।[5] ये दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं जो विशेष शक्ति से युक्त हैं तथा सदा मित्रभाव से साथ-साथ रहते हैं । ये दोनों प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हैं । इन में से जीवात्मा उस वृक्ष

---

1. विस्तार के लिए द्रष्टव्य अध्याय 6.1 ब्रह्म का स्वरूप ✓
2. ऋ. 1.164.30
   इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृते गृहे । - अथर्व. 10.8.26
3. न विजानामि यदिवेदमस्मि निण्य: सन्नद्धो मनसा चरामि ।-ऋ.1.164.37
4. य इत्तद्विदुस्त इमे समासते । -ऋ. 1.164.39
5. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
   तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।।
   -ऋ. 1.164.20

के फलों का भक्षण करता है अर्थात् संसार में आसक्त होकर सुख-दुःख रूपी फल भोगता है । जबकि परमात्मा इस संसार में निर्लिप्त रहता हुआ केवल द्रष्टा मात्र है । इस वृक्ष की चोटी पर लगा जो सर्वोत्कृष्ट है फल है, उसको जीवात्मा तब तक नहीं प्राप्त कर सकता जब तक वह मधु फलों के भक्षण में आसक्त है तथा अपने पिता (परमात्मा) को नहीं जान पाता । जब वह परमात्मा को जान लेता है तो इस वृक्ष की चोटी पर लगे उत्तम फल को प्राप्त कर लेता है ।[1]

ऋग्वेद का उपर्युक्त मन्त्र मुण्डक तथा श्वेताश्वतर में भी आया है । वहाँ पर इसके आगे वाले मन्त्र में बताया गया है कि उस पेड़ पर रहने वाला जीवात्मा (पुरुष) भोगों में निमग्न, कर्म में बन्धा जाकर, अपनी असमर्थता से मोह में पड़ा शोक करता है । जब अपने से भिन्न, दूसरे, ईश्वर को अपना सखा देखता है और उसकी अपार महिमा को जान जाता है, तब शोक-रहित हो जाता है ।[2] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार यह ब्रह्म को जानकर ब्रह्म रूप ही हो जाता है ।[3] तब इन आत्माओं का अपना कोई नामरूप नहीं रहता जिस प्रकार समुद्र में मिलने के बाद नदी का अपना नाम रूप नहीं रहता । इस बात को स्पष्ट करते हुए प्रश्नोपनिषद् में बताया गया है कि लय काल में सभी जीव उस परमात्मा में ही लीन हो जाते हैं, उन के अपने नामरूप नहीं रहते । उस समय केवल पुरुष ही अव्यक्त अवस्था में रह जाता है और सभी कलाएं कारण में लीन हो जाती हैं तथा ब्रह्म ही कहलाती हैं । जिस प्रकार असंख्य नदियाँ समुद्र में गिरती हैं और गिर कर समुद्र का ही रूप धारण कर लेती हैं, उनका अपना नामरूप समाप्त हो जाता है ।[4]

---

1. यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
   तस्य ददाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ।। -अथर्व॰9॰9॰2।
2. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
   जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ।। -मुण्ड॰3॰1॰2
   श्वेता॰4॰7
3. स यो ह्वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । मुण्ड॰3॰2॰9
4. प्रश्नो॰ 6॰5
   तुलना - नदीआ अते वाह पवहि समुंदि न जाणीअहि । जपु जी, गु॰ना॰र॰12

छान्दोग्योपनिषद् में भी आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को समुद्र तथा नदी-जल के दृष्टान्त से समझाया गया है । जिस प्रकार समुद्र से जल वाष्प बनकर उठता है, फिर पर्वतों पर वर्षा होती है तथा जल नदियों से जाता हुआ फिर समुद्र में जा मिलता है, उसी प्रकार ये जीवात्माएं सत् से बाहर आकर अज्ञानवश नहीं जानतीं कि हम सत् से बाहर आ रही हैं । बाहर आकर अपना चक्र काट कर पुन: उसी में जा मिलती हैं । वहाँ इनको कोई ज्ञान नहीं होता कि मैं कौन आत्मा हूँ । ठीक उसी भान्ति उसे सागर में मिलने के पश्चात् नदी को अपना ज्ञान नहीं रहता कि वह कौन नदी है । सागर में मिलकर सब की सब सागररूप हो जाती हैं । उसी प्रकार सभी जीवात्माएं परमात्मा के साथ मिलकर उसी का रूप हो जाती हैं ।[1] जीवात्मा और परमात्मा के अंश-अंशी के इस संबन्ध को अग्नि और स्फुलिंग के दृष्टान्त से भी समझाया गया है । जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान रूप वाली हज़ारों चिन्गारियाँ उत्पन्न होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार उस परमात्मा से हज़ारों आत्माएं उत्पन्न होती हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाती हैं ।[2]

कठोपनिषद् में यह भी बताया गया है कि भले ही जीवात्मा और परमात्मा एक ही हृदय रूपी गुफा में निवास करते हैं फिर भी दोनों में अन्तर है । इस अन्तर को उपनिषद् में धूप और छाया के समान व्यक्त किया गया है । परमात्मा प्रकाशस्वरूप या ज्ञानवान् है जबकि जीवात्मा छाया के समान है जहाँ अल्प प्रकाश होता है । भाव यह है कि परमात्मा ज्ञानवान् है तथा जीवात्मा अल्पज्ञ । इसमें जो भी ज्ञान है वह छाया में प्रकाश की तरह उस परमात्मा से प्राप्त ज्ञान है ।[3]

इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में परमात्मा को आनन्द से पूर्ण माना

---

1. छान्दो. 6.10.1-3
2. मुण्ड. 2.1.1
3. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
   छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति प चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता: ।
   - कठो. 1.3.1

गया है । परमात्मा किसी तरह भी आनन्द से अपूर्ण नहीं है ।[1] परन्तु जीवात्मा में आनन्द नहीं है, यह उस आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर आनन्दवान् होती है ।[2] इसके अलावा उपनिषदों में आत्मा को परमात्मा की तरह अमर तथा अविनाशी माना गया है । यह न कभी उत्पन्न होती है न मरती है और न ही किसी के द्वारा मारी जाती है ।[3]

उपनिषदों की तरह गुरु नानक वाणी में भी आत्मा को परमात्मा का अंश माना गया है । जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए गुरु नानक भी परमात्मा की तरह आत्मा को अमर मानते हैं । आत्मा न मरती है और न ही किसी के द्वारा मारी जाती है ।[4] गुरु नानक के मतानुसार आत्मा परमात्मा में है तथा परमात्मा आत्मा में ।[5] शुद्ध रूप में इनमें कोई भेद नहीं है । इनका आपस में अंश-अंशी का सम्बन्ध है, किन्तु जीव अज्ञानता या अहंकार के कारण अपनी अलग सत्ता समझने लग जाता है और माया के आवरण के कारण अपने वास्तविक रूप को जान नहीं पाता । सांसारिक भोगों में आसक्त हुआ यह आवागमन के चक्र में फँस जाता है । यह आना-जाना

---

1. रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । -अथर्व॰ 10·8·44
   आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । - तै॰उ॰ 2·4
   सच्चिदानन्दं ब्रह्म । - तै॰उ॰ 2·4
   आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात । - तै॰उ॰ 3·6
   विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । - बृहद्॰ 3·9·28
2. रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । - तै॰उ॰ 2·7
3. कठो॰ 1·2·18; तै॰उ॰ 1·6; 1·10; छान्दो॰ 6·11·3; 8·1·15
4. ना जीउ मरै न मारिआ जाई····। - मारू म॰1, सो॰ गु॰ना॰र॰582
   न जीउ मरै न डूबै तरै । गउड़ी म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰ 138
   तुलना कठो॰ 1·2·18; गीता॰ 2·20
5. आतम महि रामु राम महि आतमु । भैरउ म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰ 650
   आतम रामु रामु है आतम हरि पाईऐ सबद बीचारा है । -मारू म॰1, सो॰ गु॰ना॰र॰ 590
   जाति महि जोति जोति महि जाता····। -आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰

परमात्मा का धर्म नहीं है, वह स्थिर है । आत्मा भी यदि अपने स्वरूप को जान ले तो उसे परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा उसका संसार में आना-जाना समाप्त हो जाता है । इसलिए गुरु नानक वाणी में उपनिषदों की तरह आत्मा को जानने पर विशेष बल दिया गया है ।[1] जिसको आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह परमात्मा का ही रूप हो जाता है क्योंकि परमात्मा रूपी अमृत वृक्ष के जो फल लगते हैं वे भी अमृत रूप होते हैं ।[2] तथा इन फलों को चखने वाले भ्रम तथा भेद-भाव को त्यागकर अमृत ही हो जाते हैं । इसलिए धनासरी राग में "आत्मा परमात्मा एको करै" पर बल दियउ गया है । "सहसकृती के सलोकों" में यही बात दृढ़ की गई है कि जगतीतल की सभी आत्माएँ उस परमात्मा (वासुदेव) का ही रूप है; जो इस बात को जान लेता है वह भी "निरंजन देव" (परमात्मा) का ही रूप हो जाता है[3] तथा उसे इस बात का अनुभव हो जाता है कि "सो प्रभु दूरि नाहीं प्रभु तूं है ।"[4]

जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए गुरु नानक वाणी में एक दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है कि परमात्मा एक महान् सागर है तथा जीवात्मा एक छोटा सा जलकण या बूँद है । बूँद भी अपने आप में एक छोटा सा सागर है तथा वह अपने में सागर के सभी तत्त्व एवं गुणों को समाहित किए हुए है । इसी प्रकार आत्मा परमात्मा में है तथा परमात्मा आत्मा में । इस भेद को जो जान लेता है वह परम गति को प्राप्त हो जाता है[5] परन्तु आत्म-तत्त्व का ज्ञान गुरु के उपदेश से होता है कहने-सुनने से नहीं ।[6]

---

1. आतमु चीनि परातमु चीनहु गुर संगति इहु निसतारा है ।
   -मारू म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰ 590
   तुलना - आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो .....। बृहद॰ 2॰4॰5
2. जिनी आतमु चीनिआ परमातमु सोई ।
   एको अंमृत बिरखु है फल अंमृत होई ।। आसा म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰256
3. आतमं प्री बास्व देवस्य जे कोई जानसि भेव ।
   नानक ताको दासु है सोई निरंजन देव । सलोक सहसकृती म॰१, गु॰ना॰र॰77
4. आसा म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 208
5. सागर महि बूंद बूंद महि सागरु कवनु बुझै विध जाणै। रामकली म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰452
6. नानक आपे आपु पछाणै गुरमुखि ततु वीचारी ।
   - तुरवारी म॰१, छंत, गु॰ना॰र॰ 638

गुरु नानक वाणी में आत्मा को हंस कह कर उसे परमात्मा का अंश[1] अवश्य माना गया है फिर भी वेदान्त दर्शन की तरह "अहं ब्रह्मास्मि" का डंका नहीं बजाया गया । गुरु नानक का मत है कि अंश सम्पूर्ण अंशी नहीं हो सकता, उसी प्रकार जैसे बूँद सागर तथा किरण सूर्य नहीं हो सकती । मुक्त आत्मा अभेद होकर प्रभु में मिल जाती है तथा प्रभु-रूप हो जाती है, परन्तु प्रभु नहीं । इस प्रकार आत्मा-परमात्मा अभेद हो जाते हैं । अलग करने वाला पर्दा नष्ट हो जाता है तथा द्वैत भाव नहीं रहता ।[2]

गुरु नानक वाणी में वेदान्त दर्शन की तरह "सोहं" (सोऽहं) शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है "मैं ब्रह्म हूँ" (अहं ब्रह्मास्मि) अर्थात् आत्मा परमात्मा है तथा परमात्मा आत्मा या आत्मा परमात्मा एक हैं । इस विषय में गुरु नानक वाणी में "ततु निरंजनु जोति सबाई सोहं भेद न कोई जीउ"[3] कह कर स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है । अत: गुरु नानक वाणी में "सोहं" शब्द से भी आत्मा को परमात्मा से अभेदता की अवस्था का वर्णन हुआ है ।[4]

आत्मा की अद्वैतता के विषय में डा॰ भाई जोध सिंह के विचार दर्शनीय हैं । उन का मत है कि "कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा ही ब्रह्म है । गुरु साहिब यह नहीं मानते कि जीवात्मा जिस अवस्था में है, वह ब्रह्म है । इसे निरंकार ने अपनी ज्योति से बनाया है । यह ब्रह्म रूप हो सकता है, उसी तत्त्व से निर्मित होने के कारण निरंकार से मिल सकता है परन्तु निरंकार पूर्ण है तथा

1॰ निरमल काइआ उजल हंसा । तिस विच नानु निरंजन अंसा ।
- मारु म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰ 600
कंचन काइआ निरमल हंसु । जिस महि नामु निरंजनु अंसु ।
- मलार म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 704

2॰ आतमा परमातमा एको करै ।
अंतरि की दुबिधा अंतरि मरै । -धनासरी म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 366

3॰ सोरठ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 352

4॰ नानक सोहं हंसा जापु जपहु त्रिभवण तिसै समाहि । मारु म॰१, पदे,
सोहं आपु पछाणीऐ सबदि वार, गु॰ना॰र॰ 624
भेदि पतीआइ । -सिरीराग म॰१,
अस॰ गु॰ना॰र॰ 76

जीव अपूर्ण । यह जीव जब निरंकार में लीन हो जायेगा तब भी निरंकार अनन्त ही रहेगा ।"[1]

इस विषय में विश्रुत विद्वान् डा॰ शेर सिंह का मत है "जीवात्मा परमात्मा का अंश है । जीवात्मा अपनी वर्तमान अवस्था में परमात्मा नहीं है । चाहे गुरबाणी के बहुत से संदर्भों का भाव है कि जीवात्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं है या ब्रह्म एवं ब्रह्मज्ञानी में कोई भेद नहीं है जैसे कि "आतमामहि राम रामु महि आतम" ····परन्तु इस प्रकार प्रयुक्त अभेदता के अलंकारों एवं दृष्टान्तों के बावजूद भेद स्पष्ट है । जल एवं जल-तरंग में भेद है भी तथा नहीं भी । सागर एवं लहर में जो भेद है वही भेद परमात्मा और जीवात्मा में समझना चाहिए । जैसे नदी तथा स्रोत एक भी है तथा भिन्न भी, उसी प्रकार जीवात्माएं एवं "अकाल पुरख" भी कहे जा सकते हैं । यह नहीं समझना चाहिए कि जैसे कारीगर ने कुर्सी बनाई वैसे कर्त्तार ने आत्मा बनाई । कारीगर एवं कुर्सी बिल्कुल दो वस्तुएं हैं । कुर्सी कारीगर नहीं बन सकती। परन्तु गुरु साहिब अपना मत व्यक्त करते हैं "सो प्रभु दूरि नहीं प्रभु तूं है" (आसा म॰१, आ॰ग्र॰ 354)। परब्रह्म एवं जीव उसी प्रकार संबन्धित हैं जैसे सूर्य तथा उसकी किरण, आग तथा स्फुलिंग, धूलि एवं धूलि का कण, सागर तथा बूंद ।····इन दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि जीवात्मा एवं परमात्मा वास्तव में एक हैं, मूल तथा अंश-वंश एक ही है, परन्तु यह नहीं कि जीवात्मा जैसे अब है, उसी रूप में वह परमात्मा है । भले ही सागर या नदी, बूंद या लहर सभी पानी हैं किन्तु दोनों में अन्तर भी बहुत है ।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यही ज्ञात होता है कि आत्मा तथा परमात्मा में अभेदता भी है तथा भेद भी, परन्तु वेदान्त दर्शन की तरह पूर्ण

1॰ गुरमति निर्णय, डा॰ भाई जोध सिंह, पृ॰ 41-42
बूंद पूरा हम उरे होछे तू गउरा हम हउरे । सोरठ म॰१, आ॰ग्र॰597
सालाही सालाहि एती सुरति न पाईआ ।
नदीआं अते वाह पवहि समुंदि न जाणीअह ।। -जपु जी गु॰ना॰र॰12

2॰ गुरमति दर्शन, डा॰ शेर सिंह ज्ञानी, पृ॰ 30-31

अद्वैतवाद नहीं है । गुरु नानक वाणी में जीवात्मा एवं परमात्मा के संबन्ध को अंश-अंशी के भाव से व्यक्त किया गया है जो आचार्य निम्बारक के द्वैत-अद्वैतवाद से साम्य रखता है ।

5•6 मोक्ष का स्वरूप

बहुत प्राचीन काल से ही भारतीय चिंतन धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को बहुत महत्व प्रदान करता आया है । इन में भी मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानते हुए उसे मानव जीवन का चरम उद्देश्य माना गया है । इस लिए भारतीय चिंतन में नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक, सभी प्रकार के प्रयत्नों का परम ध्येय मोक्ष को ही माना गया है । इसलिए वैदिक काल से लेकर अद्य-पर्यन्त उपनिषद्, पुराण, गीता, षड्दर्शन, बुद्ध ग्रन्थ, जैन ग्रन्थ, तन्त्र, आगम तथा मध्यकाल में सन्तों की रचनाओं तक मोक्ष को ही परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है । यद्यपि मोक्ष के स्वरूप के विषय में इन ग्रन्थों तथा दार्शनिकों में पर्याप्त मत-भेद है तथापि लगभग सभी ने त्रिविध दु:खों से छूटने को ही मोक्ष माना है ।

मोक्ष शब्द मोक्ष धातु से घञ् प्रत्यय करके बना है जिसका अर्थ है छूटना या मुक्त होना । अब प्रश्न उठता है कि किस से छूटना या मुक्त होना । उत्तर है बन्धन से । बन्धन क्या है । तीन प्रकार के दु:ख, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । अत: इन तीन प्रकार के दु:खों से छूटना ही मोक्ष है । मोक्ष की यह धारणा दु:खवाद की ही परिणति है ।

वेदों के अनुसन्धान से ज्ञात होता है कि वेदों में मोक्ष का वह स्वरूप नहीं माना गया जो भारतीय षड्-दर्शनों में पाया जाता है और न ही वैदिक संहिताओं में मोक्ष शब्द का उल्लेख मिलता है । प्रारम्भ में मृत्यु को बहुत कष्टप्रद एवं भयानक समझा जाता था, इसलिए मृत्यु-भय से छूटने को ही मोक्ष समझा गया । ऋग्वेद में मृत्यु को दु:ख-रूप मानते हुए अमृत के रूप में मोक्ष की परिकल्पना की गई है । ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में मृत्यु रूपी दु:खनिवृत्तिपूर्वक ब्रह्मानन्द या अमृत की प्राप्ति रूप मोक्ष का प्रतिपादन करते हुए देवताओं से प्रार्थना की

गई है कि हमें उर्वारुक फल के बन्धन के छूटने के समान मृत्यु-बन्धन से मुक्त करें न कि अमृत से ।[1] मोक्ष की प्राप्ति देवताओं से हो सकती है । इसलिए दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिए देवताओं से विशिष्ट शक्ति के लिए प्रार्थना की गई है ।[2] अथर्ववेद में अन्यत्र भी वरुण देव से 100 वर्ष तक जीवन के लिए प्रार्थना की गई है ।[3]

वेदों में सत्य को बहुत महत्व प्रदान किया गया है ।[4] इस के विपरीत असत्य को पाप माना गया है । पाप चाहे असत्य वादन का हो, यज्ञ में त्रुटि का हो या देवताओं के प्रति किसी अपराध का हो, वह बन्धन अथवा दु:ख का कारण माना जाता है । वेदों में पाप से छूटने को मोक्ष माना गया है । इसके लिए देवताओं से प्रार्थनाएं की गई हैं ।[5] आदित्यों से प्रार्थना की गई है कि उन का जो सुख पापी स्तोता को पाप से मुक्त करता है, वह हमें भी प्रदान करे ।[6] ऋग्वेद में ऐसा भी उल्लेख है कि आराधना किए जाने पर मरुद्गण अपने आराधकों को पाप से मुक्त कराते हैं ।[7] ऋग्वेद के दशम मण्डल में इन्द्र और अग्नि को पाप से मुक्त कराने वाले बताया गया है[8] तथा छठे मण्डल में सोम एवं रुद्र को ।[9]

मोक्ष प्रदान करना देवताओं का स्वभाव ही है । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में उल्लेख है कि अश्विनी कुमारों ने क्लेशदायिनी दस्यु-माया का

---

1. उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।। -ऋ॰ 7·59·12
2. शतं जीव शरदो वर्धमान: शतं हेमन्ता-छतमु वसन्तान् ।
   शतं त इन्द्रो अग्नि: सविता बृहस्पति: शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।।
   - अथर्व॰ 20·96·9
3. अधा जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाण: ।।-अथर्व॰18·4·70
4. द्रष्टव्य अध्याय 3·2, धर्म के विविध तत्त्व के अन्तर्गत सत्य ।
5. ऋ॰ 7·86·5; 10·164·4
6. तत् सु न: शर्म यच्छताऽऽदित्या यन्मुमोचति ।
   एनस्वन्तं विदेनस: सुदानव: ।। -ऋ॰ 8·18·12
7. ऋ॰ 2·34·15
8. ऋ॰ 10·161·1
9. ऋ॰ 6·74·3

निवारण कर अत्रि ऋषि को पाप-तुषानल से सन्तानादि के साथ मुक्त किया था ।[1] इन्होंने अत्रि ऋषि को पाप तथा अन्धकार से भी मुक्त किया था ।[2] इसलिए साधक अश्विनी कुमारों से प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार उन्होंने अत्रि ऋषि को पाप से मुक्त किया था वैसे हमें भी पाप से मुक्त करें ।[3]

इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हम बन्धन से बद्ध हैं, हमें मुक्त करो ।[4] इस प्रकार वरुण देव से भी प्रार्थना की गई है कि वह हमारे उत्तम, मध्यम एवं अधम पाशों को खोल दे ।[5] ये तीन पाश (उत्तम, मध्यम और अधम) सत्त्व, रजस् एवं तमो गुण के हैं । जब आत्मा इन तीनों पाशों को बींधकर प्रकृति के सम्पर्क से पृथक् हो जाता है तो मुक्त कहलाता है । उस समय उसके सभी पाप छूट जाते हैं तथा यह "अनागसः" हो जाता है, परन्तु यह पाश देवताओं के अनुग्रह से ही मनुष्य को छोड़ता है ।[6] शुनः शेप ने भी आबद्ध हो कर वरुण देव का आह्वाहन किया था, इसलिए ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि वरुण देव बन्धन को तोड़ कर हमें भी मुक्ति प्रदान करे ।[7]

मोक्ष के विषय में यजुर्वेद में कोई विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता । फिर भी यजुर्वेद में मुक्त जीवों के लिए स्वर्ग की तरह एक सर्वोच्च लोक (तृतीय धाम) की कल्पना कर ली गई है जहाँ पर मुख्यतः देवता लोग ही निवास

---

1. ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन ।
   मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ।। -ऋ॰ 1॰117॰3
2. निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रिम्॰॰॰॰। -ऋ॰ 7॰71॰5
3. उत त्या मे हवमा जग्म्यातं नासत्या धीभिर्युवमङ्ग विप्रा ।
   अत्रिं न महस्तमसो मुमुक्तं स तूर्वतं नरा दुरितादभीके ।। -ऋ॰ 6॰50॰10
4. मुमुग्ध्यस्मान् निधयेव बद्धान् । -ऋ॰ 10॰73॰11
5. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
   अथा वयमादित्य व्रते त्वानागसो अदितये स्याम ।। -ऋ॰ 1॰24॰15
6. तत् सु नो नव्यं सन्यस आदित्या यन्मुमोचति । बन्धाद्धदमिवादिते ।
   -ऋ॰ 8॰67॰18
7. तदिन्नक्तं तद् दिवा मह्यमाहुस् तदयं केतो हृद आ वि चष्टे ।
   शुनः शेपो यमह्वद् गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु

करते हैं जो मोक्ष सुख प्राप्त करते हुए स्वछन्दतया विचरण करते हैं ।[1] यह लोक इस अन्धकारमय लोक से अन्यत्र है, इसे उत्तम स्वर्ग भी कहा जाता है ।[2] सम्भवत: यह स्वर्ग या देव-लोक ही है । क्योंकि देवता अमर होते हैं इसलिए उस के लिए "अमृतमानशाना:" शब्द का प्रयोग किया गया है ।

अथर्ववेद का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अथर्ववेद में भी पापों से छूटने को मोक्ष माना गया है । यद्यपि अथर्ववेद ऋग्वेद के बाद की रचना है, तथापि मोक्ष की धारणा के विषय में अथर्ववेद में कोई विशेष विकास हुआ दिखाई नहीं पड़ता । ऋग्वेद की तरह अथर्ववेद में भी वरुण से प्रार्थना की गई है कि पुरुष झूठ बोलता है, जिससे वह पाप का अधिकारी बन जाता है, इसलिए आप उसे पाप से मुक्त कराएं ।[3] अथर्ववेद के प्रथम मण्डल में भी असत्य-वादन को पाप माना गया है तथा सच्चे नियमों वाले वरुण से उस पाप से मुक्ति के लिए प्रार्थना की गई है ।[4] अथर्ववेद की यह धारा है कि अग्नि देव पाप से मुक्त है तथा वह अपने आराधकों को भी पाप से मुक्त करवाता है ।[5] असत्य-वादन के अतिरिक्त भी मनुष्य से जाने-अनजाने में कई पाप हो जाते हैं, इन पापों से मुक्ति के लिए देवताओं की स्तुति की गई है ।[6] इसी प्रकार पापों

---

1. यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।। -यजु॰ 35॰10
2. उद्वयन्तमसस्परि स्व: पश्यन्त उत्तरम् ।। -यजु॰ 35॰14
3. बह्वीदं राजन् वरुणानृतमाह पुरुष: ।
   तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च न: पर्यंहस: ।। - अथर्व॰ 19॰44॰8
4. यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।
   राजस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ।। - अथर्व॰ 1॰10॰3
5. मुञ्चामोनिरेणसोमोगस्मां अशस्त्या: ।। - अथर्व॰ 12॰2॰12
6. यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
   यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवा: सजोषस: ।।
   - अथर्व॰ 6॰115॰1

से मुक्ति के लिए सोम, रुद्र,[1] निर्ऋति,[2] विश्वकर्मा[3], दिक्पाल,[4] जल, गौओं, वरुण[5], अग्नि तथा सविता[6] से प्रार्थनाएं की गई हैं। अथर्ववेद के चतुर्थ मण्डल में सात सूक्त ऐसे आए हैं जिन में से प्रत्येक सूक्त में सात-सात मन्त्र हैं और प्रत्येक मन्त्र के अन्त में एक ही तरह के वाक्य के द्वारा पाप से छूटने के लिए विभिन्न देवताओं से प्रार्थनाएं की गई हैं यथा "स नो मुंचत्वंहस:"[7] "तौ नो मुञ्चतमंहस:"[8] "ते वो मुञ्चन्त्वंहस:"[9]।

ऋग्वेद की तरह अथर्ववेद में भी तीन प्रकार के बन्धनों का उल्लेख हुआ है तथा तीनों से मुक्ति के लिए अग्नि देव से प्रार्थना की गई है।[10] वरुण देव के भी उत्तम, अधम तथा मध्यम तीनों फांसों की कल्पना की गई है जिन से वरुण देव ही मुक्त कर सकते हैं।[11] इसके अतिरिक्त अटल नियम वाले वरुण शाप से भी मुक्ति दिलाते हैं।[12] यज्ञ में यदि कोई भूल हो जाए, कोई त्रुटि रह जाए या देवताओं को क्रोध दिलाने वाली कोई बात हो जाए तो आदित्य देव ऋत के साथ मुक्ति दिलाते हैं।[13] अथर्ववेद के पंचम मण्डल में मोक्ष के लिए "अमृतम्" शब्द प्रयुक्त हुआ है। मन्त्र में द्यावा-पृथिव से प्रार्थना की गई है कि वे हमें संकट तथा निन्दा से बचाएं, हमारे यज्ञ की रक्षा करें तथा हम में अमृतत्व स्थापित करें।[14]

---

1. अथर्व. 7.43.1,2
2. अथर्व. 6.84.1,2
3. अथर्व. 2.35.3
4. अथर्व. 1.31.2
5. अथर्व. 19.44.9
6. अथर्व. 14.2.59-62
7. अथर्व. 4.23.1-7; 4.24.1-7
8. अथर्व. 4.25.1-7; 4.28.1-7; 4.29.1-7
9. अथर्व. 4.26.1-7; 4.27.1-7
10. उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिंशतं या वितस्थुरेषाम्। - अथर्व. 6.112.2
11. अथर्व. 7.88.4
12. ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु। - अथर्व. 7.88.1
13. अथर्व. 6.114.1-2
14. मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम्॥ अथर्व. 5.6.8

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि संहिताओं के काल तक, दु:ख, पाप, निन्दा, देवताओं का क्रोध, वरुण देव के पाश तथा मृत्यु से मुक्ति को ही मोक्ष समझा जाता था । इसलिए इन से छूटने के लिए देवताओं से प्रार्थनाएं की गई हैं । इन बन्धनों से मुक्ति देवताओं के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है ।

ब्राह्मण काल में लोगों की आसक्ति सांसारिक भोगों में बढ़ गई । किन्तु सांसारिक सुख सर्वोत्तम सुख नहीं है । सर्वोत्तम सुख स्वर्ग में है, स्वर्ग में जाकर मनुष्य दु:खों से मुक्त हो जाता है तथा नरक में दु:खों को भोगना पड़ता है । इस लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में नरक से मुक्त होकर स्वर्ग में जाने की कामना की गई है । स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यज्ञों को सर्वोत्तम साधन माना जाता था । इसलिए सभी यज्ञ स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किए गए । यज्ञ में यद्यपि ऐहिक सुख की भी कामना होती है तथापि यज्ञ का मुख्य उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति ही है ।

संहिताओं के समय तक मनुष्य ऐहिक भोगों को ही सुख मानता रहा । मृत्यु तथा पाप से छूट जाना ही उसके लिए मोक्ष था । ब्राह्मण काल में स्वर्ग-प्राप्ति को ही मोक्ष माना गया । किन्तु उपनिषदों के काल में आकर ऐहिक भोगों को सुख नहीं माना गया और न ही स्वर्ग-प्राप्ति को चरमलक्ष्य स्वीकार किया गया । उपनिषद् काल में स्वर्ग एक सामान्य लोक बनकर रह गया तथा इसके सुखों को क्षणिक माना गया । उपनिषदों में आवागमन को बन्धन माना गया तथा इस बन्धन को तोड़ कर सदा के लिए जन्म-मृत्यु के चक्र से छूटना ही मोक्ष माना गया ।

उपनिषद् ग्रन्थों में आत्मन् को अन्तिम तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उसी से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है ।[1] आत्मन् के सृष्टि का अन्तिम तत्त्व होने के कारण, उसको जानने की इच्छा अनिवार्य है । इसलिए उपनिषद् कहती है आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है ।[2]

---

1. ऐ.उ. 1.1.1-3

2. आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य: ।

-बृहद् 2.4.5

उसको जानने की इच्छा करनी चाहिए ।[1] वस्तुत: आत्मा ही ब्रह्म है जो नित्य सत् है । किन्तु अविद्या के कारण हम से तिरोहित है । इस अविद्या के पर्दे को चीरकर जो मनुष्य आत्मस्वरूप को पहचान लेता है वह ब्रह्म रूप हो जाता है, वह शोक से पार हो जाता है, पाप-समुदाय से तर जाता है तथा हृदय की गांठों से सर्वथा छूट कर अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्यु के बन्धन से रहित हो जाता है ।[2] इस अवस्था में मनुष्य के हृदय में स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं तथा वह मरणधर्मा अमर हो जाता है ।[3] ज्ञान का प्रकाश होने के कारण उसके हृदय की सभी ग्रन्थियाँ भली-भान्ति खुल जाती हैं ।[4]

उपनिषदों में परब्रह्म परमात्मा को जान लेने तथा प्राप्त कर लेने को भी मोक्ष माना गया है । उस अजन्मा, निश्चत एवं विशुद्ध परमात्मा को जानकर जीव सभी प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है ।[5] इस प्रकार परमात्मा को जानकर सभी प्रकार के बन्धनों से छूट जाना ही मोक्ष है ।[6] कठोपनिषद् भी यही बताती है कि उस परमात्मा को जानकर जीव मुक्त हो जाता है तथा अमृत-स्वरूप ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है ।[7] प्रश्नोपनिषद् में भी परब्रह्म

---

1. छान्दो. 8.7.1
2. स यो ह वै तत्परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्यांब्रह्मवित्कुले भवति ।
   तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।।
   - मुण्ड. 3.2.9
3. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता: ।
   अथ मृत्यो मृतोऽभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।। -कठो. 2.3.14
4. यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय: ।
   अथ मृत्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ।। - कठो. 2.3.15
5. अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै: । -श्वेता.2.15
6. तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै: ।
   - श्वेता. 6.13
7. यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति । -कठो. 2.3.8

को प्राप्त कर लेने को मोक्ष कहा गया है । वहाँ इसे अविनाशी एवं निर्भय पद बताया गया है । यही परमगति है जिसे प्राप्त कर मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है । इसीलिए मोक्ष को पुनर्जन्मनिरोधक कहा गया है ।[1] यह अवस्था मनुष्य अपने जीवनकाल में भी आत्मस्वरूप को जानकर या ब्रह्म का साक्षात्कार कर प्राप्त कर सकता है । इस अवस्था में जीवनकाल में ही मनुष्य के हृदय की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, उसके समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं तथा उस के सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं ।[2] इस अवस्था में वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है तथा उसे "अहं ब्रह्मास्मि"[3] की अनुभूति हो जाती है । आनन्दस्वरूप परमात्मा को पाकर वह जीव भी आनन्दी हो जाता है ।[4] इस आनन्द की अवस्था तथा मात्रा का लौकिक दृष्टान्तों में वर्णन करना कठिन है तथापि बृहदारण्यक उपनिषद् में एक लौकिक उदाहरण के द्वारा उसका तनिक आभास सा दिया गया है । उपनिषद् बताती है कि जिस प्रकार प्रिया से आलिंगन किए जाने पर मनुष्य न तो किसी बाहरी वस्तु को जानता है न भीतरी वस्तु को, इसी प्रकार प्राज्ञ आत्मा (परमात्मा) का आलिंगन किए जाने पर यह जीव न बाह्य को जानता है न अन्तर को । उस समय उसकी समस्त कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं, किसी भी इच्छा की पूर्ति अवशिष्ट नहीं रह जाती ।[5] इसके आगे इस का वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि केवल आत्मवेत्ता ही उसे जानता है, समझता है, किन्तु "गूंगे के गुड़" की तरह वह भी इसका वर्णन नहीं कर सकता । चूंकि उस अवस्था में पहुँचते ही उसकी वाणी का व्यापार बन्द हो जाता है अत: यह अवस्था स्वानुभूत्येकगम्य है, अपनी ही अनुभूति उसे बता

---

1. एतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष विरोध: ।
   - प्रश्नो॰ 1॰10
2. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया: ।
   क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।। - मुण्ड॰ 2॰2॰8
3. बृहद्॰ 1॰4॰10
4. रसो वै स:, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । - तै॰उ॰2॰7
5. तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किं चन वेद नाऽऽन्तरमेवमेवायं पुरुष: प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किं चन वेद नाऽऽन्तरम् ।
   तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तम् । - बृहद्॰ 4॰3॰2 ।

सकती है । इस अवस्था में ज्ञानी अपने नाम रूप को त्याग कर, अपने अहं को त्याग कर परब्रह्म में लीन हो जाता है और उसी का रूप हो जाता है । जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ समुद्र में गिर कर, अपना नाम-रूप त्याग कर समुद्र का ही रूप हो जाती हैं ।[1]

जीवन्मुक्त

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि आत्मस्वरूप को जानना, ब्रह्म का साक्षात्कार करना तथा जीव और ब्रह्म के ऐक्य को अनुभव करना ही मोक्ष है । अपने जीवन-काल में ही मनुष्य ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेता है । जब वह ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है तो वह निर्भय हो जाता है । उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता और न किसी तरह का शोक रहता है । उसे श्रेष्ठ कर्म करने से प्रसन्नता नहीं होती और निकृष्ट कर्म करने से दुःख नहीं होता । क्योंकि उस समय उस की सभी कामनाएँ समाप्त हो चुकी होती हैं । उसे शुभ कर्मों के फलस्वरूप उत्तम लोकों की प्राप्ति का लोभ नहीं होता और न ही उसे पाप-जनित नरक आदि का भय सताता है । लोभ और भय-जनित संताप से वह ऊँचा उठ जाता है । उक्त ज्ञानी पुरुष आसक्तिपूर्वक किए हुए पुण्य और पाप, दोनों प्रकार के कर्मों को जन्म-मरण रूप संताप का हेतु समझ कर उनके प्रति राग-द्वेष से सर्वथा रहित हो जाता है और परमात्मा के चिन्तन में संलग्न रहकर आत्मा की रक्षा करता है ।[2] यह अवस्था जीवनमुक्त की है । बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लेख है कि जो कामना-रहित है, निष्काम है, प्राप्तकाम है और आप्त-काम है उस जीवन्मुक्त के प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वह ब्रह्मविद् होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है ।[3] ऐसी अवस्था में उसके लिए अपने-

---

1. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपो विहाय ।
   तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।
   - मुण्ड॰ 3·2·8
2. तै॰उ॰ 2·9·1-2
3. योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति । - बृहद्॰, 4·4·6

पराये और अच्छे-बुरे का कोई भेद नहीं रहता । वह पुण्य तथा पाप कर्म से असम्बद्ध हो जाता है । निश्चय ही उस समय वह जीवन्मुक्त हृदय के सभी शोकों को तरा होता है ।[1] ऐसी अवस्था में कमलपत्र पर जलबिन्दु की तरह उस विद्वान् पुरुष पर कर्मों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वह पुण्य-पाप के बन्धन को झाड़कर निर्मल हुआ भगवान् की परम समता को प्राप्त करता है ।[2] कठोपनिषद् में भी बताया गया है कि इस संसार में यदि मनुष्य परमात्मा को जानने में समर्थ हो जाता है तो वह शरीर के नाश होने से पूर्व ही मुक्त हो जाता है ।[3]

जीवन्मुक्त का वर्णन करते हुए अध्यात्मोपनिषद् में बताया गया है कि देह तथा इन्द्रियों पर जिसको अहं-भाव न हो और इन के सिवाय अन्य पदार्थों पर "यह मेरा है" ऐसा भाव न हो,[4] सज्जनों के द्वारा सत्कार किया जाता हुआ तथा दुर्जनों के द्वारा पीड़ित किया जाता हुआ जो समभाव रहता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।[5] अच्युपनिषद् बताती है कि ऐसी अवस्था में उसकी सत्, असत्, अहंकार, अनहंकार और मननात्मक वृत्ति नहीं रहती तथा वह विशुद्ध अद्वैतावस्था में रहकर भय-रहित हो जाता है । उसकी हृदय-ग्रन्थियों के खुलने पर सभी सन्देह निवृत्त हो जाते हैं । उस समय उसकी भावशून्य स्थिति होती है, वह निर्वाणपद प्राप्त हुए बिना ही निर्वाण जैसी अवस्था में पहुँच कर जीवन्मुक्त हो जाता है। उस समय उस की अवस्था निश्चत दीपक के समान होती है ।[6]

उपनिषदों में यह भी बताया गया है कि जो जीव एक बार मुक्त हो

---

1. बृहद्· 4·3·22
2. बृहद्·4·3·22 तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति। -मुण्ड·3·1·3
3. कठो· 2·3·4
4. अध्यात्मोपनिषद्-45
5. साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः ।
   समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते । अध्यात्मोपनिषद् 47
6. अच्युपनिषद् 37-40
7. प्रश्नो०·1·15

जाता है उसे पुन: जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता । उस का जन्म-मरण के बन्धनों से सदा के लिए छुटकारा हो जाता है । इस लिए प्रश्नोपनिषद् में मोक्ष को पुनर्जन्म का निरोधक कहा गया है ।[1] इस विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लेख है कि जो ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेते हैं वे अनन्त काल तक वहाँ निवास करते हैं । उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती ।[2] इस बात का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में भी हुआ है । "इस अवस्था को प्राप्त करने वाले लोग इस मानव मण्डल में पुन: नहीं लौटते ।"[3] अत: जो आत्माएँ एक बार परमात्मा में लीन हो जाती हैं वे सदा के लिए ब्रह्मानन्द का उपभोग करती हैं ।

गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित मोक्ष का स्वरूप -

गुरु नानक वाणी के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि गुरु नानक वाणी में कहीं भी एक स्थान पर मोक्ष के विषय में शास्त्रीय ढंग से विवेचन नहीं किया गया । गुरु नानक का परम ध्येय कुपथगामी लोगों को सन्मार्ग पर लाना था तथा उन्हें सांसारिक दु:खों से मुक्त कराना था । इसके लिए उन्होंने लोगों को मोक्ष का प्रलोभन देकर उन्हें आध्यात्मिक कर्म करने का उपदेश दिया । गुरु नानक वाणी में मोक्ष के सम्बन्ध में जो भी विचार पाए जाते हैं वे भारतीय चिंतन परम्परा के अनुरूप ही हैं । गुरु नानक वाणी में मोक्ष की सर्वोत्तम अवस्था प्रभु-प्यार के संयोगसुख का अनुभव ही माना गया है । गुरु नानक के मतानुसार जीव का परम लक्ष्य प्रभु-द्वार के दर्शन का शाश्वत आनन्द प्राप्त करना है, इस से परे और किसी प्रकार की मोक्ष एवं बैकुण्ठ की आवश्यकता उसे नहीं है ।[4]

गुरु नानक वाणी में उल्लेख है कि अहंकार के कारण जीव सांसारिक

---

1. प्रश्नो· 1·10
2. ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परा: परावतो वसन्ति । तेषां न पुनरावृत्ति: ।
   -बृहद्· 6·2·15
3. यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते । न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।।
   -छान्दो· 10·15·1
4. गुर की साखी अंमृत वाणी पीवत ही परवाणु भइआ ।
   दर दरसन का प्रीतमु होवै मुकति बैकुंठे करै किआ ।। - आसा म·1,
   पदे, गु·ना·र· 226

बन्धनों में पड़ जाता है । इन बन्धनों को तोड़कर इन से छुटकारा पाना ही मोक्ष है ।[1] सद्गुरु अपनी शिक्षा द्वारा प्रभु से मिलन करवा कर, ये बन्धन खोल कर मोक्ष प्राप्त करवा देता है ।[2] या फिर ज्ञान का विचार प्राप्त कर अपने अन्दर से अहंकार को दूर करके भी इन बन्धनों को तोड़ा जा सकता है ।[3] गुरु नानक वाणी में इन बन्धनों को "कूड़ की पाल"[4] (झूठ की दीवार) तथा प्रपंचों का भ्रम कहा गया है ।[5] इन बन्धनों को काटकर ही जीव मोक्ष को प्राप्त कर सकता है ।[6]

गुरु नानक वाणी में बन्धन का दूसरा कारण अज्ञानता माना गया है । अज्ञानता के कारण मनुष्य सांसारिक पदार्थों में आसक्त हो जाता है तथा इन के बन्धनों में पड़कर दु:खी होता है । गुरु नानक वाणी में माता-पिता, पुत्र-पुत्री तथा स्त्री आदि सभी सम्बन्धियों को सांसारिक बन्धन का कारण माना है । अहं भाव से किए गए सभी कर्म और धर्म बन्धन है । अहंकारवश मनुष्य माया और मोह के बन्धनों में फँस जाता है तथा फिर तृप्त नहीं हो पाता । अहंकारवश किया गया समस्त क्रिया-कलाप, कृषि, व्यापार, धनसंचय, वेदपाठ तथा वाद-विवाद बन्धन है । वस्तुत: जीव मोह के विकार के कारण बन्धन में बन्ध कर नष्ट होता है । केवल राम-नाम की शरण में जाकर तथा सद्गुरु के द्वारा रक्षित किए जाने पर बन्धन में पड़ने से छूट सकता है ।[7]

---

1. जगु बंदी मुकतो हउ मारी । - आसा म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 230
2. बंधन तोड़ै होवै मुकतु । सलोक वारां ते वधीक म॰१, गु॰ना॰र॰780
2. मुकति भई बंधन गुरि खोल्हे सबदि सुरति पति पाई ।।
   -मलार म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 100
3. अमरा पदु पाइआ आप गवाइआ विरला गिआन वीचारी ।
   -धनासरी म॰१, छंत, गु॰ना॰र॰380
4. किव सचिआरा होईऐ किव कूड़ै तुटै पालि ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰2
5. विनु गुरु सबदै मुकति न होई परपंच कर भरमाई है ।
   - मारु म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰ 578
6. बंधन काटि मुकति घरि आणै । -रामकली म॰१, ओअंकार, गु॰ना॰र॰482
7. बंधन मात पिता संसारि ।....राखे बंधु न पाई ।।
   -आसा म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 242-44

भारतीय चिंतन परम्परा में आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों में अपने-अपने ढंग से मोक्ष की कल्पना की गई है तथा सभी ने मोक्ष के लिए अलग-अलग तरह के शब्दों का प्रयोग किया है । गुरु नानक वाणी के अनुसन्धान से ज्ञात होता है कि गुरु नानक ने मोक्ष तथा उसके समानार्थी बहुत से परम्परागत शब्दों का उल्लेख अपनी वाणी में किया है । यथा -

मुकति = राम राम बिन मुकति न होई·····। मारू म·1, सो·गु·ना·र· 578

मोख{मोक्ष} = नाउ सुणि मनु रहसीऐ ता पाए मोख दुआर ।
-आसा म·1, वार, गु·ना·र· 290

निहकेवलु = दरसनु देखि भई निहकेवलु····। सूही म·1, छंत, गु·ना·र·412

मोखंतरु = तउ नानक मोखंतरु पाए । आसा म·1, वार, गु·ना·र· 294

पारंगति = नानक सो पारंगति होइ । रामकली म·1, पदे, गु·ना·र·452

महासुख = मुकति महासुख गुर सबदु बीचारि । रामकली म·1, सिध गोसटि, गु·ना·र· 514

परमपदु = हउमै जाइ परमपदु पाइऐ । गउड़ी म·1, अस· गु·ना·र· 176

चउथापद = तीनि समावै चउथै वासा । विलावल थिती म·1, गु·ना·र·434

अमरापद = अमरा पदु पाइआ आपु गवाइआ ····। धनासरी म·1, गु·ना·र· 380

निरवाण पद = सबद रपै घरु पाइऐ निरवाणी पदु नीति । सिरीराग म·1, अस·गु·ना·र· 70

निरभउ पद = तउ निरभउ पदु पाइ पाईऐ । सूही म·1, पदे, गु·ना·र· 398

बंदिखलासी = बंदिखलासी भाणै होइ । जपु जी, गु·ना·र· 14

बंधन-मुकति = बंधन काटि मुकति घर आणै । रामकली म·1, ओअंकार, गु·ना·र· 482·

तुरीयावसथा = तुरीयावसथा गुरमुखि पाईऐ संत सभा की ओट गही । -आसा म·1, पदे, गु·ना·र· 214

परमानंदु = गुरमति पाए परमानंदु । गउड़ी म·1, पदे, गु·ना·र· 148

गुरु नानक वाणी के अनुसार मुक्त जीव दो प्रकार के होते हैं: जीवन्मुक्त तथा विदेह मुक्त । जब व्यक्ति अपने जीवन-काल में अज्ञान, मृत्यु, वैर, भय तथा दु:खों से मुक्त हो जाता है तो जीवन्मुक्त कहलाता है । परन्तु कुछ दार्शनिक विचारधाराएँ यथा न्याय, वैशेषिक तथा विशिष्टाद्वैत आदि जीवन्मुक्त की सम्भावना को स्वीकार नहीं करतीं । जब जीव के सुख-दु:ख आदि भावों का विनाश हो जाता है तथा वह देह त्यागने के बाद आवागमन के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है तो उसे विदेह मुक्त कहते हैं । चार्वाक को छोड़ कर सभी भारतीय दर्शन इसे स्वीकार करते हैं ।

गुरु नानक वाणी में विदेह मुक्त शब्द का प्रयोग कहीं पर भी नहीं हुआ । इसके लिए "मुकति" शब्द का ही प्रयोग पाया जाता है । जीवन्मुक्त शब्द का प्रयोग भी गुरु नानक वाणी में अधिक बार नहीं हुआ । इस प्रसंग में बताया गया है कि जीवन्मुक्त उसे कहा जाता है जो अपने अंदर से "हउमै" (अहंकार) को त्याग देता है ।[1] ऐसा व्यक्ति अपनापन गंवा कर संसार का प्रत्येक कार्य "हुकम" की परिधि में रह कर करता है । गुरु के शब्द पर विचार कर वह निराकार प्रभु का ही हो जाता है । गुरु की शिक्षा के प्रकाश से उसकी दुर्मति दूर हो जाती है तथा वह प्रभु में अनुरक्त हो दिन-रात सुचेत रहता है । ऐसे व्यक्ति को अपने अंदर से ही जीवन्मुक्त की अवस्था प्राप्त हो जाती है ।[2] जीवन्मुक्त की सुखमयी अवस्था जीव को उस समय प्राप्त होती है जिस समय वह गुरु द्वारा नाम रूपी शब्द सुनकर जीवन-यापन की सत्यविधि को अपना लेता है ।[3] ऐसा व्यक्ति जीवित रहते हुए ही मृत्यु को जीत लेता है, जिससे उस का मन शान्त हो जाता है । इस प्रकार अपने मन की भावना (अपनापन) के नष्ट हो जाने से वह मन से मन को (मलिन मन से ज्योतिर्मय मन को) जान कर सन्तुष्ट

---

1. जीवन मुकतु सो आखीऐ जिसु विचहु हउमै जाइ । मारु म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰

2. सबदि बीचारि भए निरंकारी । गुरमति जागे दुरमति परहारी ।।[544]
   अनदिनु जागि रहे लिव लाई । जीवन मुकति गति अंतरि पाई ।
   -रामकली म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 460

3. जीवन मुकतु जा सबद सुणाए ।
   सची रहत सचा सुख पाए ।। परभाती म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 762

हो जाता है ।[1]

जीवन्मुक्त का वर्णन करते हुए आसा राग में बताया गया है कि जब मनुष्य गुरु के शब्द द्वारा अहंभाव को मार लेता है तब वह परमात्मा में अनुरक्त हो सकता है । तब वह कामादिक तत्त्वों को समाप्त कर भ्रम-रहित हो जाता है । ऐसा करने से उसका चंचल मन स्थिर हो जाता है तथा उसमें नाम बसा लेने से वह जीवन्मुक्त हो जाता है ।[2] गुरु नानक की मान्यता है कि जीवन्मुक्त की अवस्था अकथनीय होती है । उपनिषदों की तरह उनकी भी यही मान्यता है कि यह अवस्था स्वानुभूत्येकगम्य है । इस विषय में इतना कहना ही संभव है कि ऐसे जीव में परमात्मा जैसे गुण आ जाते हैं ।[3]

जीवन्मुक्त दुनियाँ की आशाओं में रहता हुआ भी उन से निर्लिप्त जीवन व्यतीत करता है । वह संसार में रहते हुए उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है जैसे कागज़ और नमक घी के साथ होने से पानी में निर्लिप्त रहते हैं और जिस प्रकार कमल पानी में रहते हुए भी पानी से निर्लेप रहता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त संसार में रहता हुआ तथा सभी कार्य-व्यवहार करता हुआ भी विकारों से निर्लिप्त रहता है ।[4]

इस प्रकार एक आदर्श पुरुष जिसे गुरु नानक "गुरमुख" भी कहते हैं, जब तक जीवन धारण किए हुए है तथा मन को जीत कर निर्भय, निर्वैर, निरासक्त और निष्काम भाव से जीवन की क्रियाओं में भाग लेता है, वह जीवन्मुक्त है तथा शरीर त्याग देने के पश्चात् वही विदेह मुक्त कहलाता है ।

---

1. जनमु जीति मरणि मनु मानिआ ।
   आप मुआ मनु मन ते जानिआ ।। गउड़ी म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 142
2. सबदि मरै तां एक लिव लाए । अवरु चरै तां भरमु चुकाए ।
   जीवन मुकति मनि नामु वसाए । गुरमुख होइ त सचि समाए ।।
   -आसा म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 230
3. अनहत सुंनि रते से कैसे ।
   जिस ते उपजे तिस ही जैसे ।। रामकली म॰१, सिध गोसटि, गु॰ना॰र॰620
4. कागदु लूणु रहै घृत संगे पाणी कमलु रहै ।
   ऐसे भगत मिलहि जन नानक तिन जमु किआ करै ।। रामकली म॰१, पदे,
   गु॰ना॰र॰ 448

इस से सुस्पष्ट हो जाता है कि गुरु नानक वाणी में पाई जाने वाली मोक्ष विषयक विचारधारा उपनिषदीय विचारधारा से बहुत साम्य रखती है । दोनों विचारधाराएं इस बात पर सहमत हैं कि मोक्ष कोई अलौकिक पदार्थ नहीं है जो शरीर के अन्त होने पर ही प्राप्त हो सकता है । मोक्ष तो ब्रह्म और जीव के ऐक्य को समझ लेना तथा "अहं ब्रह्मास्मि" की अनुभूति है । मोक्ष ज्ञान का फल है जो ज्ञान काल में सद्यः उत्पन्न होता है । इस को प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति सब प्रकार के दुःखों, शोकों, संशयों एवं बन्धनों से मुक्त हो जाता है । गुरु नानक वाणी के अनुसार भी साधक जब अपने हृदय से अहं के मल को धोकर निर्मल कर लेता है और अपने मन एवं इन्द्रियों को नियन्त्रित करके भय, वैर, द्वेष, काम, आसक्ति तथा दूसरे सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है तो वह अपने जीवनकाल में ही निर्वाण जैसी अवस्था को प्राप्त कर लेता है । ऐसी अवस्था में उसके अविद्याकृत प्रपंचों का नाश हो जाता है तथा उसके कर्म क्षीण हो जाते हैं । यह पूर्णानन्द की स्थिति है । ऐसी स्थिति वाला जीवन्मुक्त व्यक्ति गुरु नानक के "गुरमुख" से अत्यधिक साम्य रखता है जो संसार में रहता हुआ सेवा, परोपकार, नाम, दान तथा स्नान का सेवन करता हुआ अपने मुक्त स्वभाव के कारण दूसरे प्राणियों को भी इस मार्ग में प्रवृत्त करवाता है । ऐसा व्यक्ति मानवता के कल्याण के लिए तथा सन्तप्त प्राणियों को सुखी बनाने के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध होता है । गुरु नानक के मतानुसार ऐसे व्यक्ति में ब्रह्म जैसे गुण आ जाते हैं । देह त्याग के पश्चात् ऐसा व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र को तोड़कर, ब्रह्म के साथ एकरूप होकर ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है ।

5·7 मोक्ष-प्राप्ति के साधन

वैदिक संहिताओं में मानव जीवन का परम लक्ष्य पापों, दुःखों, तथा वरुण के पाशों से छुटकारा प्राप्त कर सांसारिक सुखों को भोगते हुए, यहाँ (इस लोक में) दीर्घ आयु को प्राप्त करना माना गया है । इन सभी की प्राप्ति के लिए देवताओं से प्रार्थनाएं की गई हैं, क्योंकि वैदिक ऋषि इस तथ्य से भली-भान्ति परिचित थे कि इनकी प्राप्ति देवताओं के अनुग्रह से हो सकती है ।

इसलिए वेदों में पदे-पदे देवताओं की स्तुति की गई है । देवताओं को प्रसन्न कर उनकी कृपा के पात्र बनने के लिए देवताओं को हवि प्रदान की जाती थी । उस समय लोग मृत्यु से बहुत डरते थे । इसलिए देवताओं से दीर्घ आयु के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं ।[1] लोग देवताओं की आराधना की विधि से भी परिचित थे । वे जिस देवता की स्तुति करते थे उसे प्रसन्न करने के लिए उसमें सभी गुणों का आरोपण कर देते थे ।[2] इसके अतिरिक्त वे अपने अवगुणों या पापों को देवताओं के समक्ष स्वीकार कर लेते थे तथा उस से मुक्ति पाने के लिए उन से प्रार्थना करते थे[3] जिससे प्रसन्न होकर देवगण उन को पापों से मुक्त करते थे तथा उन की सभी कामनाएँ पूर्ण करते थे ।

ब्राह्मणकालीन मानव का परमलक्ष्य स्वर्ग तथा देवताओं के साथ सुखोपभोग बन गया । इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यथाविधि यज्ञानुष्ठान को परमावश्यक माना गया । ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित लगभग सभी यज्ञों का फल स्वर्ग-प्राप्ति माना गया है । यद्यपि यज्ञानुष्ठान से ऐहिक सुखों की प्राप्ति भी होती है तथापि यज्ञों का मुख्य उद्देश्य स्वर्ग-प्राप्ति ही है । इसलिए यज्ञ को सभी कर्मों से श्रेष्ठ माना गया ।[4] यह भी विश्वास था कि यज्ञानुष्ठान करने वाला सभी पापों से छूट जाता है ।[5] इस प्रकार ब्राह्मणकाल में यज्ञ ही उपासना का साधन बन गया और उस में विश्वास न रखने वाले को अनार्य तथा दास आदि की संज्ञाएँ दी गईं तथा उसे नास्तिक एवं वेद-निन्दक कहा गया ।

कर्म से मोक्ष

इस से पूर्व अध्याय (4.3 कर्मविषयक) में हम देख आए हैं कि समस्त

---

1. द्रष्टव्य अध्याय 5.6 मोक्ष का स्वरूप
2. स्तोता यत् ते विचर्षणिरतिप्रशर्धयद् गिरः ।
   वया इवानु रोहते जुषन्त यत् । -ऋ. 8.13.6
3. बह्वीदं राजन् वरुणानृतमाह पूरुषः ।
   तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ।। -अथर्व. 19.44.8
4. शत.ब्रा. 1.7.4.5
5. शत. ब्रा. 2.3.1.6

शुभाशुभ कर्म भावी जीवन में फल-प्रदायी होते हैं । बुरे कर्म करने से निकृष्ट योनि प्राप्त होती है और शुभ कर्म करने से उत्तम । अब प्रश्न उठता है कि मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है, क्या इसके लिए सभी प्रकार के कर्मों का त्याग कर देना चाहिए ।

इस बात को आगे बढ़ाने से पूर्व कर्म के अर्थ को जान लेना भी अनावश्यक न होगा । कर्म का रुढ़ि अर्थ यज्ञ-यागादि है । सम्पूर्ण ब्राह्मण ग्रन्थों में यह कर्म संस्तुत है । तो फिर इन कर्मों को किस प्रकार त्यागा जा सकता है । किन्तु उपनिषदों में इस प्रकार के कर्म काण्ड का विरोध किया गया है । मुण्डकोपनिषद् में यज्ञ रूपी नौका को अदृढ़ बताया गया है तथा इसे इस संसार-सागर से पार उतारने में कदापि समर्थ नहीं माना गया । जो मूर्ख लोग इस यज्ञरूपी किश्ती में बैठकर पार जाने की इच्छा करते हैं वे बार-बार जरा-मरण के चक्र में पड़ते हैं ।[1] इसके विपरीत उपनिषदों में आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को जानने पर विशेष बल दिया गया है और बताया गया है कि उसे जानकर ही जीव परमपद को प्राप्त कर सकता है, इसकी प्राप्ति के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।[2] इस सब से तो यही सिद्ध होता है कि मनुष्य को किसी प्रकार के कर्म करने ही नहीं चाहिएं क्योंकि अच्छे अथवा बुरे दोनों प्रकार के कर्म बन्धन का कारण बनते हैं । परन्तु कोई भी मनुष्य बिना कर्म किए नहीं रह सकता । नैसर्गिक गुण उसे कर्म करने के लिए प्रवृत्त करते हैं । अतः बिना कर्म किए रहना मनुष्य के लिए कठिन है तथा ये कर्म बन्धन का कारण हैं । प्रश्न फिर वही उठता है कि इस बन्धन से मुक्त कैसे हुआ जाए । वस्तुतः कर्म का अर्थ कर्तव्य या धर्मानुकूल व्यापार है और अपने कर्तव्यों का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है । इस से एक बात सामने आती है कि मनुष्य को कर्म अवश्य करने पड़ते हैं । उपनिषदों में कर्म करने की प्रेरणा भी दी गई है । इशोपनिषद् में बताया गया है कि मनुष्य शास्त्र-विहित कर्मों को करता हुआ

---

1. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टदशोक्तवरं येषु कर्म ।
   एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।।मुण्ड॰।॰2॰7
2. तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय । -श्वेता॰6॰15

सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे ।[1]

कहना न होगा कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही सम्भव है, परन्तु कर्म ज्ञानप्राप्ति का साधन हैं । बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है कि उस (ब्रह्म) को ब्राह्मण वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप और उपवास से जानते हैं ।[2] इस से सिद्ध होता है कि शास्त्र-विहित शुभ कर्म उसके ज्ञान को प्राप्त करने के साधन हैं और ज्ञान उस परमपद को प्राप्त करने का साधन है । इस भेद को इशोपनिषद् में बहुत विस्तार से समझाया गया है ।

"जो लोग कर्म (अविद्या) की उपासना करते हैं, वे घोर अंधकार में पड़ते हैं और जो केवल ज्ञान में रत हैं वे उससे भी गहरे अन्धकार में जाते हैं ।[3] अगले मन्त्र में बताया गया है कि ज्ञान के यथार्थ अनुष्ठान से दूसरा ही फल प्राप्त होता है और कर्म के यथार्थ अनुष्ठान से अन्य ही । इस प्रकार उन दोनों के पृथक्-पृथक् फल होते हैं ऐसा हमने ज्ञानी लोगों से सुना है जो हमें इसकी व्याख्या करके बता गए हैं ।[4] इनके फलों का उल्लेख करते हुए अगले मन्त्र में बताया गया है कि जो ज्ञान और कर्म दोनों को साथ-साथ जानता है वह कर्म के द्वारा मृत्यु से पार होकर ज्ञान से अमृतत्त्व को प्राप्त करता है ।"[5]
उपर्युक्त मन्त्रों में अविद्या का अर्थ कर्म किया गया है, अधिकतर भाष्यकार इसका इसी अर्थ में प्रयोग करते हैं । इस अर्थ की सार्थकता को प्रकट करते हुए डा॰ दीवान चन्द लिखते हैं कि "अ" अतिरिक्त का बोधन भी होता है, अविद्या का अर्थ - "विद्या के अतिरिक्त" भी होता है । हमारे साहित्य में अविद्या को इस अर्थ में भी लिया जाता है और इस से कर्म अभिप्रेत होता है ।[6]

उपर्युक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि मनुष्य को कर्म करते रहना चाहिए । ये कर्म ज्ञान के बाह्यतर साधन हैं । यदि कर्मों को शास्त्रानुसार तथा ज्ञानपूर्वक किया जाए तो ये मनुष्य को उत्कर्ष की ओर ले जाते हैं जिससे वह

---

1. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । इशो॰2
2. तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा॰॰॰॰। बृहद॰4॰4॰2
3. अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।। इशो॰ 9
4. अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे। -ईशो॰।0
5. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।। ईशो॰।।
6. उपनिषद्-दिग्दर्शन, डा॰ दीवान चन्द, पृ॰32

परमज्ञान को प्राप्त कर लेता है । परमज्ञान से वह परमपद को प्राप्त कर लेता है । कर्मों के विषय में इशोपनिषद् में दूसरी बात कही गई है "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथः" अर्थात् इन का भोग त्याग भाव से किया जाए । त्यागपूर्वक भोग तभी हो सकता है जब मनुष्य कर्मों को निष्काम भाव से करे । निष्काम भाव से किए गए कर्म मनुष्य में लिपायमान नहीं होते, और जब इसकी सभी कामनाएँ छूट जाती हैं अर्थात् जब यह निष्काम हो जाता है, तब मरणशील मनुष्य अमृत हो जाता है । इस निर्लेप अवस्था में वह ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करता है ।[1] इसलिए मनुष्य को सदैव शास्त्र-विहित कर्मों को भली-भान्ति जानकर करते रहना चाहिए । मनुष्य शरीर में उन्नति का यही श्रेष्ठ मार्ग है । इन्हीं के अनुसार आचरण कर मनुष्य सत्कर्मी बन सकता है ।[2]

योग द्वारा मोक्ष

मोक्ष-प्राप्ति के लिए योग भारत का बहुत प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण साधन है । योग शब्द युज् धातु से बना है जिसका जोड़, मेल, मिलाप, एकत्र अवस्थिति आदि अर्थों में प्रयोग होता है । मोक्ष के सन्दर्भ में आत्मा और परमात्मा की एकात्मकता को योग कहा जाता है । गीता में "समत्वं योग उच्यते" एवं "योगः कर्मसु कौशलम्" कहा गया है । योग-दर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा गया है ।[3] जब तक मनुष्य चित्त की वृत्तियों को अपने वश में नहीं कर लेता तब तक वह परम पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर सकता ।

मनुष्य का परम पुरुषार्थ आत्मा का साक्षात्कार करना है । इसलिए

---

1. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
   अथ मर्त्यो अमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति ।। -बृहद० 4•4•7
2. तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि ।
   तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ।
   - मुण्ड० ।•2•।
3. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः । -योगदर्शन० ।•2

उपनिषदों में कहा है आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है।[1] यह निदिध्यासन ही योग ही है। परमपद की प्राप्ति के लिए निदिध्यासन करना ही पड़ता है। इसके बिना परमतत्त्व के साक्षात्कार का मार्ग निष्कण्टक नहीं हो सकता। इसलिए बृहदारण्यक उपनिषद् बताती है कि शान्त, दमनशील, वैराग्यवान् तपस्वी समाहित होकर अन्तरात्मा में परमात्मा को देखता है।[2] योग के महत्त्व को प्रकट करते हुए मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है कि जिसने वेदान्तविज्ञान के द्वारा उसके अर्थ-स्वरूप परमात्मा को जान लिया है तथा जिसका अन्तःकरण संन्यासयोग से शुद्ध हो गया है वे समस्त साधकगण मरणकाल में शरीर का त्याग कर परमात्मा के परमधाम में जाते हैं और अमृतस्वरूप होकर सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।[3]

परमात्मा ने मनुष्य की इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर जाने वाले बनाए हैं। इसलिए मनुष्य अधिकतर बाहर की ओर ही देखता है;[4] अतः मन-सहित उसकी इन्द्रियाँ बाहरी विषयों के पीछे भागने लग जाती हैं। जब तक मन बाहरी विषयों के पीछे भागेगा तब तक मनुष्य परमपद नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए परमपद को प्राप्त करने के लिए मन को स्थिर करना परमावश्यक है। मन को योग के द्वारा ही स्थिर किया जा सकता है। जब पांचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन परमेश्वर में स्थिर हो कर उसी में रमण करने लग जाता है तथा बुद्धि भी ज्ञान के विरुद्ध चेष्टा करना छोड़ देती है तो उस अवस्था को परमगति कहते हैं।[5] उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं। जब मनुष्य उपासना योग से परमेश्वर को प्राप्त होकर प्रमाद-रहित होता है, तभी वह मोक्ष को प्राप्त हुआ माना जाता है।

---

1. बृहद्· 2·4·5
2. तस्मादेवंविच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति। - बृहद्· 4·4·23
3. वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थः संन्यास योगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
   ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।। मुण्ड·3·2·6
4. कठो· 2·1·1
5. यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
   बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु परमां गतिम् ।। - कठो· 2·3·10

वह उपासना योग उदय और अस्त अर्थात् शुद्धि और सत्य गुणों का प्रकाश करने वाला तथा अशुद्धि और असत्य गुणों का नाश करने वाला है ।[1] इस प्रकार जब मनुष्य का हृदय सब दुष्कर्मों से अलग होकर शुद्ध हो जाता है तभी वह अमृत (मोक्ष) को प्राप्त कर आनन्द-युक्त होता है ।[2]

योग के द्वारा आत्म-दर्शन किस प्रकार होता है, इस विषय में श्वेताश्वतर उपनिषद् में विशेष वर्णन आया है । परमात्मा में मन लगाने के लिए योगी को ऐसे स्थान में अपना आसन लगाना चाहिए जहाँ की भूमि समतल, शुद्ध, कंकड़, आग और बालु से रहित हो, जहाँ मन में विक्षेप पैदा करने वाला शब्द न हो, जहाँ जल सुगमतापूर्वक प्राप्त हो सकता हो, परन्तु जलाशय ऐसा भी न हो जहाँ बहुत से लोग आते-जाते रहें, जहाँ उपयुक्त आश्रय हो, जहाँ का दृश्य नेत्रों को पीड़ा पहुँचाने वाला न हो, ऐसे गुफा आदि वायु-शून्य एवं एकान्त स्थान में मन को ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिए ।[3]

पूर्वोक्त स्थान में बैठकर सिर, गला और छाती को उभर उठाए हुए शरीर को सम स्थापन कर मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय क में निरुद्ध करके ब्रह्मरूप (नामरूप) नौका के द्वारा सारे भयावह प्रवाहों को तर जाए ।[4] आसन लगाने के उपरान्त विधिवत् प्राणायाम करके प्राण के सूक्ष्म हो जाने पर नासिका द्वारा उसको बाहर निकाल दे तथा सावधान होकर मन को वश में किए रहे ।[5] इसके पश्चात् पांच भूतों में पांचयोगात्मक सिद्धि के उदय होने पर योगी को योगाग्निमय शरीर की प्राप्ति होती है जिससे वह रोग, जरा एवं मृत्यु पर

---

1. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
   अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।। कठो॰ 2·3·11
2. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
   अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते । कठो॰ 2·3·14
3. समे शुचौ शर्करावह्निवालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
   मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।। श्वेता॰2·10
4. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
   ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।। -श्वेता॰2·8
5. श्वेता॰ 2·9

विजय प्राप्त कर लेता है ।[1] तदन्तर उसे योग की प्रथम सिद्धि प्राप्त होती है जिससे उसके शरीर में हल्कापन, नीरोगता, निर्लोभपन, मुखादि का वर्णप्रसाद, स्वर-सौष्ठव तथा शुभ गन्ध आने लगती है । इस अवस्था में उसे मूत्र-पुरीष भी कम आता है ।[2] जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त रत्न भली भान्ति धुल जाने पर चमकने लगता है उसी प्रकार योग द्वारा निर्मल किए हुए आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर आत्मा निर्द्वन्द्व, कृतार्थ और शोक-रहित हो जाती है ।[3] इस प्रकार योगी जब अपनी प्रकाशमय आत्मा से परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है तब वह अज, ध्रुव, सभी तत्त्वों से विशुद्ध परमात्मा को जानकर सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।[4] कठोपनिषद् में यह भी बताया गया है कि हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ होती हैं, उन में से एक ब्रह्मरन्ध्र में गई है । मरणकाल में जो योगी उस नाड़ी से अपनी आत्मा को उर्ध्व देश को ले जाता है वह अमृतत्त्व को प्राप्त करता है । शेष सौ नाड़ियों से उत्क्रमण की गई जीवात्मा लोकान्तर में गमन करती है ।[5] इस प्रकार जो जीवात्मा सदा विवेक रहित, अज्ञानी, अवशीकृत मन वाला, अपवित्र आचरण वाला रहता है वह उस परमपद को प्राप्त नहीं कर पाता, वह संसार चक्र को ही प्राप्त होता है ।[6] किन्तु जो विवेकशील बुद्धि से युक्त, मन को अपने अधीन रखने वाला और पवित्र भावनाओं एवं आचरणों से युक्त होता है वह उस भगवान् के परमपद को प्राप्त

---

1. पृथ्व्प्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृते ।
   न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।।
   - श्वेता॰ 2॰12
2. श्वेता॰ 2॰13
3. यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम् ।
   तद्दाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।।-श्वेता॰2॰1
4. श्वेता॰ 2॰15
5. शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
   तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।। -कठो॰2॰3॰16
6. यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
   न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति । कठो॰ 1॰3॰7

कर लेता है जहाँ से फिर उत्पन्न नहीं होना पड़ता ।[1]

ज्ञानमार्ग -

इस से पूर्व हमने देखा है कि जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य को जानना ही मोक्ष है । इस ऐक्य को ज्ञान के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । इसलिए उपनिषद् ग्रंन्थों में ज्ञानप्राप्ति पर अत्यधिक बल दिया गया है । मुण्डक उपनिषद् बताती है कि उस परमात्मा को आंख तथा वाणी आदि इन्द्रियों से/तथा तप और कर्म से नहीं जाना जा सकता । उस निराकार को यथार्थ ज्ञान की निर्मलता के द्वारा पवित्र बुद्धि से युक्त होकर ध्यान करने से जाना जा सकता है।[2] बृहदारण्यक उपनिषद् बताती है कि जो उपासक इस जन्म में आत्मतत्त्व को जान जाते हैं वे अमृत हो जाते हैं और दूसरे अज्ञानी जन दु:ख ही पाते हैं ।[3] वह जो ब्रह्म को जानता है ब्रह्म ही हो जाता है, फिर उस के कुल में कोई ब्रह्म को न जानने वाला नहीं रह जाता ।[4] मैत्रायणीयोपनिषद् में भी बताया गया है कि जो ब्रह्म को जानता है ब्रह्म को ही पाता है, उस में लय होकर अव्यक्त रूप में सुशोभित होता है ।[5]

ज्ञान के प्रति इसी प्रकार का आग्रह संहिताओं में भी पाया जाता है । ऋग्वेद में बताया गया है कि ज्ञान से युक्त होकर ही मनुष्य अन्धकार को पार करके प्रकाश को प्राप्त कर सकता है । अज्ञान एक घोर अन्धकार है । इस अन्धकार को ज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ।[6] ज्ञान के महत्त्व को स्थापित करते हुए यजुर्वेद में सर्वव्यापक एवं सूर्यवत् प्रकाशमय परमात्मा को

---

1. यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्क: सदा शुचि: ।
   स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।। -कठो० ।•3•8
2. न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
   ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान: ।।-मुण्ड० 3•1•8
3. ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दु:खमेवापियन्ति । -बृहद् 4•4•14
4. स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित् कुले भवति । -मुण्ड० 3•2•9
5. ब्रह्म ब्रह्मेत्यथायान्ति ये विदुर्ब्रह्मणास्तथा ।
   अत्रैव ते लयं यान्ति लीनाश्चव्यक्तशालिन: ।। - मैत्रायणीयोपनिषद् 20
6. ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभीके । -ऋ० 3•39•7

जानने पर बल दिया गया है । सब प्रकार की अज्ञानता एवं दूषणों से रहित उस परमात्मा को जानकर ही मनुष्य परमपद को प्राप्त कर सकता है, इसके लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।[1] शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि ज्ञान हमें उस स्थिति में ले जाता है जहाँ सभी कामनाएँ शान्त हो जाती हैं, जहाँ आत्मा ही अकेली कामना होती है ।[2]

अत: ज्ञान ऐसा साधन है जिसके द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर परमपद को प्राप्त किया जा सकता है । इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता होती है । गुरु से ज्ञान प्राप्त कर ही मनुष्य इस पथ पर चल सकता है । ऋग्वेद में इस बात को बहुत सुन्दर दृष्टान्त के द्वारा समझाया गया है । यदि कोई किसी मार्ग को नहीं जानता तो वह किसी ज्ञाता व्यक्ति से मार्ग पूछकर अपने गन्तव्य पर पहुँच जाता है । ज्ञाता व्यक्ति के कथनानुसार यदि जल खोजा जाए तो जहाँ जल है वहाँ पहुँचा जा सकता है ।[3] इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी गुरु से ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म को जाना जा सकता है । इस लिए कठोपनिषद् में मनुष्य को प्रेरणा दी गई है कि उठ ! जाकर श्रेष्ठ गुरु से ज्ञान प्राप्त कर । यह मार्ग छुरे की तेज धारा के समान दुस्तर है । बुद्धिमान लोग इसे दुर्गम बतलाते हैं ।[4] इस मनुष्य योनि में ही उसका ज्ञान

---

1. वेदाहमेतंपुरुषंमहान्तमादित्य वर्णंतमस: परस्तात् ।
   तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय ।। -यजु॰ 3॰18
2. शत॰ ब्रा॰ 10॰5॰4॰15; बृहद्॰ 3॰4॰2
3. अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्ट: ।
   एतद्वै भद्रमनुशासनस्योतप्रतिं विन्दत्यञ्जसीनाम् ।। -ऋ॰ 10॰32॰7
4. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
   क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति । कठो॰1॰3॰14

तुलना- जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ । सिरु धरि तली गली मेरी आउ ।।
इतु मारगि पैरु धरीजै । सिरु दीजै काणि न कीजै ।।
- सलोक वारां ते वधीक, गु॰ना॰र॰ 782

प्राप्त किया जा सकता है । यदि उसे न जाना जाए तो भारी विनाश होता है,[1] मनुष्य जन्म-मरण के चक्र में फँस जाता है । उस अक्षर ब्रह्म को जाने बिना परमपद नहीं प्राप्त किया जा सकता, चाहे कोई सहस्रों वर्षों तक होम तथा तप करता रहे ।[2] ये सभी कर्म सान्त फल प्रदान करने वाले हैं । ज्ञान के बिना किए गए महान् पुण्य-कर्म का भी फल क्षीण हो जाता है । इस लिए आत्मा को ही अपना वास्तविक लोक समझकर इसकी उपासना करनी चाहिए ।[3]

जैसा पहले बताया जा चुका है, यह ज्ञान गुरु से ही प्राप्त होता है, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह इस आत्म-तत्त्व को जानने के लिए श्रद्धा और सत्कार-पूर्वक ऐसे गुरु की शरण में जाए जो वेद के रहस्य का ज्ञाता तथा ब्रह्मनिष्ठ हो ।[4] मन को शान्त कर तथा विधिवत् ऐसे गुरु की शरण में जाकर उससे ब्रह्म-विद्या का उपदेश ले[5] तथा ऐसे आत्मज्ञ गुरु की पूजा तथा सेवा करे ।[6] फिर जिस प्रकार परमात्मा में परम भक्ति रखता है, वैसी ही गुरु में रखे । तभी उसके हृदय में यह बताए हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं ।[7] इसके

---

1. इहैव सन्तोऽथविद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टि । -बृहद्·4·4·14
   तुलना - लख चउरासी जोनि सबाई । माणस कउ प्रभि दीई वडिआई ।।
   इस पउड़ी ते जो नरु चूकै सो आइ जाइ दुखु पाइदा ।।
   -मारु म·5, सो·आ·ग्र· 1075
2. बृहद् 3·9·10
3. यदिह वा अप्यनेवं विद् महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव। आत्मानमेवलोकमुपासीत ।। -बृहद्· 1·4·15
4. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । -मुण्ड· 1·2·12
5. मुण्ड· 1·2·13
6. तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ।। -मुण्ड· 3·1·10
7. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
   तस्यैते कथिता ह्यार्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।। -श्वेता· 6·23

अतिरिक्त यह आत्मतत्त्व न प्रवचन से पाया जा सकता है, न मेधा से तथा न ही श्रवण से,[1] न यह आत्म-तत्त्व बलहीन के द्वारा पाया जा सकता है न प्रमाद तथा लक्षण-रहित तप से।[2] जिसका मन दुष्चरितों से हटा न हो, जो शान्त न हो तथा जो एकाग्र-चित्त न हो वह इसको खाली प्रज्ञान से नहीं पा सकता।[3] इस आत्मतत्त्व की प्राप्ति तो ईश्वर-कृपा से होती है। जिस पर वह भगवान् स्वयं कृपा करता है, जिसको वह स्वयं वरण करता है, उसके द्वारा ही वह प्राप्त किया जा सकता है। उसके लिए वह अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है।[4]

उपनिषदों में इस बात पर विशेष आग्रह दिखाया गया है कि उस परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है,[5] सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[6] इस ईश्वर को जानकर मनुष्य अमर हो जाता है।[7] जहाँ उसको जानने वाले अमर होते हैं वहाँ उसे न जानने वाले सांसारिक दु:खों को ही भोगते हैं।[8] वे बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फंसते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति के लिए नाम स्मरण भी उत्तम साधन है। अथर्ववेद में

---

1. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। -मुण्ड॰ 3॰2॰3
2. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिंगात्। -मुण्ड॰ 3॰2॰4
3. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहित:।
   नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ कठो॰1॰2॰24

तुलना - मुकति नही बिदिआ बिबेगिआनि॥ रामकली म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰458

4. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्। -मुण्ड॰3॰2॰3
5. कठो॰ 1॰3॰15
6. ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै:। -श्वेता॰ 5॰13
7. तं ज्ञात्वा अमृताभवन्ति॥ -श्वेता॰ 3॰7
8. ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
   य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दु:खमेवापियन्ति॥ -श्वेता॰ 3॰10

उल्लेख है कि जो मनुष्य सूर्योदय और उषा से पूर्व नामी ईश्वर को उसके नाम से पुकारता है तथा जो इसके नामोच्चारण में मुख्य होता है, वह निश्चय से उस स्वाराज्य को प्राप्त करता है जिससे बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है ।[1] छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है कि नाम-स्मरण, जप तथा कीर्तन पापनाश का सर्वोत्तम साधन है । नासिकागत प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र एवं मन आदि इन्द्रियों से यदि भगवान् की उपासना की जाए तो असुर रूप अशुभ संस्कार मनुष्य का हनन कर देते हैं । इसका कारण यह है कि इन्द्रियों में शुभाशुभ वासना बनी रहती है । यदि नाम की मुख्य प्राण द्वारा आराधना की जाए, संगीत द्वारा गाया जाए व मुख में जपा जाए तो सारे पाप संस्कार भस्म हो जाते हैं ।[2] इस विषय में प्रश्नोपनिषद् बतलाती है कि जो मनुष्य तीन मात्राओं वाले ओम् अक्षर के द्वारा निरन्तर उस परमपुरुष का ध्यान करता है, वह तेजोमय सूर्य लोक को प्राप्त करता है । फिर जैसे सांप केंचुली से छूट जाता है ऐसे ही वह उपासक पाप-मुक्त हो जाता है । उस अवस्था में वह साम मन्त्रों के द्वारा ब्रह्म लोक को ले जाया जाता है । वह उस परमपुरुष का साक्षात्कार कर मुक्त हो जाता है ।[3]

गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित मोक्ष-प्राप्ति के साधन -

गुरु नानक भी उपनिषदों की तरह आत्मज्ञान एवं आत्मा और परमात्मा की अभेदता को मोक्ष मानते हैं । वस्तुत: जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है जो स्वभावत: मुक्त है, परन्तु संसार में आकर अहंकार के कारण उस पर माया, अज्ञान एवं मोह का पर्दा पड़ जाता है । जिस से जीव अपनी अलग सत्ता मानने लगता है । इस अज्ञान, माया एवं मोह के पर्दे को बींध कर पुन: अपने व

---

1. नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषस: ।
   यदज: प्रथमं सम्बभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय, यस्मात् न अन्यत्परमस्ति भूतम् ।। - अथर्व. 10.7.31
   तुलना - अंमृत वेला सचु नाउ वडिआई वीचारु ।। जपु जी, गु.ना.र. 4
2. छान्दो. 1.2.1-7
3. प्रश्नो. 5.5

वास्तविक स्वरूप को जानना ही मोक्ष है । इस की प्राप्ति के लिए मनुष्य जो साधन अपनाता है उन्हें मोक्ष-प्राप्ति के साधन कहा जाता है ।

गुरु नानक वाणी में मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनेक साधन बताए गए हैं । गुरु नानक का दृढ़ विश्वास है कि अपनेपन की भावना तथा चतुरता को त्याग कर ही प्रभु को प्राप्त किया जा सकता है ।[1] इस के अतिरिक्त मोक्ष की प्राप्ति विद्या और विज्ञान के द्वारा नहीं हो सकती ।[2] मोक्ष-प्राप्ति के लिए न तो जंगलों में भटकने की आवश्यकता है, न ठण्डे पानी में खड़े रहने की, न धूनी रमाने की, न पर्वतों की गुफाओं में तप करने की और न गृहस्थ का त्याग करने की ।* मनुष्य को इस संसार में पंकज की तरह रहना चाहिए जो पंक में रहते हुए भी उस से निर्लिप्त रहता है । जिस प्रकार जलमुर्गी जल में रहती हुई भी जल के प्रभाव से मुक्त रहती है उसी प्रकार मनुष्य को भी संसार में रहते हुए माया के प्रभाव से मुक्त रह कर, गुरु शब्द में लीन होकर भवसागर को तैरना चाहिए ।[3] बिलावल राग में उल्लेख है कि जीव को माया से निर्लिप्त रहते हुए सम्पूर्ण पदार्थों को प्रभु-प्रदत्त समझना चाहिए तथा अपना तन-मन उस प्रभु को अर्पित कर देना चाहिए जिसका यह दिया हुआ है । इस प्रकार वह प्रभु में लीन हो जाएगा तथा उसका जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाएगा ।[4] गुरु नानक की मान्यता है कि "अंजन माहि निरंजनि" रहकर ही संसार सागर को पार किया जा सकता है । जो व्यक्ति इस जगत् में धूप-छाया, सुख-दुःख समान भाव से मानता है वह अपने बन्धन काट कर अपने आप को

---

1. आपु गवाईऐ ता सहु पाईऐ अउरु कैसी चतुराई । -तिलंग म॰१, पदे॰ गु॰ना॰र॰ 386
2. मुकति नहीं बिदिआ बिगिआनि ।। -रामकली म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰458
* मलार म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 724
3. जैसे जल महि कमलु निरालमु ~~मुखाई~~ मुरगाई नैसाणे ।
सुरति सबदि भवसागरु तरीऐ नानक नामु वखाणे ।।
-रामकली म॰१, सिध गोसटि, गु॰ना॰र॰ 500
4. रहै अतीतु जाणै सभ तिसका । तनु मनु अरपै है इहु जिसका ।।
ना ओहु आवै ना ओहु जाइ । नानक साचे साचि समाइ ।।
- बिलावल म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 432

मुक्त कर लेता है ।[1] इस प्रकार गुरु नानक का प्रबल सिद्धान्त है कि जो मनुष्य इस संसार में रहता हुआ माया के प्रभाव से निर्लिप्त रहता है, परिश्रम करके अपना तथा परिवार का पेट भरता है तथा सुपात्र को दान करता है, वही वास्तविक मोक्ष-मार्ग को पहचानता है ।[2]

गुरु नानक वाणी में मोक्ष-प्राप्ति के लिए परमात्मा का "हुक्म", "रज़ा" तथा "भाणा" (ईश्वरीय इच्छा) मानने की आवश्यकता पर बल दिया गया है ।[3] जपु जी में प्रश्न है कि "सचिआर"[4] कैसे हुआ जाए तथा "कूड़" (असत्य) की दीवार कैसे तोड़ी जाए । इसका उत्तर देते हुए बताया गया है कि "हुकमि रजाई चलणा नानक लिखिआ नालि"।[5] यह नियम भगवान् ने जीव के साथ ही लिख दिया है । परमात्मा को प्राप्त करने का यही साधन है कि उसकी आज्ञा तथा "रज़ा" में रहा जाए, तभी व्यक्ति प्रामाणिक माना जाता है तथा वह ईश्वर का महल एवं मनोवांछित फल प्राप्त करता है ।[6] जपु जी में बताया गया है कि बन्धन एवं मोक्ष परमात्मा की इच्छा से प्राप्त होती है । वह जिस को चाहे बन्धन में डाल सकता है, चाहे तो मुक्त कर सकता है ।[7] तिलंग राग में उल्लेख है कि मोक्ष की प्राप्ति उन्हें ही होगी जो ईश्वरीय इच्छा में जीवन व्यतीत करेंगे इस लिए चतुरता को त्याग

---

1. धूप छाव जे सम करि जाणै ।
   बंधन काटि मुकति घरि आणै।। रामकली म॰१, ओंकार, गु॰ना॰र॰482
2. घालि खाइ किछु हथहु देइ ।
   नानकु राहु पछाणहि सेइ ।। सारंग म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 696
3. द्रष्टव्य अध्याय (4·3) कर्म विपाक के अन्तर्गत सन्दर्भ "हुक्म रजाई कर्म"
4. किव सचिआरा होईऐ किव कूड़ै तुटै पालि । जपु जी, गु॰ना॰र॰ 2
5. जपु जी, गु॰ना॰र॰ 2
6. हुकमि मनिऐ होवै परवाणु ता खसमै का महलु पाइसी ।
   खसमै भावै सो करे मनहु चिंदिआ सो फलु पाइसी ।
   ता दरगह पैधा जाइसी ।। -आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 300
7. बंदिखलासी भाणै होइ ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰ 14

कर, परमात्मा का हुक्म मानना चाहिए ।[1] गुरु नानक देव का यह दृढ़ विश्वास है कि बन्धन में बन्धा जीव परमात्मा की आज्ञा से ही मुक्त होता है ।[2] अत: ईश्वरीय "भाणे" के अन्तर्गत जीवन-यापन करते हुए सदैव उसकी आज्ञा का पालन करते रहना चाहिए ।

गुरु नानक वाणी में मोक्ष-प्राप्ति के लिए जीव को प्रभु के भय में रहने का भी उपदेश है । परमात्मा का भय होने से जीव अनुचित कर्म नहीं कर सकता और न ही गलत मार्ग पर चल सकता है । यदि वह परमात्मा का भय नहीं मानेगा तो मनमाना आचरण करेगा । इसलिए गुरु नानक वाणी में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ईश्वर के भय के बिना कोई संसार-सागर को पार नहीं कर सकता । इसीलिए गुरमुख व्यक्ति परमात्मा के भय में रह कर उसके भय को बड़े प्रेम से संवार कर रखता है ।[3] मलार राग की वार में उल्लेख है कि परमात्मा के भय के बिना जीव का भ्रम नहीं कटता तथा "नाम" में प्रेम नहीं उत्पन्न होता । सद्गुरु के सम्पर्क से परमात्मा का भय उत्पन्न होता है तथा उसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।[4]

गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में सत्संगति का निश्चित महत्त्व स्वीकार किया गया है । गुरु नानक की मान्यता है कि हृदयगत कालुष्य, विषय-विकारों एवं कुवृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिए सज्जनों की संगति में बैठकर साधुजनों के उपदेश सुनना तथा प्रभु-चर्चा करते हुए उसके नाम का व्याख्यान-श्रवण करना नितान्त आवश्यक है । उत्तम पुरुषों की संगति से मनुष्य अवगुणों को त्याग कर गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है ।

---

1. जो किछु करे से भला करि मानीऐ हिकमति हुकम चुकाईऐ ।।
   - तिलंग म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 386
2. फाथा चुगै चोग हुकमी छुटसी । मलार म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 740
3. भै बिनु कोइ न लंघसि पारि ।
   भै भउ राखिआ पाइ सवारि ।। गउड़ी म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 138
4. भै बिनु भरमु न कटीऐ नामि न लगै पिआरु ।
   सतिगुरु ते भउ उपजै पाईऐ मोख दुआरु ।। मलार म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 732

फलत: वह भी उत्तम बन जाता है ।[1] सन्तों की संगति से मनुष्य उत्तम क्यों बनता है, इस विषय में गुरु नानक वाणी में उल्लेख है कि सन्त जन उत्तम, भले तथा हरि को प्यारे होते हैं जो सदैव ब्रह्मानन्द में लीन रहते हैं तथा दूसरों को भवसागर से पार उतारने वाले होते हैं ।[2] सत्संगति की विशेषता प्रकट करते हुए गुरु नानक बताते हैं कि जिस प्रकार पारसमणि के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है उसी प्रकार सत्संगति से नीच पुरुष भी उत्तम बन जाता है ।[3] सत्संगति से मनुष्य की ज्योति प्रभु की ज्योति में विलीन हो जाती है जिस से जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है ।[4]

यहाँ प्रश्न उठता है कि सत्संगति का यथार्थ स्वरूप क्या है । गुरु नानक वाणी में इस उत्तर देते हुए बताया गया है कि जहाँ पर केवल प्रभु-नाम की चर्चा होती हो, वह सत्संगति है ।[5] सत्संगति में नाम का भण्डार होता है और वहाँ से परमात्मा की प्राप्ति होती है ।[6] गुरु नानक का मत है कि सत्संगति की प्राप्ति भी सौभाग्य से होती है ।[7] गुरु नानक के मतानुसार मोक्ष-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन सत्संगति है । इसके बिना मनुष्य भले ही लाख चतुरता करता रहे तथा लाखों मनुष्यों से प्रीति एवं मिलन करता रहे तथापि साधु-संगति के बिना संतोष की प्राप्ति नहीं होती तथा न नाम के

---

1. उत्तम संगति उत्तमु होवै ।
   गुण कउ धावै अवगुण धोवै ।। आसा म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰ 234
2. उत्तम जन संत भले हरि पिआरे ।
   हरि रस माते पारि उतारे ।।मारू म॰१, सो, गु॰ना॰र॰ 608
3. पारसु भेटि कंचनु धातु होई सतसंगति की वडिआई ।। गूजरी म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 318
4. पुनरपि जनमु नाही जन संगति जोती जोति मिलाई । -गूजरी म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 318
5. सतसंगति कैसी जाणीऐ ।
   जिथै एको नामु वखाणीऐ ।। सिरीराग म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 88
6. सतसंगति नामु निधानु है जिथहु हरि पाइआ ।। सारंग म॰१, वार, आ॰ग्र॰ 1244
7. बिनु भागा सतसंगु न पाईए····। -बसंत म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰660

बिना दु:ख और सन्ताप ही बने रहते हैं ।[1] गुरु नानक की दृष्टि में सत्संगति में ~~बिलक~~ इतनी शक्ति है कि यदि साधु जनों की चरण-रज भी मुख और मस्तक पर पड़ती है तो "मनमुख" रूपी विकृष्ट मनुष्य भी गुरुमुख रूपी सोना बन जाता है ।[2]

गुरु नानक के मतानुसार सत्संगति का आश्रय प्राप्त करके मनुष्य बहुत सुगमता से मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । गुरु नानक द्वारा संस्थापित सिक्ख धर्म में आज भी "साधु संगति" को गुरु रूप माना जाता है तथा "पाँचों में परमेश्वर" की धारणा पाई जाती है ।

गुरु नानक वाणी में मोक्ष-प्राप्ति के साधनों के रूप में गुरु-कृपा को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । वस्तुत: भारतीय संस्कृति में वैदिक काल से ही गुरु को बहुत महत्त्व प्रदान किया जाता रहा है । प्रत्येक धार्मिक तथा राजनैतिक कर्म के सम्पादन में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान होता था । आत्मिक उन्नति एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता अनुभव की जाती थी । कठोपनिषद् में बताया गया है कि किसी अन्य ज्ञानी पुरुष के द्वारा उपदेश न प्राप्त किए जाने पर आत्मतत्त्व के विषय में गति नहीं हो सकती ।[3]

गुरु शब्द के अर्थ के विषय में विचार करने पर ज्ञात होता है कि जो अज्ञान के अन्धकार को दूर कर ज्ञान का प्रकाश करवाता है वह गुरु है । संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में धर्म का उपदेश करने वाले, अज्ञान को दूर करने वाले तथा देव,गन्धर्व आदि द्वारा स्तुत्य विभूति को गुरु माना गया है ।[4] गुरु शब्द के

---

1. लख सिआणप जे करी लख सिउ प्रीति मिलापु ।
   बिनु संगति साध न ध्रापीआ बिनु नावै दूख संतापु ।।
   - सिरीराग म॰।, पदे, गु॰ना॰र॰ 40
2. धधै धूलि पड़ै मुखि मसतकि कंचन भए मनूरा ।।
   -रामकली म॰।, ओअंकार, गु॰ना॰र॰ 474
3. कठो॰ ।॰2॰8
4. गृणाति उपदिशति धर्म गिरति अज्ञानं वा, यद्वा गीर्यते स्तूयते देव गन्धर्वादिभि: । = संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ॰ 398

अर्थ पर विचार करते हुए ध्यानबिन्दूपनिषद् में बताया गया है कि गुरु शब्द के अन्दर जो "गु" अक्षर है इसका अर्थ अन्धकार है "रु" अक्षर का अर्थ है रोधक या रोकने वाला । अत: अज्ञान रूपी अन्धकार को रोकने के कारण ही गुरु को गुरु कहा गया है ।[1]

गुरु नानक वाणी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में मुख्यत: ब्राह्मण को ही गुरु माना जाता था ।[2] गुरु नानक के मतानुसार गुरु वह है जो सत्य को दृढ़ कराए, अनिर्वचनीय (परमात्मा) की चर्चा करवाए तथा शब्द के माध्यम से परमात्मा में लीन कराए ।[3] गुरु नानक वाणी में गुरु उसे माना गया है जो जीव को उसके हृदय रूपी घर में परमात्मा का घर दिखा दे ।[4] तथा सभी को उनके वास्तविक स्वरूप से मिला दे ।[5] गुरु नानक वाणी में गुरु को इतना महत्त्व प्रदान किया गया है कि गुरु को हरिमन्दिर पर चढ़ने की सीढ़ी, भवसागर पार करने की बेड़ी तथा छोटी किश्ती (तुल्हा), सत्य सागर, जहाज़ तथा तीर्थ कहा गया है ।[6] गुरु की बोहिथ,[7] ज्ञान-प्रदीप,[8]

---

1. गु शब्दस्त्वन्धकार: स्यात् रु शब्दस्तुनिरोधक: ।
   अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ।। ध्यानबिन्दूपनिषद् 4
2. सिखा कंनि चड़ाईआ गुरु ब्राह्मनु थिआ । आसा म०१, वार, गु०ना०र०298
3. अकथु कथावै सबदि मिलावै ।
   सो गुरु करउ जि साचु दृढ़ावै । धनासरी म०१, अस० गु०ना०र०374
4. घर महि घरु देखाइ देइ सो सतिगुरु पुरखु सुजाणु । मलार म०१, अस०706
5. नानक सतिगुरु ऐसा जाणीऐ जो सभसे लए मिलाए जीउ ।।
   -सिरीराग म०१, अस गु०ना०र० 90
6. गुरु पउड़ी बेड़ी गुरु गुरु तुलहा हरिनाउ ।
   गुरु सरु सागरु बोहिथो गुरु तीरथ दरीआउ ।। सिरीराग म०१, पदे, गु०ना०र०32
   गुरु दरिआउ सदा जल निरमल मिलिआ दुरमति मैल हरै ।
   सतगुरु पाइआ पूरा नावणु पसू परेरहु देव करै ।। प्रभाती म०१, पदे, गु०ना०र०748
   गुर समानि तीरथु नही कोई ।
   सरु संतोखु तासु गुरु होई ।। प्रभाती म०१, पदे, गु०ना०र०748
7. सतिगुरु भै का बोहिथा नदरी पारि उतारु ।। सिरीराग म०१, अस० गु०ना०र० 74
8. गुरु दाता गुरु हिवै घरु गुरु दीपकु तिह लोइ ।। -माझ म०१, वार, गु०ना०र० 102

संतोष सर[1] अमृत सर[2] तथा संतोष वृक्ष[3] है । ये उपमान सिद्ध करते हैं कि गुरु व्यक्ति के व्यक्तित्व को उभर उठाने तथा उसकी अन्तिम उन्नति में सहायक होता है । आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिए उसका पथ-प्रदर्शन करता है । अतः गुरु नानक का स्पष्ट मत है कि गुरु के शब्द बिना मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती भले ही अनेक धर्म-कर्म किए जाएं, उपनिषदों की तरह गुरु नानक की भी यही धारणा है कि गुरु के बिना अज्ञानता बनी रहती है तथा सभी कर्म निष्फल जाते हैं ।[4] बाह्य साधन, नेवली कर्म प्राणायाम के पूरक कुंभक तथा रेचक, कुछ भी सहायक नहीं होता । सद्गुरु के बिना प्राणी भ्रम में पड़कर नष्ट हो जाता है ।[5] गुरु नानक की मान्यता है कि जीव के गले में पड़ा हुआ माया रूपी फांसी का फंदा गुरु के बिना नहीं खुलता[6] और न ही गुरु के बिना संसार-सागर से पार उतरा जा सकता है ।[7] गुरु ही ज्ञान द्वारा जीव के बन्धन को तोड़कर इसे मुक्त कर सकता है ।[8] गुरु की कृपा से अज्ञान-तिमिर नष्ट होता है तथा ज्ञान का प्रकाश होता है जिससे हरि रूपी रत्न प्राप्त होता है ।[9]

---

1. प्रभाती म॰१, पदे॰ गु॰ना॰र॰ 748
2. गुरु सागरु अंमृतसरु जो इछे सो फलु पाए । मारु म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 558
3. नानक गुरु संतोखु रखु धरमु फुलु फलु गिआनु ।। माझ म॰१, गु॰ना॰र॰128
4. बिनु गुर सबद न छूटीऐ देखहु वीचारा ।
   जे लख करम कमावही बिन गुर अंधिआरा ।। गउड़ी म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 132
5. निवली करम भुअंगम भाठी रेचक पूरक कुंभ करै ।
   बिनु सतिगुर किछु सोझी नाहीं भरमे भूल बूडि मरै ।।
   - प्रभाती म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 764
6. किउ खूलै गल जेवड़ीआ जीउ बिनु गुर अति पिआरे । गउड़ी म॰१, छंत, गु॰ना॰र॰ 186
7. बिनु गुर पारु न पावै कोई हरि जपीऐ पारि उतारा हे ।
   - मारु म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰ 592
8. बंधन तोरे सहजि धिआनु ।
   छूटै गुरमुखि हरि गुर गिआनु ।। आसा म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 242
9. गुर परसादि रतनु हरि लाभै मिटै अगिआन होइ उजीआरा ।
   - आसा म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 206

गुरु नानक की धारणा है कि परमपद की प्राप्ति गुरु-कृपा से होती है।[1] गुरु की कृपा से यह बात समझ आती है कि परमात्मा सर्वव्यापक है।[2] इस रहस्य को जान लेने से ही जीव मुक्त होता है।[3] सिरीराग में उल्लेख है कि गुरु के बिना प्रभु-प्रेम उत्पन्न नहीं होता और न ही अहं की मल दूर होती है।[4] बिना गुरु के धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का रहस्य नहीं जाना जा सकता। यह मोक्ष पदार्थ गुरु की शरण में जाकर भक्ति द्वारा प्राप्त होता है। जिस जीव के हृदय में प्रभु का निवास है, उसे ही गुरु द्वारा भक्ति प्राप्त होती है। हरि-भक्ति ही उसे मोक्ष और आनन्द प्रदान करती है। परमानन्द की स्थिति जीव को गुरु के उपदेश द्वारा ही प्राप्त होती है।[5] गुरु से मोक्ष किस प्रकार प्राप्त होती है, इस विषय में सिरीराग में उल्लेख है कि यदि पूर्ण गुरु प्राप्त हो जाए तो सर्व-प्रथम विचार रूपी रत्न की प्राप्ति होती है और पुनः गुरु को मन अर्पित कर देने से प्रेम की प्राप्ति होती है। जिससे अवगुणों को मिटाने वाला मोक्ष पदार्थ प्राप्त होता है।[6] इस से सिद्ध होता है कि गुरु नानक के मतानुसार मोक्ष की प्राप्ति गुरुकृपा से होती है। उल्लेखनीय है कि गुरु नानक की यह धारणा उपनिषदीय विचारधार के अत्यन्त समीप है।

गुरु नानक वाणी में विवेचित मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में ईश्वर-कृपा को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जीव की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए

---

1. गुर परसादि परम पदु पाई ।। बिलावल, म०१, थिति, गु०ना०र०432
2. गुर किरपा ते बूझीऐ सभु ब्रहमु समाइआ ।। गउड़ी म०१, अस०गु०ना०र०184
3. गुर प्रसादी बूझि ले तउ होइ निबेरा ।। गउड़ी म०१, अस०गु०ना०र० 182
4. बिनु गुर प्रीति न ऊमजै हउमै मैलु न जाइ।। सिरीराग म०१, अस, गु०ना०र० 76
5. गउड़ी म०१, पदा०12, गु०ना०र० 148
6. सतिगुर पूरा जे मिले पाइऐ रतनु बीचारु।
   मन दीजै गुर आपणे पाईऐ सरब पिआरु।
   मुकति पदारथु पाईए अवगण मेटणहार ।।
   - सिरीराग म०१, अस० गु०ना०र० 72

ईश्वर-कृपा परमावश्यक है । इस लिए गुरु नानक वाणी में पदे-पदे ईश्वर-कृपा के लिए प्रार्थना की गई है । गुरु नानक का मत है कि ऐसी कोई छोटी से छोटी वस्तु नहीं जो ईश्वरकृपा के बिना प्राप्त हो सकती है और न ही ऐसी कोई बड़ी से बड़ी चीज़ है, जो ईश्वर-कृपा से प्राप्त नहीं हो सकती ।[1]

गुरु नानक वाणी में स्पष्ट उल्लेख है कि मोक्ष की प्राप्ति भी ईश्वर-कृपा से ही सम्भव है ।[2] यह शरीर तो शुभ कर्मों के अनुसार प्राप्त होता है, किन्तु मोक्ष का द्वार ईश्वर-कृपा से प्राप्त होता है ।[3] सूही राग में उल्लेख है कि ईश्वर-कृपा से ही जीव को मोक्ष प्राप्त होता है तथा ईश्वर-कृपा से ही जीव का प्रभु से मिलन होता है ।[4]

सारांश यह है कि गुरु नानक की दृष्टि में मोक्ष-प्राप्ति के लिए कृपा की प्राप्ति नितान्त आवश्यक है । ईश्वर जीव के उभर कृपा करके उसका गुरु के साथ मिलन करवाता है तथा गुरु शब्द के अभ्यास से जीव को मुक्त कर देता है । इस भवसागर में फँसे हुए जीव के लिए गुरु बोहथ है जो जीव को प्रभु-चरणों में पहुँचा देता है जहाँ पर वह अनन्त काल तक प्रभु-मिलन का परमानन्द प्राप्त करता है ।[5]

" "
==== = = = ======

---

1. द्रष्टव्य अध्याय 6·3 (ईश्वर-कृपा)
2. आसा म·1, वार, गु·ना·र· 280
3. करमी आवै कपड़ा नदरी मोखु दुआरु ।। जपु जी, गु·ना·र· 4
4. नदरि प्रभु ते छूटीए नदरी मेलि मिलाइ जीउ ।। सूही म·1, अस·गु·ना·र· 402
5. इसके अतिरिक्त गुरु नानक वाणी में मोक्ष-प्राप्ति के लिए कुछ विशेष मार्गों का विवेचन भी हुआ है जिन में नाम-जाप, ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग, योग-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग प्रमुख हैं । इनका विवेचन करने के लिए एक अलग अध्याय की आवश्यकता है । शोध-प्रबन्ध के कलेवर में वृद्धि को देखते हुए यहाँ पर इनका वर्णन नहीं किया गया ।

षष्ठ अध्याय

ब्रह्म का स्वरूप और गुरु नानक वाणी

6.1 गुरु नानक वाणी में ब्रह्म का स्वरूप

सुदूर प्राचीन काल से मानवीय चिन्तन एवं विचारधारा का यदि कोई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है, तो वह है-सृष्टि का नियन्ता कौन है । उस नियामक तत्त्व को कोई प्रजापति, हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, स्कम्भ या ब्रह्म, कोई "गाड" खुदा तथा परमात्मा, कोई ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कोई ईश्वर, भगवान्, राम, रहीम, कृष्ण, बीठल एवं "अकालपुरख" आदि नामों से पुकारता है । आदिकाल से ही मानव ने अपनी उपासना के लिए एक ऐसे तत्त्व की परिकल्पना कर ली थी । जैसे-जैसे समय में परिवर्तन आता गया, उसका नाम तथा उसके विषय में लोगों की विचारधारा परिवर्तित होती रही। संसार में जितने भी मनीषी एवं महापुरुष हुए उन्होंने अपने-अपने ज्ञान एवं अनुभव से इस को व्यक्त करने का प्रयास किया । इस प्रकार वैदिक काल से लेकर अद्य-पर्यन्त इस अद्वितीय तत्त्व के विभिन्न नामों एवं रूपों के विवेचन की एक परम्परा चली आ रही है । इसी परम्परा के अन्तर्गत पन्द्रहवीं शताब्दी में गुरु नानक देव जी ने उस ब्रह्म का विवेचन किया है । प्रस्तुत अध्याय में गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन किया जाएगा तथा इस की वेदों में निरूपित ब्रह्म के स्वरूप से समानता या विषमता का निरूपण किया जाएगा ।

ब्रह्म के विषय में सर्वप्रथम उल्लेख हमें विश्व साहित्य के प्राचीनतम धार्मिक ग्रन्थ, ऋग्वेद में प्राप्त हो जाता है । यद्यपि ऋग्वेद में अधिकतर मन्त्र विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित हैं, फिर भी ऋग्वेद में एक ऐसी शक्ति की कल्पना की गई है जो इन सभी शक्तियों के पीछे काम करती है । ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के 55वें सूक्त में बाईस मन्त्र हैं और इन सब के अन्त में यही वाक्य आया है कि देवताओं का महान् बल एक ही है ।[1] इस एक को ही

---

1. महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।। ऋ॰ 3·55·1-22

विश्वकर्मा, पुरुष, हिरण्यगर्भ, प्रजापति या ब्रह्म कह कर पुकारा गया है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही इस बात को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है कि उस एक {ब्रह्म} को ही विप्र लोग विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं। वे इस को अग्नि, यम तथा मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं[1] तथा उस एक को ही अनेक प्रकार से देखते हैं।[2] ऋग्वेद में ब्रह्म को पुरुष भी कहा गया है तथा इसे एक महामहिमाशाली एवं अनन्त व्यक्तित्व वाला माना गया है जिसका रूप ही यह सारा जगत् है। जो कुछ था, जो कुछ है तथा जो कुछ भविष्य में होगा, वह सब पुरुष ही है।[3] यह ब्रह्माण्ड उसका एक अंश है तथा द्युलोक भी उसी का अंश है।[4] उसी ने जंगम एवं स्थावर जगत्, पृथ्वी एवं जीवों के शरीरों की रचना की।[5] ऋग्वेद के दशम मण्डल में ही इस ब्रह्म-तत्त्व को हिरण्यगर्भ नाम से अभिहित किया गया है। वहाँ ऐसा उल्लेख है कि सर्वप्रथम केवल हिरण्यगर्भ ही था। उसी से जगत् की उत्पत्ति हुई, उसी ने पृथ्वी और आकाश को अपने-अपने स्थान पर स्थापित किया।[6] नासदीय सूक्त में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन हुआ है तथा इसे अज्ञेय और अनिर्वचनीय माना गया है। यह एक परमतत्त्व ही सृष्टि से पूर्व विद्यमान था तथा बिना प्राण वायु के अपनी स्वधा शक्ति से जीवन धारण किए हुए था। उसके बिना और कुछ भी नहीं था।[7] यह ब्रह्म का अव्यक्त रूप है जो ज्ञान की सीमा से परे है। ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख है कि इस को देवता भी नहीं जान सके।[8] इसको कौन

---

1. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। ऋ॰1॰164॰46
2. सुपर्ण विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।। ऋ॰10॰114॰5
3. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
   उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।। ऋ॰ 10॰90॰2
4. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।। ऋ॰10॰90॰3
5. ऋ॰ 10॰90॰4,5
6. ऋ॰ 10॰121॰1
7. आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ।। -ऋ॰10॰129॰2
8. ऋ॰ 10॰129॰6

जानता है । इस प्रश्न का अन्त यही है कि जो इसका अध्यक्ष परमाकाश में है वही इसको जानता है ।[1]

ऋग्वेद की तरह यजुर्वेद में भी ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन हुआ है । यद्यपि यजुर्वेद के अधिकतर मन्त्र यज्ञपरक हैं फिर भी कुछ स्थलों पर स्पष्ट रूप से एक ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है । ऐसा माना गया है कि जितने भी देव हैं सभी उसी का रूप हैं । वह परमात्मा ही अग्नि है, वही आदित्य है, वायु, जल, शुक्र एवं चन्द्रमा भी वही है, वही प्रजापति तथा ब्रह्म भी वही है ।[2] इन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है । वही हमारा बन्धु, जनिता तथा विधाता है । वह सभी धामों एवं भुवनों को जानता है, वही तृतीय धाम में है जिसमें देवता लोग मोक्ष-सुख का अनुभव करते हैं ।[3]

ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए अथर्ववेद में बताया गया है कि ब्रह्म एक ऐसी सत्ता है जो सभी देवों तथा सम्पूर्ण जगत् को एक सूत्र में बांधे ~~हुए~~ हुए है । वह पिता, पुत्र, छोटे, बड़े, मानव तथा देवताओं के मन में प्रविष्ट है ।[4] तप, यश, जल, मेघ, मृत्यु, अमृत, राक्षस, रुद्र एवं चन्द्रमा सहित सभी नक्षत्र, दिन, रात, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशाएँ, भूमि, अग्नि तथा यज्ञादि जो कुछ भी इस जगत् में विद्यमान हैं और जो कुछ भविष्य में होगा सब कुछ इसी से उत्पन्न हुआ है ।[5] तेतीस देवता भी उसी के अंग हैं । ब्रह्मविद् लोग उसे ही तेतीस देवता मानते हैं ।[6] वह ज्येष्ठ ब्रह्म ही सब का अधिष्ठाता है।[7]

---

1. ऋ॰ 10·129·7
2. तदेवाग्निः तदादित्यः तद्वायुः तदु चन्द्रमाः ।
   तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापति ।। -यजु॰ 32·1
3. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता, धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
   यत्र देवा अमृतमानशाना, तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।। यजु॰ 32·10
4. उतैषां पितोत वा पुत्र एषामु तैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
   एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ।।
   -अथर्व॰ 10·8·28
5. अथर्व॰ 13·4·1-5
6. यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
   तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ।। -अथर्व॰ 10·7·28
7. यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।। -अथर्व॰ 10·8·1

वही पृथ्वी और द्युलोक को थामे हुए है । जंगम स्थावर सारा जगत् उसी में आश्रित है ।[1] मनुष्य एवं देवताओं का आश्रय,[2] वही लोगों के नमस्कार के योग्य है ।[3] उस के विराट् रूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि उस ज्येष्ठ ब्रह्म का पाद भूमि है, अन्तरिक्ष उदर है, द्यौ मूर्धा है,[4] सूर्य तथा चन्द्रमा उस के दो नेत्र हैं, अग्नि उसका मुख है,[5] वायु उसके प्राण एवं अपान हैं, अंगिरा चक्षु हैं तथा दिशाएं श्रोत्र हैं ।[6] इसके अतिरिक्त और भी अनेक स्थलों पर ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है जिसका चित्रण आगे किया जाएगा । यहाँ इतना कह देना युक्त होगा कि अथर्ववेद की ब्रह्म-विषयक धारणा उपनिषदों में पाई जाने वाली विचारधारा के अत्यन्त समीप आ गई है ।

उपनिषद् ग्रन्थों का संपूर्ण प्रयत्न ही ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करता है । उपनिषदों में निर्विकल्प रूप से एक अद्वितीय ब्रह्म की सत्ता मानी गई है जो विश्व का ईश्वर है, जिसका शरीर पृथ्वी है, अग्नि दृष्टि है, प्रकाश मन है तथा जो आत्मा का परम पारायण है ।[7] यह एक ईश्वर ही सभी प्राणियों के अन्दर छिपा हुआ तथा सर्वव्यापक है ।[8] वह एक ऐसी शक्ति है जिससे समस्त वस्तुओं का उद्भव होता है, उसी में सभी भूत एवं पदार्थों की स्थिति और अन्त में उसी में सभी का लय हो जाता है ।[9] ब्रह्म की शक्ति के विषय में

---

1. अथर्व. 10.8.2
2. यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारानाभाविव श्रिताः ।। -अथर्व. 10.8.34
3. एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ।। अथर्व. 2.2.1
   पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ।। - अथर्व. 2.2.2
4. अथर्व. 10.7.32
5. अथर्व. 10.7.33
6. अथर्व. 10.7.34
7. बृहद्. 3.9.1-10
8. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।। श्वेता. 6.11
9. तै.उ. 3.1

केनोपनिषद् में एक मनोरंजक कथा के माध्यम से हमें बताया गया है कि इस जगत् में जितनी भी भौतिक एवं मानसिक शक्तियां हैं वे ब्रह्म की शक्ति की ही अभिव्यक्ति करती हैं। वह ब्रह्म की ही शक्ति है जो हमारी आत्मा की चेतना और कल्पना के रूप में अपने को व्याप्त करती है।[1] तात्पर्य यह है कि इसी शक्ति से विश्व में सभी जीव एवं पदार्थ शक्ति प्राप्त करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, विद्युत तथा पार्थिव अग्नि आदि सभी उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं।[2] अग्नि, सूर्य, वायु, मृत्यु एवं इन्द्र आदि देवता उसी के भय से अपने-अपने कार्य में रत हैं।[3] उसी के आदेश से सूर्य,चन्द्रमा, पृथ्वी एवं आकाश अपने-अपने स्थान पर स्थित हैं। इसी के आदेश से निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और वर्ष विश्व की व्यवस्था में अपने निश्चित धर्म का पालन करते हैं।[4] अधिक क्या, उस ब्रह्म से परे-वरे कुछ नहीं है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं स्थूल से स्थूल है। उस अद्वितीय पुरुष से ही यह जगत् पूर्ण है।[5] ब्रह्म के स्वरूप के विषय में ईशोपनिषद् में बताया गया है वह चलता है, वह नहीं चलता है और न चलता हुआ भी वह मन से तीव्र गति वाला है। वह बहुत दूर होने पर अत्यधिक समीप है, वह विश्व के भीतर है, फिर भी बाहर है।[6] इस प्रकार के विरोधी तत्त्वों का समावेश केवल ब्रह्म में ही हो सकता है अन्यथा बहुत दूर स्थित चीज़ उसी समय पास किस प्रकार हो सकती है। यह स्वेच्छा से प्रकट होने वाला है तथा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों से रहित है और ज्ञान एवं अज्ञान से उपर है।[7] इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का बहुत ही सुन्दर चित्रण हुआ है। उपनिषदों में छोटी-छोटी कथाओं के माध्यम से उस को इस प्रकार समझाया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति उसे आसानी से समझ सकता है।

---

1. केनो. 3.4
2. कठो. 2.2.15; मुण्ड. 2.2.10; श्वेता. 6.14
3. कठो. 2.3.3; ते.उ. 2.8
4. बृहद्. 3.8.9
5. यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
   वृक्ष इव स्तबधो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।। श्वेता.3.9
6. ईशो. 4,5
7. ईशो. 8, 9, 10

गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप -

गुरु नानक वाणी में ब्रह्म के स्वरूप का चित्रण बड़े स्पष्ट एवं प्रामाणिक ढंग से हुआ है । गुरु नानक वाणी में ब्रह्म के रूप में एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया गया है, जो इस दृश्य एवं अदृश्य जगत् को शक्ति प्रदान करती है । गुरु नानक देव जी ने ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन मूलमन्त्र में इस प्रकार किया है:-

ੴ ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकालमूरति अजूनी सैभं गुरप्रसादि ।।[1]

मूल मन्त्र के एक प्रत्येक शब्द में ब्रह्म के सगुण या निर्गुण स्वरूप का चित्रण हुआ है जिनका यहाँ एक-एक करके वर्णन किया जाएगा ।

ੴ (एक)

कहना न होगा कि आदि ग्रन्थ में इस मूलमन्त्र का ही विस्तार है । इस मूलमन्त्र में भी "ੴ" का अपना अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है । यह "ੴ" अंक एक ब्रह्म का वाचक है तथा इसी एक के भाव से ही समस्त गुरु नानक वाणी अनुभावित है । "ੴ" का अभिप्राय यह है कि वह परमेश्वर एक और केवल एक है ।[2] जड़-चेतन एवं भोग्य-भोक्त भेद से अनेक रूप होता हुआ भी वह स्वरूपत: एक ही है । अनेकता तो उसकी निर्माण-शक्ति, माया का विस्तार मात्र है । यह बात भलीभान्ति समझाने के लिए ही गुरु नानक ने एक शब्द के स्थान पर एक अंक ("ੴ")का प्रयोग किया है । इसका तात्पर्य यह है कि इसके आगे भाग नहीं किए जा सकते । संख्या का एक अंक "ੴ" "10" 100, 1000 (असीम) आदि भेदों से अनेक रूप होता हुआ भी आप उसी प्रकार एक ही रहता है । इस "ੴ" के बिना उन अनेकों की अपनी कोई सत्ता नहीं । यदि इस को उन से अलग कर दिया जाए

---

1. गु॰ना॰र॰ 2:
   यह मूलमन्त्र ही सिख धर्म एवं दर्शन का आधार तथा आदि ग्रन्थ में पाई जाने वाली विचारधारा की आधारशिला है । आदि ग्रन्थ में लगभग सभी प्रमुख रागों के आरम्भ में मूलमन्त्र का प्रयोग हुआ है । इस रूप में आदि ग्रन्थ में यह तेतीस बार प्रयुक्त हुआ है ।
2. साचा साहिब एकु तू·····। - श्रीराग म॰1, पदे॰ गु॰ना॰र॰ 26

तो उन का मूल्य कुछ भी नहीं रह जाता, सभी असत् हो जाते हैं । इस तरह एक ईश्वर ही सत् है शेष सब कुछ उसी का विस्तार है ।[1]

मूलमन्त्र के अतिरिक्त गुरु नानक वाणी में और भी अनेकों स्थलों पर ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन हुआ है । इस संसार में जितने भी रूप दिखाई पड़ते हैं, वे उसी का रूप हैं; उस से भिन्न दूसरा कोई नहीं है । वह ब्रह्म एक और केवल एक है[2] तथा युगों-युगान्तरों से एक ही वेश वाला है ।[3] दिन का सूर्य और रात्रि के चाँद-तारे लुप्त हो जाते हैं । परन्तु वह एक ऐसी सत्ता है जो सदैव स्थिर रहती है ।[4] उस एक ब्रह्म के बिना पीर, शैख, राय, बादशाह, देव, दानव, मनुष्य, सिद्ध, साधक, न्याय करने वाले न्यायाधीश, सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, सातों द्वीप, जल, अग्नि, पवन,

---

1. सचा साहिबु एकु तूं जिनि सचो सचु वरताइआ ।। - आस॰म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 286

2. §1§ जेता सबदु सुरति धुनि तेती जेता रूप काइआ तेरी ।।
तूं आपे रसना आपे बसना अवरु न दूजा कहउ माई ।।
साहिब मेरा एको है ।। एको है भाई एको है । आसा म॰१, पदे,
§2§ आपे पटी कलम आपि उपरि लेख भि तू ।। गु॰ना॰र॰196
एको कहीऐ नानका दूजा काहे कू ।।
-मलार म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 742

§3§ एको लेवै एको देवै अवरु न दूजा मैं सुणिआ ।। आसा म॰१, पटी, गु॰ना॰र॰ 262

§4§ इकसु बाझहु दूजा को नही किसु अगै करहि पुकारा ।।
- माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ ।।0

§5§ सरब जीआ महि एको जाणै ता हउमै कहै न कोई ।।
-आसा म॰१, आ॰ग्र॰432

§6§ सगल रूप वरन मन माही ।। कहु नानक एको सालाही ।। गउड़ी म॰१, आ॰ग्र॰ 223

§7§ साहिबु मेरा एकु है अवरु नहीं भाई ।। आसा म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰254

3. आदि अनीलु अनादि अनाहतु जुगु जुगु एको वेसु ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰16

4. दिन रवि चले निसि ससि चले तारिका लाख पलोइ ।।
मुकामु ओही एकु है नानका सचु बुगोइ ।। -सिरीराग म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 88

अन्न, पक्षी तथा वृक्षादि जो कुछ भी इस जगत् में दिखाई पड़ता है वह नश्वर है, एक ब्रह्म ही सदा रहने वाला है।[1] जो इस एक को पहचान लेता है वह उसके दरबार में सम्मानित होता है।[2] इस सम्पूर्ण सृष्टि में बाहर-भीतर एक मात्र ब्रह्म ही है दूसरा कोई नहीं है।[3] एक के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए गुरु नानक कहते हैं कि जो मनुष्य एक ब्रह्म की आराधना करता है एवं द्वैत को त्याग देता है वह परमात्मा में तादात्म्य स्थापित कर लेता है।[4] गुरु नानक वाणी में एक "।" के महत्त्व को स्थापित करते हुए डा॰ जयराम मिश्र कहते हैं कि वास्तव में इस एक का बहुत बड़ा महत्त्व है। सांख्यवादियों का द्वैत सिद्धान्त, प्रकृति-पुरुष, गुरुओं को मान्य नहीं है। वह परमात्मा प्रकृति से सर्वथा परे है। वह सर्वव्यापी, अव्यक्त और अमृत तत्त्व है। वही "।" चर एवं अचर सृष्टि का मूल है।[5] वह एक अगम एवं अगोचर है।[6]

वेदों में भी ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन हुआ है। ऋग्वेद में उसे एक और अद्वितीय माना गया है।[7] वही सभी देवताओं के ऊपर एक देव है।[8] अथर्ववेद में भी बताया गया है कि वह दूसरा, तीसरा, चौथा·····दसवाँ आदि नहीं है, वह तो एक है।[9] यह स्पष्ट दिखाई पड़ने वाला जगत् उसी

---

1. माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ ।।8, श्लोक 24 से 28
2. हरि दरगह मानु सोई जनु पावै जो नरु एकु पछाणे। आसा म॰१, छंत, गु॰ना॰र॰ 270
3. जहाँ नदरि करे जा देखा दूजा कोई नाही।
   एको रवि रहिआ सभ थाई एक वसिआ मन माही ।।
   -आसा म॰१, पटी, गु॰ना॰र॰ 262
4. एकंकारु अवरु नहीं दूजा नानक एक समाई ।। रामकली म॰१, ओअंकार, गु॰ना॰र॰ 474
5. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, डा॰ जयराम मिश्र, पृ॰ 62
6. अगम अगोचरु अनाथु अजोनी गुरमति एकै जानिआ। सारंग म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 682
7. ऋ॰ 10॰ 81॰3
8. यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् ।। ऋ॰ 10॰121॰8
9. अथर्व॰ 13॰4॰16-20

का रूप है तथा यह सारा मिलकर फिर एक ही है ।[1] यजुर्वेद में भी सभी प्राणियों का स्वामी एक ही माना गया है[2] किन्तु एक होने पर भी विद्वान् लोग उसे प्रकरणानुसार भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं ।[3] वस्तुत: ब्रह्म एक ही है परन्तु विद्वान् लोग उसकी अनेक प्रकार से कल्पना कर लेते हैं ।[4] यजुर्वेद में ऐसा माना गया है कि एक ही ब्रह्म बहुधा प्रतिभासित होता है ।[5]

उपनिषदों में ब्रह्म के एकत्व पर अत्यधिक बल दिया गया है ।[6] सभी उपनिषदें एक स्वर में कहती हैं कि एक ही देव सभी प्राणियों में छिपा हुआ है ।[7] वह अद्वितीय है और सभी प्राणियों को वश में रखने वाला है । वह एक ही रूप को बहुत प्रकार से बना लेता है ।[8] फिर भी उसको एकत्व से ही जानना चाहिए ।[9]

ओंकार-मूलमन्त्र का दूसरा शब्द ओंकार है । यह शब्द ओम् के साथ "कार" के संयोग से बनता है । व्याकरण की दृष्टि से ओम् शब्द √अव - "रक्षणे" धातु से कर्त्ता अर्थ में मन प्रत्यय करके बनता है जिसका अर्थ है रक्षा करने वाला । चूँकि ब्रह्म ही सभी की रक्षा करता है, इसलिए ओम् शब्द ब्रह्म का वाचक है ।

---

1. यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत् ।
   तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ।। अथर्व॰10॰8॰11
2. यजु॰ 25॰11
3. ऋ॰ 1॰164॰46
4. ऋ॰ 10॰114॰5
5. यजु॰ 31॰9; 32॰1
6. छान्दो॰ 4॰3॰6
7. एको देव: सर्वभूतेषु गूढ: ।। श्वेता॰ 6॰11
8. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा य: करोति ।। कठो॰2॰2॰12
   तुलना - श्वेता॰ 6॰12
9. एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ।। बृहद॰ 4॰4॰20

अमर कोश में ओम् के तीन अर्थ बताए गए हैं ।[1] जिन में से तृतीय अर्थ "परमम्" अर्थात् ब्रह्म यहाँ पर अभिप्रेत है, तथा इसी अर्थ में गुरु नानक वाणी में इसका प्रयोग हुआ है । उपनिषदों में भी ओम् का प्रयोग ब्रह्म के अर्थ में हुआ है ।[2] तैत्तिरीयोपनिषद् में बताया गया है कि ओम्[3] ही ब्रह्म है । इस

---

1. ओमेवं परमं मते ।। 516 ॥
2. ब्रह्म के साथ-साथ उपनिषदों में ओम् का प्रयोग अनुमति या अनुज्ञा के अर्थ में भी हुआ है : ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति।। - तै॰उ॰ 1॰8
3. वैदिक साहित्य में ओम् के दो रूप मिलते हैं, ओम् तथा ॐ । शुरू-शुरू में इसे एकाक्षर मानकर केवल ब्रह्म का वाचक माना जाता था परन्तु परवर्ती उपनिषदों में इसे तीन वर्णों (अ,उ,म्) का समूह मान कर इन से क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का भाव लिया जाने लगा । (प्रणवोपनिषद् - 4,5,6) गुरु नानक वाणी में इसे केवल ब्रह्म का वाचक माना जाता है तथा शंकाओं की निवृत्ति के लिए इसके साथ कार लगा कर इसे केवल ब्रह्म का वाचक माना गया है । ओम् के साथ "कार" लगाने का यही प्रमुख कारण है । जिस प्रकार अ के साथ कार लगाने से अ (अकार) केवल ह्रस्व "अ" का ही बोध करवाता है आ का नहीं उसी प्रकार ओम् के साथ कार लगाने से वह केवल ओम् (ब्रह्म) का बोध करवाता है । ੴ (एक ओंकार) के विषय में यह भी शंका हो सकती है कि यह तो "1" अंक के साथ (उड़ा या ओ) लिखा गया है; तो फिर इसका ओंकार उच्चारण क्यों किया जाए। राधास्वामीमतावलम्बी भी ੴ को "एक ओ" बोलते हैं, परन्तु गुरु नानक वाणी में इस का उच्चारण ओअंकार माना गया है (द्रष्टव्य, रामकली म॰1, दखणी ओअंकार, गु॰ना॰र॰ 472) इस बात का साक्ष्य हमें भाई गुरदास की वारों से भी प्राप्त हो जाता है । भाई गुरदास भी ੴ को ओंकार मानते हैं । यथा-एकंकार इकांग लिख उड़ा ओअंकार लखाइआ । वार 3॰1

एका एकंकार लिख देखालिआ ।
उड़ा ओंकार पास बहालिआ ।। वार॰ 3॰15

इस का यही उच्चारण (ओंकार) उपनिषदों में भी माना गया है । छान्दो॰ 2॰23॰2

जगत् में जो कुछ भी विद्यमान है, वह ओम् ही है।[1] माण्डूक्योपनिषद् में भी अविनाशी ब्रह्म को ओम् कहा गया है। यह दृश्यमान जगत, भूत, वर्तमान और भविष्यत् सब कुछ ओम् ही है या ओम् का ही व्याख्यान है।[2]

गुरु नानक वाणी में ओंकार और एकंकार का एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। परमात्मा ओंकार स्वरूप है। ओंकार परमात्मा का रूप एवं प्रतीक है। सम्पूर्ण जगत् की रचना ओंकार से होती है।[3] ओंकार इस जगत् में व्याप्त है, उसके बिना और कोई नहीं है।[4] ओम् शब्द ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुआ था। निरमल एवं निरंजन यह शब्द अनादि स्वरूप है। क्योंकि जब भी सृष्टि की उत्पत्ति होती है आदि काल में यही शब्द होता है। यह ओम् शब्द "अ, उ, म्" इन अंगों से रहित है (अनंगी है)। जो इस अद्वितीय को मन में धारण कर लेता है तथा इस का जाप करता है उसका अहंकार दूर हो जाता है तथा वह निर्विकल्पक पद को प्राप्त करता है।[5] इस प्रकार गुरु नानक वाणी में ओंकार से भाव उसी अद्वितीय ब्रह्म से है जो अमर, अयोनि एवं निर्मल है। न उसकी कोई जाति है न उसे किसी प्रकार का कोई बन्धन है।[6] इस प्रकार

---

1. ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्॥ - तै॰उ॰ 1॰8
2. ओमित्येदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं, भूतं, भवत्, भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव॥ -माण्डू॰।
3. रामकली म॰1, दखणी, गु॰ना॰र॰ 472
   तिस का कीआ त्रिभवण सारु॥ ओह अगमु अगोचरु एकंकारु॥
   -बसंत म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰ 666
4. एकंकार अवरु नही दूजा नानक एक समाई॥ रामकली म॰1, आ॰ग्र॰930
   जह देखउ तह एकंकार॥ गउड़ी म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰ 180
5. आदि निरंजन निरमल सोई। अवरु न जाणा दूजा कोई॥
   एकंकारु वसै मनि भावै हउमै गरबु गवाइदा॥ मारु म॰1, आ॰ग्र॰1034
   ओअं आदि रूपे अनादी सरूपे।
   अनंगी अनामे त्रिभंगी त्रिकामे॥ जापु साहिब-128
6. एकम एकंकारु निराला। अमरु अजोनी जाति न जाला॥ बिलावल म॰1, थिती, गु॰ना॰र॰ 432
   तूं एकंकारु निरालमु राजा॥ मारु म॰1, आ॰ग्र॰ 1034

गुरु नानक वाणी के अनुसार ओंकार से अभिप्राय केवल एक ब्रह्म से है, ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश से नहीं । क्योंकि ये तीनों तो उसके आदेशानुसारी हैं ।[1] ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दस अवतार तथा अन्य सभी देव उसी की उपज हैं ।[2] यह देवता लोग तो उसके द्वार पर खड़े होकर उस अलक्ष्य एवं अपार की सेवा करते हैं ।[3] अत: ओंकार से इन का अर्थ नहीं लिया जा सकता, ओंकार से केवल ब्रह्म अर्थ ही अभिप्रेत है ।

उपनिषदों में ओम् तथा ओंकार, दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है तथा इसे ब्रह्म का वाचक एवं अक्षर माना गया है ।[4] इसे ही सर्वोत्तम आलम्बन माना गया है ।[5] सारी सृष्टि तथा सम्पूर्ण वाणी ओंकार से इस प्रकार अनुविद्ध है जिस प्रकार पर्णनाल से सारे पत्ते बन्धे रहते हैं ।[6] इस ओंकार का अवलम्बन लेकर ही विवेकशील साधक सर्वश्रेष्ठ पद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ।[7]

---

1. जपुजी, पउड़ी 30, गु॰ना॰र॰ 18
2. तृतिआ ब्रह्मा बिसनु महेसा । देवी देव उपाए वेसा ।।
   जोती जाती गणत न आवै । जिनि साजी सो कीमति पावै ।।
   - बिलावल म॰1, थिती, गु॰ना॰र॰ 432
   हुकमि उपाए दस अवतारा । देव दानव अगणत अपारा ।। मारू म॰1, सो॰गु॰ना॰र॰ 606
   ब्रह्मा बिसनु महेसु देव उपाइआ । ब्रह्मे दिते बेद पूजा लाइआ ।।
   दस अवतारी रामु राजा आइआ । दैता मारे धाइ हुकमि सबाइआ ।।
   -मलार म॰1, वार, गु॰ना॰र॰716
3. ब्रह्मा बिसन महेसु दुआरै । उभे सेवहि अलख अपारै ।।
   होर केती दीसै बिललादी मै गणत न आवै काई है ।। मारू म॰1, सो॰ गु॰ना॰र॰ 574
4. माण्डु॰1; कठो॰ 1॰2॰16; छान्दो॰ 1॰1॰1, गीता॰ 8॰13
5. कठो॰ 1॰2॰17
6. तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि, एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा । ओंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम् ।। -छान्दो॰ 2॰23॰2
7. प्रश्नो॰ 5॰7

सतिनामु -

जो सत्ता सदा एक रस रहती है, जिस सत्ता का कभी नाश नहीं होता, उस अविनाशी एवं एक रस सत्ता को सत् कहते हैं । सांसारिक पदार्थों की क्षण भंगुरता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि ऐसी सत् सत्ता केवल ब्रह्म ही है । इस लिए उसका नाम सत् कहा गया है क्योंकि वह ही एक मात्र सत् तथा चिरस्थायी सत्ता है । वह युगों युगान्तरों तक एक समान रहता है, उस में किसी तरह का परिवर्तन एवं अवस्थादिकृत दोष नहीं आता ।[1] वह जैसा युगों के आदि में था, वैसा ही अब है तथा उसी प्रकार का भविष्य में भी रहेगा ।[2] "नाम" संज्ञा को कहते हैं । अतः "सतिनामु" का अर्थ होगा सत् नाम वाला । वह ब्रह्म स्वयं सत् है तथा उसका नाम भी सत् है ।[3]

गुरु नानक देव का ब्रह्म को सत् कहना परम्परा के अनुरूप है । वैदिक साहित्य में भी ब्रह्म को सत् माना गया है तथा इसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की गई है । ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से ब्रह्म के लिए सत् शब्द का प्रयोग हुआ है ।[4] वह सत् ही पृथ्वी को धारण करता है ।[5] छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म को सत् माना गया है । वहाँ उल्लेख है कि सृष्टि रचना से पूर्व एक मात्र अद्वितीय सत् ही था ।[6] सर्वसारोपनिषद् में भी बताया गया है कि देश, काल, वस्तु आदि

---

1. आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु ।। जपुजी, गु॰ना॰र॰18
2. आदि सचु जुगादि सचु ।। है भी सचु नानक होसी भी सचु ।।
   -जपुजी, गु॰ना॰र॰ 2
3. साचा साहिबु सचु नाइ भाखिआ भाउ अपारु । -जपुजी, गु॰ना॰र॰4
   सोई सोई सदा सचु साहिबु साचा साची नाई ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰16
4. ऋ॰ 1॰164॰46
5. अथर्व॰ 12॰1॰1
6. सदेव सोम्य । इदमग्रे आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।। छान्दो॰ 6॰2॰1

निमित्तों के होने पर भी जिस में कोई परिवर्तन नहीं आता उसी को परमात्मा कहते हैं ।[1] तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को सत्य कहा गया है ।[2]

गुरु नानक वाणी में इस बात का भी उल्लेख है कि यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म का ही नाम है । ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ पर उसका नाम न हो ।[3] गुरु नानक सत् पुरुष के स्थान को भी सत्य मानते हैं ।[4] अतः वह ब्रह्म स्वयं सत् है तथा उसका नाम भी सत् है । इसी लिए गुरु अर्जुन देव "सतिनामु" को ही परमात्मा का वास्तविक नाम मानते हैं । उसके गुणों एवं कर्मों पर आधारित उसके शेष सभी नाम कृत्रिम एवं काल्पनिक हैं ।[5]

सत् की वास्तविकता को समझने के लिए उसके नकारात्मक पक्ष को देखना भी आवश्यक प्रतीत होता है । गुरु नानक वाणी में जहाँ ब्रह्म को सत् माना गया है, वहाँ इस जगत् को असत् माना गया है । परन्तु इसका यह भाव नहीं है कि जगत् की कोई सत्ता ही नहीं है । जगत् की सत्ता तो अवश्य है परन्तु यह परिवर्तनशील है । सत् वही होता है जो सदैव एक समान रहता है तथा अनादि है । जो पदार्थ उत्पन्न हुआ है वह एक न एक दिन अवश्य नष्ट हो जाएगा।[6] जो वस्तु एक है तथा देश, काल, एवं कारण के अधीन नहीं है वही सत् कही जा सकती है । परन्तु यह संसार तथा इसकी सभी वस्तुएँ पैदा होती हैं, बढ़ती हैं और

---

1. देशकालवस्तुनिमित्तेष्वव्यभिचारी तत्पदार्थः परमात्मेत्युच्यते ।
   - सर्वसारोपनिषद्-13
2. सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।। -तै॰उ॰ 2॰1॰1
3. जेता कीता तेता नाउ ।। विणु नावै नाही को थाउ ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰ 10
   चहु दिसि हुकमु वरतै प्रभ तेरा चहु दिसि नामु पतालं ।।
   - मलार म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰ 712
4. सचो सचा आखीऐ सचे सचा थानु ।। सिरीराग म॰1, गु॰ना॰र॰62
5. किरतम नाम कथे तेरे जिह्वा सतिनामु तेरा परा पूरबला ।।
   -मारु म॰5, आ॰ग्र॰ 1083
6. जो उपजै से आवै जाइ ।। नानक अथिर नाम रजाइ ।। -आसा म॰1, आ॰ग्र॰ 352
*. तुलना - जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु·····।।
   -गीता॰ 2॰27

अन्त को नष्ट हो जाती हैं । इस जगत् में जितने भी प्राणी एवं पदार्थ हैं, राजा, महाराजा, देव, दानव, सूर्य, चान्द, सभी नश्वर हैं ।[1] वह ब्रह्म एवं उसका नाम ही सत् है । अतः मनुष्य को उसी की याचना करनी चाहिए ।[2]

करता (कर्त्ता) -

ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए मूल मन्त्र में ब्रह्म को सृष्टि का कर्त्ता तथा विश्व के सभी आकारों का निर्माता स्वीकार किया गया है । कर्त्ता कह कर यह भाव व्यक्त किया गया है कि ब्रह्म ही इस जगत् की सृष्टि करने वाला है, वही पालन करता है और वही सृष्टि का संहारक है । वह ब्रह्म इस चराचर जगत् को उत्पन्न करके जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों के फल को प्रदान कराने के लिए अनेक प्रकार के साधनों तथा उपभोग्य पदार्थों की रचना करता है।[3]

वेदों में भी ब्रह्म को कर्त्ता माना गया है तथा द्यावापृथ्वी एवं अन्तरिक्ष सहित सभी पदार्थों की सृष्टि ब्रह्म से ही मानी गई है ।[4]

---

1. न देव दानव नरा ।। न सिध साधिक धरा ।।
. . . . . .
असति एकु दिगरि कुई । एकु तुई एकु तुई ॥ 38 ॥ माझ म॰१, वार, श्लोक 24 से 28
नानक दुनीआ चारि दिहाड़े सुखि कीते दुखु होई ।। मलार म॰१,वार, गु॰ना॰र॰ 728
दुनीआ मुकामे फानी तहकीक दिल दानी ।। तिलंग म॰१, पदे,गु॰नार॰384
दिन रवि चले निसि सासि चले तारिका लख पलोइ ।
मुकामु ओही एकु है नानका सचु बुगोइ ।। सिरीराग म॰१,अस॰गु॰ना॰र॰88
कूड़ राजा कूड़ परजा कूड़ सभु संसारु ।।·····
·····।। किसु नालि कीचै दोसती सभु जगु चलणहारु ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 288
2. मै किआ मागउ किछु थिरु न रहाई हरि दीजै नामु पिआरी जीउ ।। -सोरठ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰350
3. याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।। ईशो॰ 8
4. ब्रह्मणा भूमिर्विहिता, ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ।। -अथर्व॰ 10·2·25

तैत्तिरीयोपनिषद् में बताया गया है कि जो इन प्राणियों का सृजन करता है, जिस में वे जीवन प्राप्त करते हैं और यहाँ से जाते हुए जिसमें प्रवेश पाते हैं वही ब्रह्म है ।[1] भाव यह है कि इस जगत् की सृष्टि, पालन एवं संहार करने वाला ब्रह्म है । "ब्रह्मसूत्रों" पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि इस जगत् का जन्म, स्थिति एवं नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होता है, वह ब्रह्म है ।[2] मुण्डकोपनिषद् के एक मन्त्र में ब्रह्म की कर्तृत्व शक्ति का प्रतिपादन करते हुए बताया गया है कि वह दिव्य प्रकाश स्वरूप पुरुष ही इस जगत् का कर्त्ता एवं शासक है ।[3]

पुरुष (पुरुष)

ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता कहने से इस बात की शंका होती है कि इस का मूलकारण कोई दूसरा पदार्थ है जिस से ब्रह्म इस जगत् की रचना करता है । इस शंका की निवृत्ति के लिए कर्त्ता शब्द के आगे पुरुष कहा गया है । वह ब्रह्म इस जगत् रूपी पुरी में पूर्ण-रूपेण व्याप्त है, यही पुरुष शब्द का अर्थ है ।

निरुक्त में यास्काचार्य ने पुरुष की व्युत्पत्ति करते हुए बताया है, कि जो इस पुर (शरीर) में बैठने वाला, पुर में शयन करने वाला है, वह पुरुष है । यास्क ने पुरुष शब्द को पूर्ण अर्थ वाले पूरि धातु से भी निष्पन्न माना है । वह इस चराचर जगत् को अन्दर रहकर पूर्ण करता है, इस लिए उसको पुरुष कहा गया है ।[4] बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार पुर का अर्थ पूर्व या प्रथम है

---

1. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ।। तै॰उ॰ 3॰।
2. अस्य जगतो जन्म स्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणात् भवति तद्ब्रह्मेति । - ब्रह्म सूत्र ।॰।॰2 पर शंकर भाष्य
3. रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।। मुण्ड॰ 3॰।॰3
4. पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयते वा । पूरयति अन्तः इति अन्तर पुरुषमभिप्रेत्य । - निरु॰ 2॰3

तथा औषत का अर्थ है जलाना । क्योंकि उसने सब से पूर्व पापों को जलाया है इसलिए उसे पुरुष कहते हैं ।[1] डा॰ मुन्शीराम शर्मा ने पुरुष शब्द को /पृ- "पूरणे आप्यायने वा" धातु से व्युत्पन्न माना है जिसका अर्थ है साधकों को पूर्ण या आप्यायित करने वाला, तृप्ति एवं शान्ति प्रदान करने वाला, ऐसा वह ब्रह्म ही पुरुष है ।[2]

ऋग्वेद में बताया गया है कि इस चराचर जगत् में जो कुछ हो चुका है, जो वर्तमान में है तथा जो भविष्य में होने वाला है, सब पुरुष ही है, वह ही देवत्व का स्वामी है ।[3] यह सारा ब्रह्माण्ड उसी की महिमा तथा अंश है, परन्तु वह इस से भी बढ़कर है ।[4] अथर्ववेद के अनुसार भी ऊपर-नीचे, अमृत और मर्त्य में सवत्र पुरुष की सृष्टि है, सब दिशाओं में पुरुष ही व्याप्त है । ब्रह्माण्ड रूपी पुरी में शयन करने के कारण ही उसकी पुरुष संज्ञा है ।[5] यजुर्वेद में भी उसे सब दिशाओं में व्याप्त माना गया है । पुरुष सर्वप्रथम प्रकट हुआ, वही गर्भस्थ एवं जन्म लेने वालों में व्याप्त है, वही सभी पदार्थों में व्याप्त है तथा सभी ओर मुख वाला (सर्वद्रष्टा) है ।[6] हृदय रूपी गुफा में स्थित वह पुरुष ही जगत् का एक मात्र आश्रय है । यह जगत् प्रलय-काल में उसी में समा जाता है तथा उत्पत्ति काल में पुनः विस्तार को प्राप्त होता है । वही इस

1॰ स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मात् पुरुषः ।
- बृहद्॰ 1॰4॰1

2॰ वेदार्थ चन्द्रिका, डा॰ मुन्शी राम शर्मा, पृ॰ 32

3॰ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।। -ऋ॰ 10॰90॰2

4॰ ऋ॰ 10॰90॰3

5॰ ऊर्ध्वो नु सृष्टा स्तिर्यङ् नु सृष्टा सर्वा दिशः पुरुष आ बभूव ।
पुरो यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ।। - अथर्व॰ 10॰2॰28

6॰ यजु॰ 32॰4

चराचर जगत् में ताने बाने की तरह ओत-प्रोत है ।[1]

उपनिषदें भी उस पुरुष को सर्वश्रेष्ठ मानती हैं । वही सर्वाधिक सूक्ष्म एवं महान् है । वह अकेला ही वृक्ष की भान्ति आकाश में स्थित है । उसी पुरुष से यह सारा जगत् पूर्ण है ।[2] उसी से व्याप्त है ।[3] हमारे आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, बाएं-दाएं सभी ओर ब्रह्म है ।[4] शरीर रूपी पुरी में शयन करने वाला पुरुष सर्वत्र व्याप्त है । सभी वस्तुएं उसी से भरपूर एवं आच्छादित हैं ।[5]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात हो जाता है कि वेदों में ब्रह्म को सर्वव्यापक माना है तथा उसे कर्त्ता एवं पुरुष कहा है । उसी से जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा विलय माना गया है । परन्तु गुरु नानक देव जी के समय तक यह विचारधारा प्रायः समाप्त हो चुकी थी । भारतीय चिन्तन में इस समय षड्-दर्शन की प्रधानता थी । परन्तु गुरु नानक उस विचारधारा से असहमत थे । उन्होंने वेदों की तरह ब्रह्म को "कर्ता पुरुष" स्वीकार किया ।

योग-दर्शन के अनुसार, क्लेश, कर्म-विपाक एवं आशय (वासना) से रहित पुरुष विशेष ईश्वर है ।[6] परन्तु इन के अनुसार ईश्वर, आत्मा एवं प्रकृति सामयिक हैं ।

---

1. वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवति एकनीड़म् ।
   तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ।।-यजु॰32॰8
2. यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
   वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।।-श्वेता॰3॰9
   पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः ।। -कठो॰1॰3॰11
3. ऋ॰ 10॰125॰3; श्वेता॰ 1॰16; 2॰17; 3॰11; 6॰11
4. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
   अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मै वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।। मुण्ड॰ 2॰2॰11
5. स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः ।
   नैनेनं किञ्चनानावृतं नैनेन किञ्चनासंवृतम् ।। बृहद्॰ 2॰5॰18
6. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टा पुरुष-विशेष ईश्वरः ।। योगदर्शन

सांख्य दर्शन का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं है । उस के मतानुसार प्रकृति सृष्टि का निर्माण करती है, पुरुष तो केवल साक्षी मात्र है । परन्तु गुरु नानक देव जी ने पुरुष को कर्त्ता कहकर सांख्य की जड़ एवं स्त्री वाचक प्रकृति में कर्तृ-शक्ति का खण्डन कर दिया है ।

न्याय-वैशेषिक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है तथा इसे सर्वशक्तिमान् तथा जगत् का प्रथम कर्त्ता कारण मानता है, भौतिक कारण नहीं । उस की यह मान्यता है कि सृष्टि के परमाणु पहले से ही विद्यमान होते हैं, उन्हीं से ईश्वर सृष्टि की रचना करता है । इस तरह वे ब्रह्म को विश्व का वास्तुकार मानते हैं । जिस प्रकार कुम्भकार घट का निर्माता होता है उसी प्रकार ईश्वर भी जगत् का निर्माता है ।

पूर्व मीमांसा में ईश्वर को कर्मफल का वितरक एवं विश्वअस्तित्व का कारण नहीं माना गया । क्योंकि उनकी मान्यता है कि इस विश्व का आदि अन्त कुछ नहीं है । यह जैसा अब है वैसा ही भूतकाल में था तथा उसी तरह का भविष्य में रहेगा । इसका न कभी निर्माण हुआ और न पूर्ण रूपेण विलयन ।

वेदान्त में ब्रह्म तथा ईश्वर को दो अलग शक्तियाँ माना गया है । ब्रह्म सृष्टि नहीं करता। रचनात्मक शक्ति ईश्वर के हाथ में मानी गई है ।

गुरु नानक देव जी के प्रादुर्भाव के समय त्रिमूर्ति को जगत् का कर्त्ता, पालक एवं संहर्त्ता माना जाता था । उस समय ब्रह्मा को जगत् का कर्त्ता, विष्णु को पालक एवं महेश को संहारक माना जाता था । परन्तु गुरु नानक देव जी ने इन्हें ब्रह्म की रचना माना[1] तथा इन्हें उसी की आज्ञानुसार कर्म करने वाले घोषित किया ।[2]

---

1. ब्रह्मा, बिसनु महेस इक मूरति आपे करता कारी ।। रामकली म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 472
2. एका माई जुगति विआई तिनि चेले परवाणु ।।
इकु संसारी इकु भंडारी इकु लाए दीबाणु ।।
जिव तिसु भावै तिवै चलावै जिव होवै फुरमाणु ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰18

गुरु नानक देव जी ने पुरख को ऐसी शक्ति माना है जिसने इस विविध प्रकार की सृष्टि का सृजन किया है।[1] वह भान्ति-भान्ति एवं कई रंगों वाली अपनी सृष्टि को देख कर प्रसन्न होता है।[2] वह परमात्मा अपने आपसे ही अपने को प्रकट करता है तथा अपने से ही अपने नाम को निर्मित करता है।[3] कर्त्ता पुरख ही सृष्टि की रचना के बाद उसकी देखभाल करता है।[4] उसी ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, सरस्वती तथा दूसरे सभी देवताओं का सृजन किया। उसी में इतना सामर्थ्य है कि अपनी शक्ति से जगत् का निर्माण कर सके एवं उस को धारण कर सके।[5]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वह पुरख (ब्रह्म) ही करण-कारण, समर्थ है। सभी जीव-जन्तु, खण्ड-ब्रह्मण्ड, सूर्य एवं चांद-तारे उसी ने बनाए हैं,

---

1. सभ तेरी कुदरति तूं कादिरु करता पाका नाई पाक।
   नानक हुकमै अंदरि वेखै वरतै ताको ताकु ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 278
   तूं करता पुरखु अगंमु है आपि सृसटि उपाती।
   रंग परंग उपारजना बहु बहु विधि भाती।
   तूं जाणहि जिनि उपाईऐ सभु खेलु तुमाती ।। माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰102
   दाता करता आपि तूं तुसि देवहि करहि पसाउ ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 274
   तू करता पुरखु अगंमु है रविआ सभ ठाई ।। मलार म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 742
2. रंगी रंगी भाती करि करि जिनसी माइआ जिनि उपाई ।।
   करि करि वेखै कीता आपणा जिव तिस दी वडिआई ।।
   जपु जी, गु॰ना॰र॰ 16
3. आपीनै आपु साजिओ (उपाजि) रचिओ नाउ ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰274
4. सभि कारण करता करे देखै वारो वार ।। सारंग म॰१, गु॰ना॰र॰690
5. नारद सारद सेवक तेरे ।। त्रिभवण सेवक वडहु वडेरे।
   सभ तेरी कुदरत तू सिरि सिरि दाता सभु तेरो कारण कीना है ।।
   -मारु म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰ 586
   करण कारण समरथु है कहु नानक वीचारि।
   करणु करते वसि है जिनि कलि रखी धारि ।। सलोक सहसकृति म॰१, गु॰ना॰र॰ 774

उसी में ये स्थित हैं तथा अन्त में उसी में लीन हो जाएंगे । इस प्रकार ब्रह्म को "कर्त्ता पुरुष" मानना, निस्सन्देह गुरु नानक की अपने युग के लिए महान् देन थी ।

ब्रह्म को पुरुष कह कर उसके सर्वव्यापकत्व का भी वर्णन किया गया है । ब्रह्म की सर्वव्यापकता का वर्णन गुरु नानक वाणी में अनेक स्थलों पर हुआ है । ऐसा माना गया है कि इस जगत् की रचना करके वह (ब्रह्म) इस में व्याप्त हो गया । अब वह हम से दूर नहीं है, हमारे अन्दर हृदय रूपी गुफा में निवास करता है । इसके अतिरिक्त जहां कहीं भी देखो वही व्याप्त है ।[1] सभी जीवों में उसी का निवास है ।[2] सम्पूर्ण जीवों की चार कोटियां मानी जाती हैं; अण्डज, जरायुज (जेरज), उद्भिज और स्वेदज । वह प्रभु इन सभी में व्याप्त है ।[3] जल में, स्थल में, आकाश में, यहां-वहां सर्वत्र वही है ।[4] सब जगह उसी की ज्योति व्याप्त है ।[5] अन्दर-बाहर सर्वत्र वही है परन्तु माया

---

1. साचउ दूरि न जाणीऐ अंतरि है सोई ।।
जह देखा तह रवि रहे किनि कीमत होई ।। आसा म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰254
घट घट अंतरि ब्रहमु लुकाइआ घटि घटि जोति सबाई ।। सोरठ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 348

2. सरब जीआ महि एको रवै ।। गउड़ी म॰१, अस॰गु॰ना॰र॰180

3. अंडज जेरज उतभुज सेतज तेरे कीते जंता ।
एकु पुरबु मै तेरा देखिआ तू सभना माहि रवंता ।। सोरठ म॰१, गु॰ना॰र॰ 348
मनि तनि रवि रहिआ जग जीवनु गुर सबदी रंगु माणी ।।
अंडज जेरज सेतज उतभुज घटि घटि जोति समाणी ।। तुखारी म॰१, गु॰ना॰र॰632

4. जलि थलि महीअलि भरिपुरि लीणा आपे सरब समाणा ।। सोरठ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰346
जलि थलि महीअलि भरिपुरि लीणा घटि घटि जोति तुम्हारी ।। -बिलवल म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰426
जेते जीअ जंत जति थति महीअलि जत्र कत्र तू सरब जीआ ।। भैरउ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 650
तूं जलि थति महीअलि भरिपुरि लीणा तू आपे सरब समाणा ।। - सूही म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰398

5. जह जह देखा तह जोति तुमारी तेरा रूप किनेहा ।। सोरठ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 346
सभ महि जोति जोति है सोइ ।। धनासरी म॰१, आरती, गु॰ना॰र॰372

के मोह में फँसा हुआ प्राणी उसे देख नहीं पाता ।[1] वस्तुत: बाहर-भीतर एवं घट-घट में वही व्याप्त है ।[2]

वेदों में भी अनेक स्थलों पर ब्रह्म की सर्वव्यापकता का चित्रण हुआ है । ऋग्वेद के पुरुष सूक्त[3] में ब्रह्म को सर्वव्यापक माना गया है । इस संसार में तो वह व्याप्त है ही, द्युलोक में भी वही व्याप्त है । सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके भी वह शेष रह जाता है ।

यजुर्वेद में बताया गया है कि वह ब्रह्म जल, स्थल, नदी और टापुओं में[4] एवं वृक्ष, तृणवल्ली, ध्वनि, प्रतिध्वनि तथा सभी जीवों में व्याप्त है ।[5] जगत् में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, वह ब्रह्म ही है; अग्नि आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, जल, प्रजापति में तथा शेष सभी स्थलों में व्याप्त है ।[6] वही सभी दिशाओं एवं पदार्थों में विद्यमान है ।[7] सभी ओर उसी की ज्योति है ;[8] तथा सभी ओर मुख किए हुए वह सभी के अन्दर

---

1. अंतरि बाहरि पुरखु निरंजनु आदि पुरख आदेसो ।
   घटि घटि अंतरि सरब निरंतरि रवि रहिआ सचु वेसो ।।
   - भैरउ म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰ 648
   अंतरि बाहरि एको जानिआ नानक अवरु न दूजा ।।
   -भैरउ म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰ 648
2. जह भीतरि घट भीतरि बसिआ बाहरि काहे नाही ।।
   -रामकली म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰ 446
3. ऋ॰ 10॰90
4. यजु॰ 16॰31
5. यजु॰ 16॰34
6. नदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा: ।
   तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आप: स प्रजापति:।। यजु॰ 32॰1
7. यजु॰ 32॰4
8. यजु॰ 5॰35

है ।[1] अधिक क्या इस जगत् में जो भी जंगम, स्थावर है सब उसी से ओत-प्रोत है ।[2]

ब्रह्म की सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए अथर्ववेद में बताया गया है कि एक ही ज्योति विभिन्न प्रकार से चमक रही है ।[3] वह परमात्मा भूमि पर, द्यौ में तथा जल की छोटी सी छोटी ~~से~~ बूंद में भी व्याप्त है ।[4]

उपनिषद् ग्रन्थों में तो पदे-पदे ब्रह्म को सर्व-व्यापक माना गया है। ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ही बताया गया है कि इस जगत् में जो कुछ भी जंगम अथवा स्थावर है, सभी ब्रह्म से वासित है ।[5] वही सभी के अन्दर विद्यमान है[6] श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया गया है कि वह ब्रह्म अग्नि, जल, अन्न तथा वनस्पतियों में विद्यमान है तथा सकल भुवन को घेर कर उस में प्रविष्ट हुआ है ।[7] मुण्डकोपनिषद् में उल्लेख है कि आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, बाँए-दाँएं, ब्रह्म ही है तथा यह जगत् उसी से परिपूर्ण है[8] तथा दूध में घी की तरह वह सर्वत्र विद्यमान है ।[9] या यूँ कहिए कि यह सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है, उस से

---

1. यजु॰ 23॰4
2. स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ।। यजु॰ 32॰8
3. एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति ।। अथर्व॰ 13॰7॰17
4. अथर्व॰ 4॰16॰3
5. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । ईशो॰1, तथा श्वेता॰6॰11
6. तदन्तरस्य सर्वस्य । ईशो॰5
7. यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
   य ओषधिषु यो वनस्पतिषु, तस्मै देवाय नमो नमः ।। श्वेता॰2॰17
8. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
   अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।। मुण्ड॰2॰2॰11
   लगभग इसी तरह का मन्त्र छान्दो॰ 7॰25॰1 में भी है ।
9. सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।। श्वेता॰ 1॰16
   तुलना - सगल बनसपति महि बैसतंरु सगल दूध महि घीआ ।
   उच नीच महि जोति समाणी घटि घटि माधउ जीआ ।।
   - सोरठ म॰5, आ॰ग्र॰ 617

भिन्न कुछ भी नहीं है ।[1] इसके अतिरिक्त भी वेदों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म को सर्वव्यापक माना गया है ।[2]

ब्रह्म के विषय में ऐसा भी वर्णन आया है कि वह सभी में व्याप्त होता हुआ भी सभी से बाहर है तथा राग एवं द्वेष से रहित है ।[3] इसी प्रकार ईशोपनिषद् में भी बताया गया है कि वह सभी के भीतर है तथा सभी के बाहर भी है ।[4]

निरभउ (निर्भय) -

मूलमन्त्र में ब्रह्म के विशेषण के रूप में "निरभउ" शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है भय-रहित । ब्रह्म को किसी प्रकार का कोई भय नहीं । भय सदैव दूसरे से होता है जो बल में अपने से अधिक हो, परन्तु जो सर्वशक्तिमान् हो, जिसके समान दूसरा कोई न हो वह सदैव भयातीत रहता है । वेदों में बताया गया है कि उस ब्रह्म या प्रजापति के अलावा दूसरा कोई भी इस जगत् पर शासन नहीं कर सकता[5] और न ही इस (ब्रह्म) के सदृश कोई दूसरा है ।[6] जिसके समान कोई दूसरा नहीं, उससे बढ़कर कैसे होगा । उसी की शक्ति सर्वाधिक है तथा अनेक प्रकार की है । यह शक्ति, ज्ञान और बल की है जो उस में स्वाभाविक है ।[7] दुनियां में उसका न कोई स्वामी है न ईश्वर । वह सभी का कारण तथा इन्द्रियों के पति (जीवात्मा) का भी पति है । न कोई उसको

---

1. सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।। निरालम्ब उप॰9
2. ऋ॰ 10॰27॰9; यजु॰ 32॰5; 32॰11; कठो॰ 2॰3॰17; मुण्ड॰2॰1॰7; श्वेता॰ 3॰13; 3॰9; बृहद्॰ 2॰5॰18; छान्दो॰4॰3॰6; मन्त्रिक उप॰19
3. देखै बूझै सभ किछु जाणै अंतरि बाहरि रवि रहिआ ।। आसा म॰1, पटी, गु॰ना॰र॰ 264
4. तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।। ईशो॰5
5. प्रजापते न त्वादेतान्यन्योविश्वा जातानि परिता बभूव ।। -ऋ॰10॰121॰10
6. सत्यमद्धा न किरन्यस्त्वान् ।। ऋ॰ 1॰52॰13
   न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः ।। यजु॰ 32॰3
7. न तस्य कार्यं कारणं ····ज्ञानबलक्रिया च ।। श्वेता॰ 6॰8

उत्पन्न करने वाला है न अधिपति ।[1] इस प्रकार जो सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिपति तथा ईश्वर है उसको भय कहाँ से आ सकता है । इसी लिए ऋग्वेद में उसे "अभयं ज्योतिः" कहा गया है[2] तथा अथर्ववेद में "अभयंकरः" कहा है ।[3] बृहदारण्यको-पनिषद् में भी ब्रह्म को अभय (निर्भय) कहा गया है, जो उसको जान लेता है वह भी भय-मुक्त हो जाता है ।[4] कठ[5] तथा सुबाल[6] उपनिषद् में भी ब्रह्म को अभय माना गया है ।

मूल मन्त्र के अतिरिक्त भी गुरु नानक वाणी में ब्रह्म को निर्भय कहा गया है ।[7] वह ब्रह्म निर्भय, निरंकार एवं निर्वैर है जिसकी ज्योति सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है ।[8] गुरु नानक देव के अनुसार उस "कर्त्ता पुरुष" को किसी का भय नहीं है जिसने सारे जगत् की रचना की है ।[9] गुरु नानक वाणी में ऐसा भी उल्लेख है कि जो उसके भय में रहता है वह उस निर्भय को प्राप्त कर लेता है ।[10]

---

1. न तस्य कश्चित् पतिरस्ति····। - श्वेता· 6·9
2. ऋ· 2·27·4
3. अथर्व· 1·21·1
4. बृहद्· 4·4·25
5. अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ।। कठो· 1·3·2
6. अजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ।। सुबालोपनिषद्· खण्ड 5
7. बैसि गुफा महि आखंड कैसा ।। सागरि डूगरि निरभउ ऐसा ।।
   -गउड़ी म·1, अस· गु·ना·र· 158
   तुम गावहु मेरे निरभउ का सोहेला ।। गउड़ी म·1, पदे, गु·ना·र·154
   निरभउ सतिगुरु है रखवाला ।। मारू म·1, सो· गु·ना·र· 616
8. निरभउ निरंकारु निरवैरु पूरन जोति समाई ।। सोरठ·म·1, पदे, गु·ना·र·346
9. एके कउ नाही भउ कोइ । करता करे करावै सोइ ।। बिलावल म·1, आ·ग्र·787
   निरभउ निरंकार सचु नामु । जा का कीआ सगलु जहानु ।। आसा म·1, वार, गु·ना·र· 280
10. भै विचि निरभउ पाइआ ।। सोरठ म·1, पदे, गु·ना·र·354
    भै ते निरभउ पाइआ जिसका अंत ना पारावार ।।
    - मलार म·1, वार, आ·ग्र· 1288

इस प्रकार केवल वह ब्रह्म ही भयातीत है,[1] शेष सभी देवी-देवता एवं अवतार उस के समक्ष धूलि सदृश हैं ।[1]

गुरु नानक वाणी में परमात्मा को केवल भय-रहित ही नहीं माना गया, प्रत्युत उसका भय सर्वोपरि माना गया है । इसके भय में सैंकड़ों ध्वनियां उत्पन्न करने वाली पवन बहती है, लाखों नद प्रवाहित होते हैं, अग्नि बेगार करती है तथा धरती भार तले दबी रहती है । ये सभी उसकी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते । उसी के भय से इन्द्र अपने सिर पर वर्षा का भार वहन करता है, धर्मराज अपने कार्य में रत है, सूर्य-चान्द असीम मार्ग पर करोड़ों कोस चलते हैं फिर भी उनकी यात्रा समाप्त नहीं होती । सिद्ध, बुद्ध, सुर और नाथ भी उसी के भय से अपने कार्यों में लीन हैं । उस निर्भय के भय में ही आकाश तना हुआ है । योद्धा, महाबली एवं शूर-वीर उसी के भय में हैं । इसी के भय में अनेक समूह जन्म ग्रहण करते है और नष्ट होते हैं । इस प्रकार सभी के मस्तक पर परमात्मा का भय लिखा हुआ है ।[3]

परमात्मा से सबके भयभीत होने का उल्लेख वेदों में हुआ है । ऋग्वेद में बताया गया है कि द्यावा-पृथिवी मन से कांपते हुए उस {ब्रह्म} की ओर देखते हैं जिसके अधीन सूर्य उदय होकर चमकता है ।[4] अथर्व-वेद में बताया गया है कि उसकी मर्यादा का कोई उल्लङ्घन नहीं करता ।[5]

---

1. नानक निरभउ निरंकारु सचु एकु ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰278
2. नानक निरभउ निरंकारु होरि केते राम रवाल ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 278
3. भै विचि पवणु वहै सद वाउ ।।
   . . . . . .
   भै विचि आवहि जावहि पूर ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 278
4. यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षतां मनसा रेजमाने ।
   यत्राधिसूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। ऋ॰10॰121॰5
5. यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।
   तदेव मन्येहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ।। अथर्व॰10॰8॰16
   कठो॰ 2॰1॰9; 2॰2॰8; 2॰3॰1; छान्दो॰ 8॰4॰1

गुरुनानक वाणी में प्रतिपादित ब्रह्म के भय का सिद्धान्त कठोपनिषद् के उस मन्त्र से असाधारण साम्य रखता है जिस में यह बताया गया है कि अग्नि और सूर्य उसी के भय में तपते हैं, उसी के भय में इन्द्र, वायु और पांचवां मृत्यु भाग रहा है अर्थात् अपने कार्य में तत्पर है।[1] इसी भाव का एक मन्त्र तैत्तिरीयोपनिषद् में भी पाया जाता है।[2] बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है कि सूर्य, चाँद, द्यौ, पृथ्वी, निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, महीने, ऋतु और वर्ष उसी के भय में अपनी-अपनी मर्यादा में खड़े हैं।[3] इसी के भय में नदियाँ बहती हैं। जो उस को जान लेता है, वह निर्भय हो जाता है।[4]

निर्भय कौन हो सकता है — गुरु नानक वाणी में इस विषय पर भी प्रकाश डाला गया है। जैसे कि पहले बताया गया है कि सभी के मस्तक पर भय का लेख लिखा हुआ है। जिस के मस्तक पर किसी का लिखा हुआ लेख (हुक्म) नहीं है, वही निर्भय है।[5] इस तरह का वह प्रभु स्वयं ही है। निर्भय वही हो सकता है जो सर्वव्यापक हो तथा सभी हृदयों के अन्तर्गत बना हुआ हो।[6]

निरवैर (निर्वैर) -

मूल मन्त्र में "निरभउ" के पश्चात् परमात्मा को "निरवैर" कहा गया है। भाव यह कि उसको किसी से वैर नहीं है या शत्रुता नहीं है। शत्रुता के मूल में

---

1. भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
   भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ।। कठो॰ 2·3·3
2. भीषाऽस्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
   भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।। तै॰उ॰ 2·8
3. बृहद्॰ 3·8·9
4. अजरोऽमरोऽमृतोऽभयं ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।।
   -बृहद्॰ 4·4·25
   तुलना - भै माने निरभउ मेरी माइ ।। बसंत म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰662
5. निरभउ सो सिरि नाही लेखा ।। आपि अलेखु कुदरति है देखा ।।
   -मारु म॰1, सो॰ गु॰ना॰र॰ 616
6. निरभउ सो अभ अंतरि वसिआ ।। अहिनिसि नामि निरंजन रसिआ ।।
   - मारु म॰1, सो, गु॰ना॰र॰ 616

प्राय: बराबरी की भावना काम करती है । यह बात पहले स्पष्ट हो चुकी है कि उससे शक्तिशाली कोई नहीं है, इसीलिए उसे निर्भय कहा गया है । यहाँ यह बताया गया है कि उस के बराबर भी कोई नहीं है ।[1] क्योंकि उसके समान किसी दूसरे ईश्वर की कल्पना नहीं की जा सकती । यह बात "।ओंकार" के वर्णन में सिद्ध हो चुकी है । जब उसके समान ही कोई नहीं है तो वह किसी से वैर नहीं कर सकता । यह सारी सृष्टि, सारी प्रजा उसी की बनाई हुई है तथा उसी की सन्तान है । इसलिए उसे किसी से वैर नहीं हो सकता । गुरु नानक वाणी में अन्यत्र भी उसे निर्वैर बताया गया है ।[2]

अकालमूरति {अकालमूर्ति} -

गुरु नानक देव द्वारा मूलमन्त्र में प्रयुक्त ब्रह्म के स्वरूप-बोधक पदों में अगला पद "अकालमूरति" है । इस का अर्थ यह है कि ब्रह्म एक ऐसी सत्ता है जिसका स्वरूप त्रिकाल-बाधित नहीं । इससे पूर्व ब्रह्म के विषय में बताया गया है कि वह एक है और सदैव एक रस रहता है, सत्य-स्वरूप वाला एवं निर्भय है । ये सभी गुण उसी में घटित हो सकते हैं जो त्रिकाल-बधित न हो । गुरु नानक वाणी में स्पष्ट रूपेण बताया गया है कि वह ब्रह्म भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों कालों में समान रूप से व्याप्त है । वह आदिकाल में सत्य था, युगों के आदि में भी सत्य था, वर्तमान में भी है तथा भविष्यत् में भी सत्य रहेगा ।[3] अर्थात् वह कालादिकृत विकारों से परे है । इस बात को स्पष्ट करते हुए सोरठ राग में बताया गया है कि वह ब्रह्म अलक्ष्य, अपार, अगम्य एवं अगोचर है, काल एवं कर्मों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।[4]

---

1. होरु सरीकु होवे कोई तेरा तिसु अगै तुधु आखां ।। सारंग म॰।, गुरबा॰र॰ 690
   तुलना - न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।।-श्वेता॰6॰8
2. निरभउ निरंकारु निरवैरु पूरन जोति समाई ।। सोरठ म॰।, पदे, गु॰ना॰र॰ 346
3. आदि सचु जुगादि सचु । है भी सचु नानक होसी भी सचु ।।
   -जपु जी, गु॰ना॰र॰ 2
4. अलख अपार अगंम अगोचर न तिसु कालु न करमा ।। सोरठम॰।, पदे, गु॰ना॰र॰ 348
   अकाल मूरति गुरदेवा । सोरठ म॰5, आ॰ग्र॰614
   अकालमूरति जिसु कदे नाही खउ ।। मारु म॰5, सो॰आ॰ग्र॰1082
   अकालमूरति अजोनी संभौ ।। माझ म॰5, आ॰ग्र॰99

"अकालमूरति" का अर्थ करते हुए सोढी तेजा सिंह लिखते हैं कि उस की "मूरति" काल-रहित है, नाश-रहित है तथा समय के प्रभाव से परे है, जिससे वह बच्चा, युवा एवं वृद्ध नहीं होता बल्कि सदैव एक-सा रहता है।[1] "मूरति" का अर्थ सत्ता (होंद being) है। अतः ब्रह्म एक ऐसी सत्ता है जिस पर समय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। केवल अकाल कहने से ऐसा लगने लगता है कि वह कोई वास्तविक सत्ता नहीं है केवल कल्पना ही है। उसे वास्तविक सत्ता दिखाने के लिए "मूरति" पद का प्रयोग किया गया है। प्रो॰ पदम के अनुसार भी ब्रह्म को "अकाल" के साथ "मूरति" कह कर उसके आस्तित्व को निरूपायित किया गया है।[2] "मूरति" को मूर्ति मान कर इसका अर्थ प्रतिमा नहीं किया जा सकता क्योंकि उसकी कोई प्रतिमा नहीं है।[3] वह अमूर्त है, उसका मूर्त रूप असत्य है।[4] उसको न स्थापित किया जा सकता है न निर्मित।[5] क्योंकि वह रूप, रेखा-रहित एवं त्रिगुणातीत है, वह निरंकार है[6] तथा दृश्यमान् एवं अदृश्यमान् किसी भी आकार में नहीं आता। अतः उसकी मूर्ति भी नहीं बनाई जा सकती।

---

1. कथासागर, सोढी तेजा सिंह, पृ॰25
2. गुरु नानक एक विवेचन, गुरचरन सिंह पदम, पृ॰111
3. न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।। यजु॰ 32॰3; श्वेता॰4॰19
4. दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । मुण्ड॰ 2॰1॰2
   द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चाथ ।
   यन्मूर्तं तदसत्यं यदमूर्तं तत्सत्यं तद् ब्रह्म ।। मैत्राण्युपनिषद् 6॰3
5. थापिआ न जाइ कीता न होइ ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰ 4
6. ना तिसु रूप वरनु नहीं रेखिआ ।। सोरठ म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰348
   निरभउ निरंकारु निरवैरु पूरन जोति समाई ।। सोरठ म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰ 346
   हउ पापी पतितु परम पाखंडी तूं निरमलु निरंकारी ।। सोरठ म॰1, गु॰ना॰र॰ 348
   नाउ तेरा निरंकारु है नाइ लइऐ नरकि न जाइऐ ।। आसा म॰1, वार, सा॰ग्र॰ 465

काल के भी दो अर्थ किए जा सक्ते हैं : मृत्यु तथा समय । गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप दोनों प्रकार के काल से रहित है । न उस पर मृत्यु का प्रभाव पड़ता है न समय का । काल (मृत्यु) तो उसका एक ग्रास है ।[1] काल का अन्त है, अकाल का नहीं । न ही काल का प्रभाव अकाल पर पड़ता है । गुरु नानक वाणी में स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्म के सिर पर काल का शासन नहीं है ।[2] इस विषय में डा॰ बी॰बी॰ चौबे का मत है कि गुरु नानक का ब्रह्म को अकाल कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म मानवकृत समय की सीमाओं (Man made time-scales) में नहीं आता । जगत् का प्रथम कारण होने के कारण उस पर किसी भी कारण का प्रभाव नहीं पड़ता ।[3] इसी लिए माण्डूक्योपनिषद् में भी उसे त्रिकालातीत कहा गया है ।[4]

अजूनी (अयोनि) -

गुरु नानक देव ने ब्रह्म की परिकल्पना "अजूनी" अर्थात् योनि रहित कहकर की है । इसका अर्थ यह है कि जो कभी भी जगत् में जन्म नहीं लेता अर्थात् जो अजन्मा है । वैसे योनि शब्द के अनेक अर्थ हैं । ऋग्वेद में योनि शब्द स्थान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[5] योनि का अर्थ जन्मस्थान, उद्गम या जननात्मक कारण आदि भी हैं । इस का अर्थ कारण भी है । ब्रह्म को अयोनि कहकर यह बात स्पष्ट की गई है कि वह ईश्वर सब का कारण है उसका कोई कारण नहीं है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया गया है कि उस ब्रह्म का न कोई कारण है, न स्वामी न शासक तथा नही उसका कोई जनक है; वह सब का

---

1. तू काल विकाल कीए इक ग्रासा । मारु म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰ 608
   तुलना - मृत्यु यस्योपसेचनम् ।। कठो॰ १॰2॰4
2. तू अकाल पुरखु नाही सिरि काला ।
   तू पुरखु अलेखु अगम निराला ।। मारु म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰ 608
3. Journal of Sikh studies, p.25, Vol.VI, No.I, Feb.1979
4. यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्॰कार एव ।। माण्डू॰ ।
5. स आ नो योनिं सदसु प्रेष्ठः । ऋ॰ 7॰97॰4
   योनिः ते इन्द्र निषदे अकारि ।। ऋ॰ १॰104॰1

कारण ही नहीं प्रत्युत समस्त कारणों के अधिष्ठाताओं का भी अधिपति है ।[1] ब्रह्म का वर्णन करते हुए गुरु नानक वाणी में भी बताया गया है कि न उसका माता-पिता है न रूप-रेखा एवं वर्ण है ।[2] भाव यह है कि उसका न कोई आकार है तथा न ही वह कभी जन्म लेता है । यदि वह ब जन्म ले तो अकाल नहीं हो सकता । क्योंकि जो कोई भी जन्म लेता है, उसकी मृत्यु ध्रुव है, ऐसा नियम है ।[3] परन्तु वह ब्रह्म न जन्म लेता है न मरता है । इसी लिए गुरु नानक वाणी में अनेकशः उसे अयोनि कहा गया है तथा इसी परम्परा में गुरु नानक के शेष उत्तराधिकारियों ने भी ब्रह्म को अयोनि कहा है ।[4]

---

1. न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिंगम् ।
   स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।।
   - श्वेता॰ 6॰9

2. न तिसु बापु न माइ किनि तू जाइआ ।
   न तिसु रूप न रेख वरन सबाइआ ।।
   न तिसु भूख पिआस रजा धाइआ ।। मलार म॰1, वार, गु॰ना॰र॰1216

3. जो उपजै सो काल संघारिआ ।। गउड़ी म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰ 176
   तुलना॰ जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु॰॰॰॰। गीता॰ 2॰27

4. अगम अगोचरु अनाथु अजोनी गुरमति एको जानिआ ।।
   -सारंग म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰682
   आपि अतीतु अजोनी संभउ नानक गुरमति सो पाइआ ।।
   - मारु म॰1, सो॰गु॰ना॰र॰ 616
   एकम एकंकारु निराला । अमरु अजोनी जाति न जाला ।। विलावल म॰1, थिती, गु॰ना॰र॰ 432
   सो ब्रहमु अजोनी है भी होनी घट भीतरि देख मुरारी जीउ ।।
   - सोरठ म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰350
   अलख न लखीऐ अगमु अजोनी तू नाथां नाथणहारा ।। मलार म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰ 700
   सुरि नर नाथ बेअंत अजोनी साचै महलि अपारा ।। गूजरी म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰ 312
   पारब्रहमु अजोनी संभउ सरब थान घर बीठा ।। सारंग म॰5, आ॰ग्र॰1212
   सो मुख जलउ जितु कहहि ठाकुरु जोनी ।। भैरउ म॰5, आ॰ग्र॰1136
   आदि रूप अनादि मूरति अजोन पुरख अपार ।। जापु॰ पातसाही 10
   योनि जगत में कबहु न आया ।। यातें सभो अजोनि बताया ।।
   - चौबीस अवतारा, पातसाही 10

ब्रह्म को अयोनि मानकर इसकी व्याख्या करते हुए गुरु नानक देव बताते हैं कि वह प्रभु अलक्ष्य, अपार, अगम्य और अगोचर है । काल, कर्म, जाति एवं अजाति से रहित वह अयोनि एवं स्वयंभू है । वह भाव एवं भ्रम से रहित है । उसका कोई रूप, रंग अथवा चिह्न नहीं है । वह सच्चे शब्द के द्वारा प्रकट होता है । उसके माता, पिता, पुत्र, एवं भाई नहीं हैं; न उसकी स्त्री है तथा न ही उसे काम की इच्छा है । उस निरंजन एवं अपार ब्रह्म का कोई कुल भी नहीं है ।[1]

वेदों में ब्रह्म को अजन्मा माना गया है । ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से उसे "अज" (अजन्मा) कहा गया है ।[2] यजुर्वेद में बताया गया है कि उस अजन्मा परमात्मा की नाभि में सभी प्राणि स्थित हुए आश्रित होते हैं ।[3] वह ब्रह्म स्वयं कभी उत्पन्न नहीं होता । फिर भी जगत् के विविध रूप उस से प्रकट होते हैं ।[4]

सैभं (स्वयंभू, स्वयंभव, स्वयंभा) -

मूलमन्त्र में ब्रह्म के लिए "सैभं" पद का प्रयोग हुआ है । यह शब्द संस्कृत के स्वयंभू या स्वयंभा का तद्भव रूप है । इस के दो अर्थ किए जा सकते हैं । स्वयंभू मानकर इसका अर्थ बनता है कि वह (ब्रह्म) स्वयं होने वाला है, जो अपने अस्तित्व को स्वयं धारण करने वाला है, जिसे किसी अन्य निर्माता की

---

1. अलख अपार, अगम अगोचर ना तिसु कालु न करमा ।।
जाति अजाति अजोनी संभउ न तिसु भाउ न भरमा ।। ....
ना तिसु रूप वरनु नहीरेखिआ साचै सबदि नीसाणु ।।
ना तिसु मात पित सुत बंधप ना तिसु कामु न नारी ।।
अकुल निरंजन अपर परंपरु सगली जोति तुमारी ।। सोरठ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 348

2. शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु ।। -ऋ॰ 7॰35॰13

3. अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।।
-यजु॰ 17॰30

4. अजायमानो बहुधा विजायते ।। यजु॰ 31॰9

आवश्यकता नहीं । मूलमन्त्र के अतिरिक्त भी गुरु नानक वाणी में ब्रह्म को सैभं या संभउ कहा गया है ।[1]

ब्रह्म ने अपने आप ही अपनी रचना की है ।[2] जो सम्पूर्ण जगत् की रचना करने वाला है, जिसने सुर, नर, खण्ड तथा ब्रह्माण्ड बनाए हैं, उस की रचना करने वाला दूसरा कौन हो सकता है । वह स्वयंभू है, उसे कोई अन्य न स्थापित कर सकता है न निर्मित ।[3]

वेदों में भी ब्रह्म को स्वयंभू माना गया है । ऋग्वेद में ब्रह्म के लिए स्वयंभू शब्द प्रयोग नहीं हुआ है । इस का प्रयोग सर्वप्रथम हमें अथर्ववेद में प्राप्त होता है ।[4] वहाँ पर ब्रह्म का वर्णन करते हुए बतलाया गया कि वह कामना से रहित, ज्ञान से पूर्ण, स्वयंभू, अमर, अजर तथा आनन्द से पूर्ण है । उसे जान कर मनुष्य को मृत्यु का भय नहीं रहता ।[5] इसके अतिरिक्त ईशोपनिषद् में भी ब्रह्म को स्वयंभू कहा गया है ।[6]

"सैभं" को यदि स्वयंभा का तद्भव रूप माना जाए तो उसका अर्थ होगा स्वप्रकाश या ज्योति स्वरूप "भा" का अर्थ ज्योति होता है, अत: ज्योति स्वरूप का ही दूसरा पर्याय "भारूप" है । छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म को "भारूप" अर्थात् ज्योतिस्वरूप कहा गया है ।[7] इसी परम्परा में गुरु

---

1. आपि अतीतु अजोनी संभउ नानक गुरमति सो पाइआ ।। मारु म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰ 616
   जाति अजाति अजोनी संभउ····।। सोरठ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰348
   पारब्रह्म अजोनी संभउ····।। सारंग म॰१, आ॰ग्र॰ 1212
2. आपीन्है आपु साजिओ आपीन्है रचिओ नाओ ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰274
   जिन आपीनै आपु साजिआ सचड़ा अलख अपारो ।। बडहंस म॰१, गु॰ना॰र॰ 336
3. थापिआ न जाइ कीता न होइ ।। आपे आपि निरंजनु सोइ ।।
   -जपु जी, गु॰ना॰र॰4
4. अथर्व॰ 4·32·4
5. अकामो धीरो अमृत: स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोन: ।
   तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।। अथर्व॰10·8·44
6. कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू:····।। ईशो॰8
7. भारूप: सत्यसंकल्प:····।। छान्दो॰ 3·14·2

नानक वाणी में भी ब्रह्म को ज्योतिस्वरूप कहा गया है[1] तथा उस की ज्योति को सर्वत्र व्याप्त माना गया है । उसकेप्रकाश से ही सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित है । वह ज्योतिस्वरूप परमात्मा तथा उसकी अखण्ड ज्योति गुरु की शिक्षा द्वारा अन्तरात्मा में प्रकट होती है ।[2] तीनों लोकों में, जलों में, पृथ्वी पर, आकाश में सर्वत्र प्रत्येक घर में उसी की ज्योति व्याप्त है ।[3]

उपनिषदें भी ब्रह्म को ज्योति स्वरूप मानती हैं ।[4] छान्दोग्योपनिषद में उसे "भामनी" कहा गया है क्योंकि वह सभी लोकों में चमकता है ।[5] मुण्डक तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में उसे ज्योतियों की ज्योति कहा गया है ।[6]

उपनिषदों में ब्रह्म को अत्यधिक प्रकाश वाला माना गया है । उसके प्रकाश के सम्मुख सूर्य, चाँद, तारे, विद्युत तथा लौकिक अग्नि का प्रकाश कुछ भी नहीं हैं । ये सभी उसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं तथा उसके प्रकाश से ही

---

1. जोति सरूप सदा सुखदाता सचै सोभा पाइदा ।। मारु म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰ 604
2. सभ महि जोति जोति है सोइ । तिस के चानणि सभ महि चानणु होइ । गुर साखी जोति परगटु होइ ।। धनासरी म॰१, आरती, गु॰ना॰रे॰372
3. जोति सबाइड़ीए त्रिभवण सारे राम । घटि घटि रवि रहिआ अलख अपारे राम ।। विलावल म॰१, छंत, गु॰ना॰र॰442

   त्रिभवन जोति रहे लिवलाई ।। धनासरी म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 374

   जलि थलि महीअलि भरिपुरि लीणा घटि घटि जोति तुमारी ।।
   - बिलवल म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 426
4. छान्दो॰ 3॰14॰7
5. एष उ एव भामनी:, एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति ।। छान्दो॰4॰15॰4
6. ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदु: ।। मुण्ड 2॰2॰9

   तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ।। बृहद्॰ 4॰4॰16

सारा विश्व प्रकाशित है ।[1]

इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए गुरु नानक ने भी ब्रह्म को प्रकाशस्वरूप माना है तथा उसके निवास स्थान, दशमद्वार को भी चमक-दमक से प्रकाशित माना है । वहाँ पर न चन्द्रमा है न तारागण; न सूर्य की किरणें हैं न बिजली और न ही आकाश । फिर भी उसकी ज्योति की किरणें सब ओर फैली हुई हैं तथा सर्वत्र उसी का प्रकाश है ।[2]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि ब्रह्म के लिए प्रयुक्त "सैभं" पद के दोनों अर्थ ही गुरु नानक वाणी तथा वेदों को स्वीकार हैं । ब्रह्म ज्योति स्वरूप भी है तथा अपने आप होने वाला भी ।

सर्वशक्तिमान -

गुरु नानक वाणी में ब्रह्म को सर्वशक्तिमान स्वीकार किया गया है । इस जगतीतल पर जो कुछ भी हो रहा है, उसी की इच्छा से हो रहा है । उस में इतना सामर्थ्य है कि किसी भी क्षण कुछ भी कर सकता है । वह चाहे तो उच्च से उच्च व्यक्ति को नीच बना सकता है और यदि उसकी इच्छा हो तो वह नीच को भी सुलतान बना सकता है ।[3] यदि उसकी दृष्टि विपरीत हो जाए तो वह बड़े-बड़े सम्राटों को भी तृण सदृश कंगाल बना सकता है तथा उन्हें दर-दर की भीख माँगने के लिए वाध्य कर सकता है ।[4] यदि वह कृपा कर

---

1. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेवे भान्मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।
-कठो॰ 2·2·15; मुण्ड॰ 2·2·10;श्वेता॰ 6·14

2. झिलिमिलि झिलके चंदु न तारा । सूरज किरणि न बिजुलि गैणारा ।।...
पसरि किरणि जोति उजिआला । करि करि देखै आपि दइआला ।।
- मारु म॰१, सो॰ गु॰ना॰र॰ 598

3. उचा ते फुनि नीचु करतु है नीच करे सुलतानु ।। प्रभाती म॰१,
पदे, गु॰ना॰र॰ 750

4. नदर उपठी जे करे सुलताना घाहु कराइदा ।
दर मंगन भिख न पाइंदा ।। आसा म॰१, गु॰ना॰र॰ 302

दे तो बस (बगुले) को भी हंस बना दे । भाव नित्य पाप करने वाले अत्यन्त तमोगुणी व्यक्ति को भी सत्वगुणी तथा नीर-क्षीर-विवेकी साधु बना दें ।[1] उस ब्रह्म में इतनी शक्ति है कि वह सिंह बाज शिकरा तथा चील जैसे मांसाहारी जीवों को घास खिला सकता है । नदियों के बीच टीला तथा मैदानों को अथाह जल में परिवर्तित कर सकता है । उसकी इच्छा हो तो कीट को भी सम्राट् बना दे तथा सम्राटों की सेना को धुलि में मिला दे ।[2] इस प्रकार गुरु नानक वाणी में ब्रह्म को इतना शक्तिशाली माना गया है कि वह कठिन से कठिन तथा असम्भव कार्यों को भी कर सकता है ।

यह बात उल्लेखनीय है कि गुरु नानक वाणी में वर्णित परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता उपनिषद् ग्रन्थों में पूर्ण रूप में विवेचित है । वहाँ कहा गया है कि उसकी शक्ति निस्सन्देह सब से ऊँची है तथा अनेक प्रकार की है । उस में ज्ञान तथा बल दोनों प्रकार की शक्ति स्वाभाविक रूप से विद्यमान है ।[3] उसके पैर नहीं हैं फिर भी वह सब से तीव्र वेगवान् है, उसके हाथ नहीं हैं, फिर भी वह सब को पकड़े हुए है; उसके नेत्र नहीं हैं, पर वह सब कुछ देखता है; कान नहीं हैं, पर सब कुछ सुनता है ।[4] इन्द्रियों के न होने पर भी उस में

---

1. बगुले ते फुनि हंसुला होवै जे तू करहि दइआला ।
   प्रणवति नानकु दासनि दासा दइआ करहु दइआला ।। बसंत म॰१, गु॰ना॰र॰ 658

2. सीहा बाजा चरगा कुहीआ एना खवाले घाह ।
   घाहु खानि तिना मासु खवाले एहि चलाए राह ।।
   नदीआ विचि टिबे देखालै थली करे असगाह ।
   कीड़ा थापि देइ पातिसाही लसकर करे सुआह ।।
   -माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 120

3. पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।
   -श्वेता॰ 6॰8

4. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।।
   -श्वेता॰ 3॰19

इतनी शक्ति है कि वह सम्पूर्ण विश्व को नियम में रखता है ।[1]

दाता -

दान करने वाले, या देने वाले को दाता कहते हैं । दान सदा समर्थ व्यक्ति करता है । जो स्वयं अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर सकता वह दूसरे को दान कहाँ से देगा । वास्तविक दाता वही है जो ऐश्वर्य सम्पन्न है तथा जिसे अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं करना पड़ता । इस प्रकार का ऐश्वर्य सम्पन्न तथा सर्वशक्तिमान वह ईश्वर ही है । इसलिए वही सर्वश्रेष्ठ दाता है । वह ही सन्तुष्ट होकर जीवों को सब कुछ प्रदान करता है ।[2] गुरु नानक वाणी में बताया गया है कि वही एकमात्र दाता है, दूसरा कोई नहीं ।[3] दान करना उसी के अधिकार में है, यदि उसकी इच्छा हो तो वह दान करे यदि न हो तो न करे । उस पर किसी का ज़ोर नहीं चलता ।[4] इस लिए गुरु नानक वाणी में बता दिया गया है कि वह ब्रह्म ही दान करने में पूर्णतया समर्थ है, शेष सभी याचक हैं ।[5] यहाँ तक कि तेतीस करोड़ देवता भी उसी से याचना करते हैं । उस का भण्डार इतना विशाल है कि वह कितना भी दान करता जाए उसमें कभी कमी नहीं आती ।[6] इसलिए उसे कभी भी भूलना नहीं चाहिए, सदा स्मरण

---

1. य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरोयमयति ।। बृहद्·3·7·।
2. दाता करता आपि तूं तुसि देवहि करहि पसाउ । आसा म·1, वार, गु·ना·र· 274
3. तू दाता सभ मंगते इको देवणहारु ।। मलार म·1, वार, गु·ना·र·728
   मंगण वाले केतड़े दाता एको सोइ ।। सिरीराग म·1, पदे, गु·ना·र·34
   सभु जगु तेरा तू एको दाता अवरु न दूजा भाई ।। सोरठ म·1, अस· गु·ना·र· 354
   सभना दाता एक तू माणस दाति ना होइ ।। सोरठ म·1, पदे· गु·ना·र· 344
4. देवणहारे के वसि दानु ।। भावै देइ न देइ सोइ ।। सिरीराग म·1, पदे, गु·ना·र· 54
5. तू प्रभ दाता दानि मति पूरा हम थारे भेखारी जीउ ।। सोरठ म· ।· पदे, गु·ना·र· 350
6. सरबे जाचिक तूं प्रभु दाता दाति करे बीचार ।
   कोटि तेतीस जाचहि प्रभ नाइक दे दे तोहि न साहि भंडार। गूजरी म·1, गु·ना·र·314

करते रहना चाहिए ।[1]

भारतीय परम्परा बहुत प्राचीन काल से ही ब्रह्म को दाता मानती रही है । ऋग्वेद में देवताओं को दान करने वाले बताया गया है । दान करने के कारण ही इन्हें देव कहा जाता है ।[2] ऋग्वेद में देवताओं से धन प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं ।[3] देवगण अपने भक्तों पर प्रसन्न होकर उन्हें उनका अभिमत पदार्थ प्रदान करते हैं ।[4] ऐसा विश्वास है कि ये पृथ्वी तथा वृष्टि आदि सब कुछ हमें देवताओं से दान रूप में प्राप्त हुआ है ।[5] पशु-धन, जन-धन तथा शेष सभी प्रकार के धन के अतिरिक्त देवता लोग आँख, कान तथा दूसरे अंगों को भी प्रदान करते हैं ।[6]

अथर्ववेद में भी ब्रह्म को दाता माना गया है ।[7] वह ब्रह्म दान करने वाला होने के कारण दाता है परन्तु सभी में व्याप्त होने के कारण उस दान को ग्रहण करने वाला भी वह स्वयं ही है ।[8] वह सच्चा ईश्वर ही मुख्य दाता है शेष सभी उससे मांगने वाले हैं ।[9] अतः उस को सदा नमस्कार है ।[10] यहाँ

---

1. सो किउ मनहु विसारीअै सदा सदा तातार ।। सूही म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 402
   सभणा जीआ का इकु दाता सो मै विसरि न जाई ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰ 4
2. देवो दानात्····। -निरु॰ दैवत काण्ड १॰5
3. ऋ॰ 5॰23॰1; 5॰52॰17
4. ऋ॰ १॰११6॰13; 4॰50॰10; 5॰52॰15
5. ऋ॰ 4॰26॰2
6. ऋ॰ १॰११7॰8, 9
7. अथर्व॰ १9॰55॰3,4
8. दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।। अथर्व॰ 3॰21॰4
   दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः ।। अथर्व॰ 3॰29॰7
9. त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
   तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ।। अथर्व॰ 20॰104॰4
10. नमस्तस्मै नमो दात्रे ।। अथर्व॰ 9॰3॰12

यह उल्लेखनीय है कि अथर्ववेद तथा गुरुनानक वाणी में प्रतिपादित "दाता" सम्बन्धी धारणा में असाधारण साम्य है ।

निरंकारु (निराकार) -

"निरंकारु" का अर्थ है आकार रहित । उस ब्रह्म का कोई आकार नहीं है इस लिए उसे निराकार कहा गया है । गुरु नानक वाणी में भी ब्रह्म को निराकार माना गया है ।[1] तथा ऐसा स्वीकार किया गया है कि उस निराकार ब्रह्म की ज्योति ही सर्वत्र व्याप्त है ।[2] सिरीराग में बताया गया है कि वह निराकार अपने स्थान पर सुशोभित है ।[3] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जो निराकार है वह स्थान विशेष से संबन्धित कैसे हो सकता है । वस्तुत: "निज थाइ" का अर्थ यहाँ पर "अपने आपमें" या "अपने स्वरूप" में होगा, तथा पूर्ण पंक्ति का अर्थ होगा कि वह निराकार ब्रह्म अपने-आप में या अपने स्वरूप में स्थित है । गुरु नानक वाणी में उसे भय, मल तथा आकार रहित माना गया है[4] जिसका नाम स्मरण करने मात्र से ही बड़े से बड़े कष्ट से छुटकारा पाया जा सकता है ।[5] उसकी प्राप्ति के विषय में उल्लेख करते हुए बताया गया है कि सद्गुरु से ज्ञान प्राप्त करके ही उसे जाना जा सकता है तथा मन में बसाया जा सकता है ।[6]

वेद भी ब्रह्म को निराकार मानते हैं । सुप्रसिद्ध "पुरुष सूक्त" में बताया गया है कि उसका सिर द्यौ है, अन्तरिक्ष नाभि है, भूमि पैर है तथा दिशाएँ एवं लोक उस के श्रोत्र हैं ।[7] कहने का तात्पर्य यह है कि उसका न सिर

---

1. नानक निरभउ निरंकारु सचु एक ।। आसा म॰१, वार,गु॰ना॰र॰278
2. निरभउ निरंकारु निरवैरु जोति सबाई ।। सोरठ म॰१, पदे,गु॰ना॰र॰346
3. साचा निरंकारु निज थाइ ।। सिरीराग म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰24
4. तूं निरमलु निरंकारी ।। सोरठ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 348
   नानक निरभउ निरंकारु···।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰278
5. नाउ तेरा निरंकारु है नाइ लइऐ नरकि न जाईऐ ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 282
6. नानक गिआन रतनु परगासिआ हरि मनि वसिआ निरंकारी जीउ ।।
   -सोरठ म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰350
7. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौ: समवर्तत ।
   पद्भ्यां भूमिर्दिश: श्रोत्रात् तथा लोकां अकल्पयन् ।। ऋ॰10॰90॰14,
   तुलना- छान्दो॰3॰13॰7; यजु: 31॰13

है, न पेट है, न पाँव हैं न श्रोत्र; भाव उसका कोई आकार नहीं है।[1] उपनिषदें भी उसे निराकार एवं अमूर्त मानती हैं।[2] ब्रह्म में स्वरूप का वर्णन करते हुए कठोपनिषद् में भी उसे शरीर रहित माना गया है।[3] उपनिषदों में स्पष्ट उल्लेख है कि वह निराकार ब्रह्म आंख, वाणी एवं अन्य इन्द्रियों का विषय नहीं है उसे तो केवल अन्तःकरण में अनुभव किया जा सकता है।[4]

निर्गुण -

गुरु नानक वाणी में ब्रह्म को सर्वोत्तम सत्ता स्वीकार कर उसके अनेकों गुणों का वर्णन किया गया है, परन्तु उसके अनेक गुण होने पर भी उसे निर्गुण कहा गया है। निर्गुण शब्द का अर्थ है गुण रहित। डा॰ राजबली पाण्डेय के अनुसार चरम सत्ता ब्रह्म के दो रूप हैं - निर्गुण और सगुण। उस के सगुण रूप से दृश्य जगत् का विकास अथवा विवर्त होता है, किन्तु वास्तविक वस्तुसत्ता तो निर्गुण ही होती है। गुणों के सहारे से उसका वर्णन अथवा निर्वचन नहीं हो सकता। इस लिए उसे निर्गुण कहा गया है। सम्पूर्ण विश्व में अन्तर्यामी होते हुए भी वह तात्विक दृष्टि से अतिरेकी और निर्गुण ही रहता है।[5] डा॰ रत्न सिंह जग्गी के अनुसार भी निर्गुण का शाब्दिक अर्थ गुण रहित है परन्तु इसका पारिभाषिक अर्थ गुणातीत है अर्थात् जिसको गुणों की सीमा में न बांधा जा सके।[6] इस परिभाषा के अनुसार ब्रह्म का वर्णन करना अत्यधिक कठिन ही नहीं प्रत्युत असंभव है। क्योंकि मन वचन एवं इन्द्रियों का अविषय होने के कारण उस सत्ता का उचित विचार नहीं किया जा सकता। उसका विचार तो वही कर सकता है जो उस के समान ऊँचा तथा

---

1. मुण्ड॰ 1॰1॰6; श्वेता॰ 3॰10
2. मुण्ड॰ 2॰1॰2
3. कठो॰ 1॰2॰22
4. कठो॰ 2॰3॰9; मुण्ड॰ 3॰1॰8
5. हिन्दु धर्म कोश, पृ॰ 370
6. गुरु नानक: व्यक्तित्व कृतित्व और चिंतन, पृ॰ 275

महान् हो ।[1] गुरु नानक वाणी में ब्रह्म को अनिर्वचनीय माना गया है । यदि उस का रसास्वादन[2] कर भी लिया जाए तो "गूंगे के गुड़" की भान्ति उसका स्वाद बताना कठिन है । ब्रह्म के स्वरूप की अनिर्वचनीयता का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि उसका कथन करना कठिन है, उसको सुनना भी कठिन है तथा न ही कथन करने से उसे पूर्णतया कहा ही जा सकता है । कई लोग दिन-रात यत्नपूर्वक उसका वर्णन करते हैं, परन्तु क्या उसे किसी ने समझा है । यदि उसका कोई स्वरूप हो तभी वह समझ में आए । वस्तुत: उसका न कोई रूप है न जाति ।[3] न उसका कोई चक्र चिह्न है, न वर्ण है, न उसे कभी भूख लगती है न प्यास ।[4] उसका माता-पिता, भाई-बहन, उत्पत्ति-लय एवं कुल-जाति कुछ भी नहीं है ।[5] वह न नारी रूप है न पुरुष रूप तथा न ही पक्षी रूप ।[6]

ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय करते हुए गुरु नानक वाणी में उसे "बे-अन्त" (अनन्त) माना गया है । वह प्रभु अनन्त है, उसके कितने भी व्याख्यान करते रहो, उसका अन्त नहीं पाया जा सकता ।[7] वह बहुत महान्, गहर, गम्भीर एवं अगाध गुणों[8] वाला है । अत: उसके विस्तार को समझना असम्भव है । यदि

---

1. एवडु उचा होवै कोइ । तिसु उचे कउ जाणै सोइ ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰12
2. जिन चाखिआ सेई सादु जाणु जिउ गुंगे मिठिआई ।
   अकथै का किआ कथीऐ भाई चालउ सदा रजाई ।। सोरठ म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰ 356
3. सारंग म॰1, श्लोक, गु॰ना॰र॰ 686
4. ना तिसु रूपु ना रेख वरन सबाइआ ।
   ना तिसु भुख पिआस रजा धाइआ ।। मलार म॰1, गु॰ना॰र॰716
5. मारू म॰1, सो॰ 18॰2, गु॰ना॰र॰ 608
6. नारि न पुरखु न पंखणू साचउ चतुरु सरूप ।। मारू म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰556
7. केता आखणु आखीऐ ता के अन्त न जाणा ।। आसा म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰ 256
8. बडे मेरे साहिबा गहिर गंभीरा गुणी गहीरा ।
   कोइ न जाणै तेरा केता केवडु चीरा ।। आसा म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰192

उस का मूल्य निर्धारित किया जाए तो वह बहुमूल्य एवं अत्यन्त भारी है ।[1] गुरु नानक वेदों का प्रमाण देकर बताते हैं कि वेद भी बार-बार इसी बात का उल्लेख करते हैं कि उस अनन्त का अन्त आज तक कोई नहीं पा सका ।[2] इसलिए "जपुजी" में स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है कि उसको जानने के लिए कितने लोग बिललाते रहते हैं परन्तु उसका अन्त कोई नहीं पा सका ।[3] इस मर्त्य लोक में तो क्या स्वर्ग एवं पाताल लोक में भी उसका स्वरूप किसी के द्वारा नहीं जाना गया ।[4] "सिरीराग" के एक पदे में उल्लेख किया गया है कि यदि मनुष्य की आयु करोड़ों वर्षों की हो जाए । उसे न भूख-प्यास लगे न निद्रा सताए, वह एकान्त में बैठ कर दिन-रात सतत पवन के वेग से लेखनी चलाता रहे तो भी उसकी कीमत नहीं पा सकता ।[5] फिर भी यदि कोई उसके वर्णन करने का दम भरता है तो वह अपनी वाणी को ही खराब करता है; उसकी गणना गंवारों में होने लगती है ।[6] वस्तुत: उसके स्वरूप को पूर्णतया कोई दूसरा नहीं जान सकता, अपने स्वरूप को पूर्णतया वह स्वयं ही जानता है ।

---

1. महघो मोलि भारि अफारु ।। आसा म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰ 230
   आदि अपारु अपरंपरु हीरा ।। आसा म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰ 208
2. बेद बरवाणि कहहि इकु कहीऐ ।
   ओहु बेअंत अंतु किनि लहीऐ ।। बसंत म॰1, अस॰गु॰ना॰र॰ 666
3. अंत कारण केते बिललाहि ।
   ताके अंत न पाए जाहि ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰ 12
4. तेरा अंत न पाइआ सुरगि मीछि पइआलि जीउ ।। सिरीराग म॰1, अस॰ गु॰ना॰र॰ 88
5. सिरीराग म॰1, पदे 2, गु॰ना॰र॰ 24-26
6. जे को आखै बोलुविगाड़ु । ता लिखीऐ सिरि गावारा गावारु ।।
   -जपु जी, गु॰ना॰र॰ 14
7. जेवडु आपि जाणै आपि ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰ 12
   जेवडु भावै तेवडु होइ । नानक जाणै साचा सोइ ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰14
   तुलना - ऋ॰ 10·129·6, 7

निर्गुण ब्रह्म का वर्णन उपनिषद् ग्रन्थों में भी प्राप्त हो जाता है। उपनिषदों में बताया गया है कि वह अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त एवं ध्रुव, ब्रह्म, शब्द स्पर्श, रूप, रस, एवं गंध रहित है।[1] भाव यह कि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। उस ब्रह्म को किसी गुण के द्वारा निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि वह अक्षर ब्रह्म न स्थूल है न अणु है, न ह्रस्व है न दीर्घ, न उसका कोई रूप है, न वह द्रव्य है, न चिकना है। वह छाया से भिन्न और अन्धकार से पृथक् है। वह बिना वायु, रस, गन्ध, आँख, कान, वाणी, मन, तेज, प्राण और मुख के है। उसका कोई परिमाण नहीं है। वह न अन्दर है न बाहर है। न वह किसी को भोगता है न कोई उसे भोगता है।[2] वह न अन्तःप्रज्ञ है न बहिष्प्रज्ञ तथा न ही उभयप्रज्ञ है। वह न ज्ञान स्वरूप है, न जानने योग्य है, न नहीं जानने योग्य है। उसको न देखा जा सकता है न ग्रहण किया जा सकता है। वह अलक्षण, अचिन्त्य तथा अव्यपदेश्य (जिसको बताया न जा सके) है।[3] वह निर्गुण ब्रह्म अन्तःकरण एवं इन्द्रियों का गोचर नहीं है। इस सम्बन्ध में केनोपनिषद् में बताया गया है कि इस अलौकिक दिव्य तत्त्व में इन्द्रियों का प्रवेश हो ही नहीं सकता। बल्कि इनमें जो चेतनता एवं क्रिया प्रतीत होती है वह उसी की शक्ति एवं प्रेरणा के फलस्वरूप है। ऐसी अवस्था में कोई किस प्रकार उसका वर्णन कर सकता है। इस के उपदेश का ढंग न हमें किसी ने सिखाया है न हमारी समझ में आता है। पूर्व आचार्यों ने तो हमें यही बताया है कि वह जाने हुए से भिन्न है

---

1. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
   अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥
   -कठो॰ 1॰3॰15

2. बृहद्॰ 3॰8॰8

3. नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
   अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम्.....॥
   -माण्डू॰ 7

और न जाने हुए से परे है । अत: ऐसी अवस्था में उसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है ।[1]

गुरु नानक वाणी में विरोधात्मक विशेषणों के द्वारा भी ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण हुआ है । धनासरी राग में ऐसा उल्लेख है कि उसके सहस्रों नेत्र हैं, परन्तु फिर भी उसका कोई नेत्र नहीं है । उसकी हज़ारों मूर्त्तियां हैं, फिर भी उसकी एक भी मूर्ति नहीं है । उसके सहस्रों विमल चरण हैं, फिर भी उसका अपना कोई चरण नहीं है । उसकी हज़ारों घ्राण इन्द्रियाँ हैं, पर फिर भी उसकी एक भी घ्राण इन्द्रिय नहीं है ।[2] इसी प्रकार ऋग्वेद में भी उसके सहस्रों शिर, सहस्रों चक्षु एवं सहस्रों चरणों का उल्लेख हुआ है।[3] गुरु नानक वाणी में अन्यत्र भी बताया गया है कि वह स्वयं सृष्टि की स्थापना करता है और स्वयं लय कर देता है । स्वयं संयोग करवाता है तथा स्वयं वियोग । स्वयं मारता है तथा स्वयं जीवन प्रदान करता है ।[4] तैत्तिरीय उपनिषद् में भी जीवों की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय उस ब्रह्म से मानी है ।[5] गुरु नानक वाणी में ऐसा भी वर्णन हुआ है कि वह ब्रह्म स्वयं ही दूर है तथा स्वयं ही पास ।[6] ठीक इसी तरह का वर्णन हमें ईशोपनिषद् में भी प्राप्त हो जाता है जहाँ ब्रह्म को समीप भी तथा दूर भी माना गया है ।[7]

---

1. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ।। केनो॰ ।॰3
2. सहस तव नैन नन है तोहि कउ सहस मूरति ननां एक तोही ।
   सहस पद बिमल नन एक पद गंध बिनु सहस तव गंध इव चलत मोही ।।
   -धनासरी म॰।, आरती, गु॰ना॰र॰372
3. सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपात् ।। -ऋ॰ ।0॰90॰।
4. आपे थापि उथापे आपे । आपे जोड़ विछोड़े करता आपे मारि जीवाइदा।
   - मारू॰ म॰।, सो॰ गु॰ना॰र॰598
5. यतो वा इमानी भूतानि····तद् ब्रह्मेति ।। तै॰उ॰ 3॰।
6. आपे नेड़ै आपे दूरि ।। रामकली म॰।, पदे, गु॰ना॰र॰ 446
7. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
   तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत: ।। -इशो॰ 5

सगुण -

यद्यपि गुरु नानक वाणी में निर्गुण ब्रह्म का ही प्रमुख रूप से चित्रण हुआ है तथापि निर्गुण ब्रह्म साधक की आराधना का विषय न हो सकने के कारण उसके सगुण रूप का भी वर्णन मिलता है ।[1] निर्गुण ब्रह्म का यद्यपि मनन, चिन्तन तथा अनुभव अवश्य किया जा सकता है परन्तु जब तक उसके साकार रूप की संकल्पना न कर ली जाए तब तक मन में भक्तिभाव उत्पन्न नहीं होता । फिर उस के निर्गुण एवं शुद्ध रूप को जानना भी अत्यन्त कठिन है, इसलिए उसे जगत् में विभिन्न रूपों में जानने की चेष्टा की जाती है । जगत् में उसकी महिमा का आधिक्य होने के कारण समष्टि रूप से उसका ज्ञान मन की शक्ति से परे है । इसलिए भक्तिभाव की निष्पत्ति के लिए उसके कुछ गुणों पर आधारित उसके स्वरूप की कल्पना कर ली जाती है । गुरु नानक वाणी में भक्ति भाव की उत्पत्ति के लिए उसके सगुण रूप का चित्रण भी हुआ है । कहीं-कहीं तो ब्रह्म का मानवीकरण करके उसमें एक सुन्दर नायक के गुणों का आरोपण कर दिया गया है । गुरु नानक वाणी के अनुसार उसके नेत्र बड़े बाँके तथा दाँत बहुत आकर्षक हैं । उसकी नासिका सुन्दर तथा केश-पाश लम्बे हैं । उसका स्वर्णिम सुन्दर शरीर वैजयंती माला से अलंकृत है । उसकी चाल सुहावनी तथा कोकिल की कूक सदृश मधुर वाणी मनोहारिणी है । उसका कान्तिमय यौवन तथा चंचल जवानी मन की इच्छापूर्ति करने वाली है । वह मदमस्त हाथी के समान ठुमक-ठुमक कर पांव धरता है तथा उसके प्रेम से विंधी हुई यह जीव रूपी नायिका गंगाजल में अभिषिक्त हुई स्त्री के समान है ।[2]

---

1. विणु गुण कीते भगति न होइ ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰ 10
2. तेरे बंके लोइण दंत रीसाला । सोहणे नक जिन लंमड़े बाला ।।
कंचन काइआ सुइने की ढाला । सोंवन ढाला कुसन माला जवहु तुसी सहेलीहो ।।
तेरी चाल सुहावी मधुराड़ी बाणी । कुहकनि कोकिल तरल जुआणी ।।
तरला जुआणी आपि भाणी इछ मन की पूरीऐ ।
सारंग जिउ पगु धरै ठिमि ठिमि आपि आपु संघूरए ।।
स्री रंग राती फिरै माती उदकु गंगावाणी ।।
- वडहंस म॰1, छंत, गु॰ना॰र॰ 330-32

ब्रह्म के सगुण रूप का वर्णन वैदिक काल से ही होता आया है । ब्रह्म के गुणों का आधिक्य होने के कारण उनका समष्टि रूप से ज्ञान होना कठिन है । इस लिए वैदिक काल में विभिन्न देवताओं के रूप में उसकी अपरिमित महिमा का चित्रण हुआ है और उस के एक-एक गुण की देवताओं के रूप में परिकल्पना की गई है । परन्तु ये सभी शक्तियां उसी का एक रूप हैं । इस प्रकार वैदिक काल में देवताओं के रूप में सगुण ब्रह्म का चित्रण हुआ है ।

गुरु नानक वाणी में जो ब्रह्म का मानवीकरण करके उसमें एक सुन्दर नायक के गुणों का आरोपण करने की धारणा पाई जाती है इसके बीज हमें छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त हो जाते हैं । वहाँ ब्रह्म के स्वरूप का चित्रण करते हुए उसकी एक स्वर्णिक पुरुष के रूप में परिकल्पना की गई है । उसकी दाढ़ी, मूछें, केशपाश तथा नख-शिख सम्पूर्ण शरीर को ही स्वर्णमय माना गया है[1] तथा उसकी आंखों को कप्यास पुण्डरीक जैसी बताया गया है ।[2]

इस प्रकार गुरु नानक वाणी में ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण, दोनों रूपों का चित्रण हुआ है । वास्तव में निर्गुण या अव्यक्त ब्रह्म ही सृष्टि रचना के पश्चात् सगुण रूप धारण कर लेता है ।[3] गुरु नानक वाणी में उसका सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों में निरूपण हुआ है । बसन्त राग में ऐसा उल्लेख है कि प्रभु स्वयं ही माया है तथा स्वयं ही उसका स्वामी; शब्द की स्थापना करके वह स्वयं ही उस में आनन्द करता है । वही बछड़ा है, वही गाय है तथा वही दूध है । इस शरीर रूपी मन्दिर का स्तम्भ भी वह आप ही है । वह आप ही करनी तथा करने वाला है तथा उसका विचार करने वाला भी आप है । वह

---

1. य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ।। -छान्दो० 1·6·6
2. तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी ।।
   -छान्दो० 1·6·7
3. अविगतो निरमाइलु उपजे निरगुण ते सरगुण थीआ ।।
   -रामकली म०1, सिध गोसटि, गु०ना०र० 506

"करता पुरख" जगत् की रचना करके उसकी देखभाल करता है तथा असंख्य जीवों की ज्योति को आश्रय प्रदान करता है । अकुल तथा निरंजन वह ब्रह्म, गुणों का गम्भीर सागर है तथा बहुमूल्य हीरा है ।

ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए मुख्यत: उसके निर्गुण स्वरूप का ही प्रतिपादन हुआ है । परन्तु गुरु नानक का ब्रह्म निर्गुण होते हुए भी कर्ता-पुरख तथा स्वयंभू है । समस्त ब्रह्मण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और लय उसी से होती है । वह ओंकार स्वरूप तथा सत्यनाम वाला है, निर्भय, निर्वैर तथा काल की सीमाओं से परे है । वह अगम, अगोचर, निरंजन, निराकार तथा ज्योतिस्वरूप है । गुरु नानक का ब्रह्म अनिर्वचनीय, वर्णनातीत एवं स्वानुभूत्येकाम्य है ।

इस प्रकार के निर्गुण, अव्यक्त और केवल ज्ञानगम्य ब्रह्म की भक्ति अत्यन्त क्लिष्ट होती है । इस लिए गुरु नानक ने ब्रह्म की व्यावहारिक सत्ता का प्रतिपादन कर उसके सगुण रूप का भी चित्रण किया है तथा उसे घट-घट वासी बताया है । वस्तुत: इन दोनों (निर्गुण एवं सगुण) में अभेद है । सगुण निर्गुण से उत्पन्न होता है और पुन: उसी में समा जाता है । इस प्रकार गुरु नानक वाणी में ब्रह्म के दोनों रूपों का चित्रण हुआ है जो सिद्धान्तत: बहुत अच्छी बात है, क्योंकि यदि केवल निर्गुण ब्रह्म का ही चिंतन किया जाए तो मनुष्य में जगत् से विरक्त होने की रुचि बढ़ जाती है और यदि केवल सगुण ब्रह्म की उपासना पर अधिक बल दिया जाए तो जगत् में आसक्त होने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है । दोनों का इकट्ठा चिंतन करने से ही मनुष्य "अंजन-महि-निरंजन" के उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है । इस लिए गुरु नानक वाणी में ब्रह्म के दोनों रूपों का ही चित्रण किया गया है ।

।· आपे कवला कंतु आपि । आपे रावे सबदि थापि ।।
आपे बछरु गऊ रवीरु । आपे मंदरु थंम्हु सरीरु ।।
आपे करणी करणहारु ।। आपे गुरमुखि करि वीचारु ।।
तू करि करि देखहि करणहारु । जोति जीउ असंख देह अधारु ।।
-बसंत म·।, अस· गु·ना·र· 674

6•2 ओउम् की महिमा -

भारती धर्म एवं दर्शन में ओउम् शब्द प्रारम्भ से ही ब्रह्म का वाचक माना जाता रहा है । गुरु नानक वाणी में भी इसे ब्रह्म का वाचक माना गया है तथा इसे एक ओंकार कहा गया है ताकि इसमें किसी प्रकार की भ्रान्ति न रहे और इसे केवल ब्रह्म का ही वाचक माना जाए ।[1]

गुरु नानक वाणी में ओम् की महती महिमा वर्णित है । रामकली राग में "ओअंकार" नाम से एक वाणी लिखी गई है जिस में ओंकार (परमात्मा) की महिमा ही विवेचित है । इस वाणी में गुरु नानक देव ने परमसत्ता की समस्त शक्तियों का आरोपण ओंकार में करके दोनों में एकात्मकता स्थापित की है । इस वाणी का आरम्भ "ओअंकार" शब्द से होता है जिसके प्रथम "सबद" का स्वरूप इस प्रकार है :-

ओ अंकारि ब्रह्मा उतपति । ओअंकार कीआ जिनि चिति ।।
ओअंकारि सैल जुग भए । ओअंकारि वेद निरमए ।।
ओअंकारि सबद उधरे । ओअंकारि गुरमुखि तरे ।
ओनम अखर सुणहु बीचारु । ओनम अखरु त्रिभवण सारु ।।[2]

ओंकार की महिमा का वर्णन करते हुए यहाँ बताया गया है कि "ओंकार से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई जिसने ओंकार का ही चिंतन किया । ओंकार से पर्वत एवं युग निर्मित हुए । ओंकार से ही वेदों की उत्पत्ति हुई । ओंकार शब्द द्वारा ही लोग भवसागर को पार करते हैं । अतः "ॐ नमः" (ओनम) अक्षर का भाव सुनना चाहिए, यही तीनों भुवनों का सार तत्त्व है ।" इस अक्षर से नाम की प्राप्ति होती है तथा इसी से परमात्मा की स्तुति होती है । अक्षर से ज्ञान प्राप्त कर ही परमात्मा की गुण-गाथा के गीत गाए जाते हैं; क्योंकि मनुष्य को पढ़ने-लिखने एवं वाणी को उच्चरित करने का ज्ञान अक्षर से

1• द्रष्टव्य अध्याय 6•1, ब्रह्म का स्वरूप के अन्तर्गत ओंकार विवेचन ।
2• रामकली म•1, ओअंकार, गु•ना•र• 472

ही होता है । इसी अक्षर के द्वारा मनुष्य के मस्तक पर भाग्य रेखाएँ अंकित की जाती हैं ।[1]

गुरु नानक वाणी की यह मान्यता है कि सम्पूर्ण सृष्टि में एक ओंकार ही है, दूसरा कोई नहीं है । वह ही सर्वत्र व्याप्त है ।[2] यह ओंकार सब से निराला और विलक्षण तत्त्व है, अमर, अयोनि तथा सांसारिक बन्धनों से मुक्त है । रूप और रेखा से रहित यह ओंकार वाणी एवं इन्द्रियों का गोचर नहीं है ।[3] सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करने वाला यह ओंकार इस सृष्टि का शासक होने पर भी स्वयं सांसारिक बन्धनों से निर्लिप्त है ।[4]

गुरु नानक वाणी में ओंकार के निवास के विषय में भी प्रकाश डाला गया है । यह शरीर रूपी नगरी उसका उत्तम स्थान है जिसमें सत्य, संतोष क्षमा, दया एवं आर्जव, ये पांच गुण प्रधान रूपेण निवास करते हैं और इन सभी के अक्षर वह निर्लिप्त ओंकार शून्य समाधि लगाकर बैठा है ।[5]

गुरु नानक वाणी में ओम् का जो चित्रण हुआ है, इसका आधार उपनिषद् ग्रन्थ है । उपनिषदों के परिशीलन से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि ओम् का जिस प्रकार का चित्रण गुरु नानक वाणी में हुआ है, ठीक उसी प्रकार उपनिषद् ग्रन्थों में भी प्राप्त हो जाता है । उपनिषदें भी उसे ब्रह्म का वाचक मानती हैं । परमात्मा के वाचक सभी नामों में ओम् ही सर्वश्रेष्ठ है । जिस प्रकार परमात्मा सदा एक रूप रहता है, उस में किसी

---

1. अखरी नामु अखरी सालाह । अखरी गिआनु गीत गुण गाह ।।
   अखरी लिखणु बोलणु बाणि । अखरा सिरि संजोगु वखाणि ।।
   - जपु॰जी॰, गु॰ना॰र॰ 10
2. एकंकारु अवरु न नही दूजा नानक एक समाई । रामकली म॰1, ओअंकार, गु॰ना॰र॰ 474
3. एकम एकंकारु निराला । अमरु अजोनी जाति न जाला ।
   अगम अगोचरु रूपु न रेखिआ ।। बिलावल म॰1, थिती, गु॰ना॰र॰432
4. तू एकंकारु निरालम राजा । मारू म॰1, सो॰गु॰ना॰र॰ 610
5. देही नगरी उत्तम थाना । पंच लोक वसहि परधाना ।
   उभरि एकंकारु निरालमु सुंन समाधि लगाइआ ।।
   - मारू म॰1, सो॰ गु॰ना॰र॰ 610

प्रकार का विकार नहीं आता, ठीक उसी प्रकार अव्यय होने से ओम् भी सदा एक रूप रहता है, उसके रूप में भी कोई परिवर्तन नहीं आता ।[1]

छान्दोग्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही बताया गया है कि ओम् अक्षर सभी के लिए गेय है, अत: सभी को इसी की उपासना करनी चाहिए ।[2] परमात्मा का नाम होने के कारण ओम् साक्षात् ब्रह्म ही है क्योंकि भगवत्नाम भी भगवत्स्वरूप होता है । यह प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् ओम् अर्थात् ब्रह्म का ही स्थूल रूप है ।[3] छान्दोग्योपनिषद् में एक अन्य स्थान पर बताया है कि जिस प्रकार पर्णनाल से सारे पत्ते बन्धे हुए होते हैं उसी प्रकार ओंकार से सारी वाणी बन्ध रही है । अधिक क्या जो कुछ भी हमारे इर्द-गिर्द है यह सब कुछ ओंकार ही है ।[4]

माण्डूक्योपनिषद् में बताया गया है कि उस अविनाशी ब्रह्म का नाम ओम् है तथा यह समग्र जगत् उस ओम् की महिमा का प्रकाश है । भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्, सब कुछ ओंकार ही है तथा जो त्रिकालातीत कोई अन्य तत्त्व भी है वह भी ओंकार ही है ।[5] प्रश्नोपनिषद् ओंकार को ही पर एवं अपर ब्रह्म मानती है । इसलिए विद्वान् एवं तत्त्वदर्शी भक्त इसी के सहारे पर एवं अपर ब्रह्म को पा लेते हैं ।[6] आगे वह भी बताया गया है कि

---

1. शेष ब्रह्मन् आदि शब्दों का विभिन्न विभक्तियों में अलग-अलग रूप बनता है, परन्तु ओम् अव्यय होने के कारण सभी विभक्तियों में समान रहता है ।
   - द्रष्टव्य, ओंकार निर्णय, पं॰ राजाराम, पु॰53-54
2. ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । छान्दो॰ ।॰।॰।
3. ओमिति ब्रह्म । ओमितीदंसर्वम् । तै॰उ॰ ।॰8॰।
4. तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि, एवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णा। ओंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम् । छान्दो॰ 2॰23॰2
5. ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ।
   भूतं भवद्-भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव । - माण्डू॰ ।
6. परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार: ।
   तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।। प्रश्नो॰ 5॰2

विद्वान् लोग केवल ओंकार का अवलम्बन लेकर उस शान्त, अजर, अमर, अभय एवं सर्वोत्तम ब्रह्म को पा लेते हैं।[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार निरन्तर ओंकार का ध्यान करने से ओंकार का दर्शन किया जा सकता है।[2] इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद् की भी यही धारणा है कि ओम् का निरन्तर ध्यान करने से मनुष्य अज्ञान रूपी अंधकार को पार कर लेता है।[3]

कठोपनिषद् में भी ओम् की महिमा का विस्तृत विवेचन हुआ है। कठोपनिषद् में बताया गया है सम्पूर्ण वेद नाना प्रकार से नाना छन्दों के द्वारा जिसका प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तप आदि साधनों का जो परम एवं चरम लक्ष्य है तथा जिस को प्राप्त करने की इच्छा से साधक ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करते हैं, वह तत्त्व ओम् ही है।[4] ओम् ही ब्रह्म एवं परब्रह्म है। इसी अक्षर को जानकर साधक दोनों में से किसी भी अभीष्ट रूप को प्राप्त कर सकता है।[5] अतः ब्रह्म की प्राप्ति के लिए यही सर्वश्रेष्ठ अवलम्बन है। इसको जानकर ही साधक ब्रह्म लोक में गौरव को प्राप्त करता है।[6]

प्रस्तुत विवेचन से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि गुरु नानक वाणी में जो ओम् की महिमा वर्णित है, उसका आधार उपनिषद् ग्रन्थ हैं। उपनिषदों की तरह गुरु नानक वाणी में भी ओम् को ब्रह्म का वाचक माना गया है तथा इसी से जगत् की उत्पत्ति मानी गई है। ओम् का निरन्तर ध्यान करने से मनुष्य भगवान् के दर्शन कर सकता है तथा उसे प्राप्त कर सकता है।

---

1. तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति यत्तच्छान्तमजरममृत्यभयं परं चेति।
   - प्रश्नो. 5.7
2. श्वेता. 1.14
3. ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्।
   -मुण्ड. 2.2.6
4. सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
   यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
   -कठो. 1.2.15
5. कठो. 1.2.16
6. एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
   -कठो. 1.2.17

6•3 ईश्वर-कृपा -

भारतीय धर्म एवं दर्शन की यह विशेषता रही है कि वह ईश्वर की कृपा के उपर विशेष बल देता रहा है । ईश्वर-कृपा रूपी प्रेम-भेंट साधक की साधना एवं सच्ची लगन के अनुकूल होती है । यह प्रेम-भेंट मनुष्य को उसके सतोगुणी कर्मों के कारण प्रभु की प्रसन्नता के फलस्वरूप प्राप्त होती है ।

भक्तिकालीन सभी सन्तों ने ईश्वर-कृपा पर विशेष बल दिया है फिर भी इस मार्ग के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य माने जाते हैं । उन्होंने पोषण अर्थात् पुष्टि को ही ईश्वर-कृपा स्वीकार किया है तथा भक्ति के क्षेत्र में इसको इतना महत्त्व दिया है कि इस सम्प्रदाय का नाम ही पुष्टि मार्ग पड़ गया ।

ईसाई-मतावलम्बी कृपा के लिए ग्रेस (Grace) शब्द का प्रयोग करते हैं । उनके अनुसार दैवीय कृपा से ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।[1] सेण्ट पाल के अनुसार ईश्वर-कृपा (Grace) परमात्मा का वह नैसर्गिक प्रेम है जो मनुष्य की इच्छा तथा योग्यता के बिना भी उसको प्राप्त हो जाता है ।[2] ईश्वर-कृपा दैवीय प्रेम का स्वाभाविक वरदान है जो साधक के गुण-अवगुणों को विचार में नहीं लाता । कृपालु होने पर ईश्वर बड़े-बड़े पापियों को भी मुक्त कर देता है । यह दिव्य प्रेम दुष्टों को क्षमा करने के लिए तथा उन्हें वर प्रदान करने के लिए दिव्य लोक से नीचे उतर आता है ।[3]

ईश्वर-कृपा की धारणा के बीज हमें ऋग्वैदिक काल से ही प्राप्त हो जाते हैं । लोगों का ऐसा विश्वास था कि सुख की प्राप्ति देवताओं की कृपा से होती है । ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों में यह बात स्पष्ट रूप से

1• Encyclopaedia Britanica, Vol. 10, p.593.

2• Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol.6, p.364.

3• उपरिवत

उल्लिखित है कि मनुष्य को जनधन, पशुधन तथा द्रव्यधन आदि सभी वे भौतिक सुख देवताओं की कृपा से ही प्राप्त होते हैं।[1] देवताओं से इन पदार्थों की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएं की गई हैं।[2] भौतिक सुखों के अतिरिक्त मानसिक सुख एवं ज्ञान की प्राप्ति भी देवताओं की कृपा से होती है।[3] ऋग्वेद के वाक् सूक्त में ब्रह्मरूपा वाक् स्पष्ट रूप से कहती है कि मैं जिस को चाहती हूँ ऋषि बनाती हूँ। मैं ही मन्त्र-द्रष्टा एवं सुन्दर बुद्धि वाला बनाती हूँ।[4] ज्ञान तथा बुद्धि की प्राप्ति तो देवताओं की कृपा के बिना हो ही नहीं सकती। सभी प्रकार की कल्याणकारी सुमति देवताओं से ही मिलती है। इसीलिए भक्त अपने पापों से सचेत होकर अपने आप को देवताओं के आगे समर्पित कर देता है क्योंकि वह जानता है कि देवताओं की कृपा के बिना वह पाप-मुक्त नहीं हो सकता।[5] देवताओं में विश्वास रखने वाले लोग देवताओं की कृपा से धर्म कार्यों में प्रवृत्त होते हैं परन्तु नास्तिक लोग उनकी विपरीत दृष्टि के कारण नष्ट हो जाते हैं।[6]

उपनिषदों में भी यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि मनुष्य को ईश्वर का ज्ञान एवं ईश्वर-प्राप्ति ईश्वर-कृपा से ही होती है।[7] इसके

---

1. ऋ॰ 1·25·4; 5·52·17; 5·73·4; 6·27·5; 10·25·11; 10·125·2,3
2. ऋ॰ 10·29·5; 10·30·12; ऋ॰ 10·26·1 में रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है।
3. ऋ॰ 1·25·3; 5; ऋ॰ 5·73·6, 9
4. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
   यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥ -ऋ॰10·125·5
5. यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठाऽचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः।
   कृधीष्वस्मां अदितेरनागान् व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने॥ ऋ॰4·12·4
6. ऋ॰ 10·125·4
7. कठो॰ 1·2·20; श्वेता॰ 3·20

अतिरिक्त ईश्वर की प्राप्ति न शास्त्रों को पढ़ने से होती है, न अत्यधिक तर्कशील बुद्धि से तथा न ही ईश्वर के विषय में अत्यधिक श्रवण से होती है। ईश्वर की प्राप्ति उन्हीं को होती है जिनको वह स्वयं स्वीकार कर लेता है जिस पर ईश्वर अनुग्रह करता है वही उसे पा सकता है। उसके सामने ईश्वर अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है।[1] श्वेताश्वतर ऋषि ने भी तप के प्रभाव तथा ईश्वर-कृपा से ही ब्रह्म को जाना था।[2]

इसी परम्परा में गुरु नानक देव ने भी अपनी वाणी में ईश्वरकृपा पर विशेष बल दिया है। सत्य तो यह है कि ईश्वर-कृपा का सिद्धान्त गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित सभी सिद्धान्तों का प्राण है। ईश्वर की कृपा के बिना मनुष्य किसी भी कर्म में रत नहीं होता, न उसे दान भाता है न प्रभु-नाम-स्मरण।[3] न ही प्रभु-कृपा के बिना मनुष्य सम्मान प्राप्त कर सकता है।[4] उसकी कृपा-दृष्टि से विहीन मनुष्य की दुनियां में कहीं भी पूछ-ताछ नहीं होती, कोई भी उसकी बात नहीं पूछता।[5]

गुरु नानक वाणी में ईश्वर-कृपा के अर्थ में "नदरि" तथा "करमि" शब्द का प्रयोग हुआ है। गुरु नानक वाणी में यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य को परमात्मा की प्राप्ति ईश्वर-कृपा से ही हो सकती है शेष सभी प्रयास तथा बातें केवल वाद-विवाद मात्र है या झूठी डींगें मात्र हैं।[6]

---

1. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
   यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
   -कठो॰ 1॰2॰23; मुण्ड॰ 3॰2॰3
2. तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।-श्वेता॰6॰21
3. नानक नदरी बाहरे राचहि दान न नाइ॥ सिरीराग म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰ 28
4. नानक नदरी बाहरे कबहि न पावै मानु॥ सूही म॰1, श्लोक, गु॰ना॰र॰ 420
5. जे तिसु नदरि न आवई त बात न पूछै के॥ जपु जी, गु॰ना॰र॰ 4
6. करमि मिलै ता पाईऐ होरु हिकमति हुकमु खुआर॥
   - आसा म॰1, वार, गु॰ना॰र॰ 280
   करमि मिलै ता पाईऐ नाही गली वाउ दुआउ॥ सिरीराग म॰1, पदे, गु॰ना॰र॰ 28
   नानक नदरी पाईऐ कूड़ी ठीस॥ जपुजी, गु॰ना॰र॰ 18

मानव जीवन के चार पुरुषार्थों में मोक्ष को सर्वोत्तम माना गया है। गुरु नानक देव के अनुसार मोक्ष भी प्राप्ति भी ईश्वर-कृपा से संभव है।[1] शुभ कर्मों के फलस्वरूप जीव को मानवजीवन (कपड़ा) प्राप्त होता है, परन्तु मोक्ष का द्वार तो ईश्वर-कृपा से प्राप्त होता है।[2] ईश्वर स्वयं ही शरीर रूपी चोले को संवारता है, रंगता है तथा स्वयं ही कृपा करता है।[3] जिस पर वह कृपा करता है, वही उस परमात्मा की सेवा करता है[4] उसी की कृपा से ही नाम-स्मरण करता है।[5] सेवा रूपी शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को भक्ति एवं सुख की प्राप्ति होती है तथा प्रभु-कृपा से वह भवसागर को पार कर जाता है।[6] यदि ईश्वर-कृपा हो जाए तो मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है तथा उसका परमात्मा के साथ मिलन हो जाता है।[7] अधिक क्या उसकी कृपा-दृष्टि मात्र से ही साधक निहाल हो जाता है।[8]

---

1. नदरी करमि लघाए पारि ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 280
2. करमी आवै कपड़ा नदरी मोखु दुआरु ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰ 4
3. आपे साजे आपे रंगे आपे नदरि करेइ ।। तिलंग म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 386
4. ताकी सेवा सो करे जा कउ नदरि करे ।। -धनासरी म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 364
5. नदरि करे ता सिमरिआ जाइ ।। धनासरी म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰366
6. सुख सेवा अंदरि रखिऐ आपणी नदरि करहि निसतारि जीउ ।। -सिरीराग म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 90
   नानक करमी बंदगी नदरि लंघाए पारि ।। सारंग म॰१, श्लोक, गु॰ना॰र॰ 690
7. नदरि प्रभू ते छूटीऐ नदरी मेलि मिलाइ जीउ ।। सूही म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 402
   नदरि करे मेलावा होई ।। आसा म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 218
   नदरि करे ता मेलि मिलाए ।। गउड़ी म॰१, अस॰ गु॰ना॰र॰ 160
8. नानक नदरी नदरि निहाल ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰ 22

ईश्वर-कृपा से मनुष्य को सद्गुरु की प्राप्ति होती है ।[1] प्रभु-कृपा से ही मनुष्य को गुरु-शब्द प्राप्त होता है तथा शब्द के अभ्यास से सभी दुर्वृत्तियों का नाश हो जाता है ।[2] उसकी कृपा-दृष्टि से गुरु-शब्द का विचार प्राप्त होता है ।[3] उसी की कृपा से शब्द का शरीर में निवास होता है तथा मनुष्य के अन्दर से सभी भ्रम दूर हो जाते हैं ।[4] तथा मनुष्य को धैर्य की प्राप्ति हो जाती है ।[5] ईश्वर-कृपा से ही मनुष्य को प्रामाणिकता का अटल निशान प्राप्त होता है ।[6]

ईश्वर दयालु है तथा सदैव अपनी कृपा-दृष्टि की वर्षा करता रहता है । परन्तु मनुष्य का अहंकार तथा अज्ञानता उस पर ईश्वर-कृपारूपी वर्षा की बूँद नहीं पड़ने देती । ऐसे अभिमानी एवं सत्यता के विरोधी लोगों पर उसकी कोप-दृष्टि पड़ती है । गुरु नानक वाणी में स्पष्ट उल्लेख है कि ईश्वर जैसी दृष्टि करता है वैसा ही मनुष्य बन जाता है । यदि वह कृपादृष्टि करे तो अच्छा और यदि कोपदृष्टि करे तो मनुष्य बुरा बन जाता है । उसकी दृष्टि के बिना जगत् में कोई भी नहीं है ।[7] वास्तविकता तो यह है कि यदि

---

1. नदरि करहि जे आपणी ता नदरि सतिगुरु पाइआ ।।
   -आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 280
2. नानक नदरि करे सो पाए ।
   आस अंदेसे ते निहकेवलु हउमै सबदि जलाए ।। आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 288
3. नदरी करमी गुर बीचारु ।। गउड़ी म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 138
4. नदरि करे सबदु घट महि वसै विचहु भरमु गवाए ।। रामकली म॰१, सिध गोसटि, गु॰ना॰र॰522
5. नदरि करे तां बंधां धीर ।। मलार म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰ 706
6. करमि पवै नीसानु न चलै चलाइआ ।। माझ म॰१, वार, गु॰ना॰र॰134
   नदरी करमि पवै तीसाणु ।। जपु जी, गु॰ना॰र॰ 20
7. जैसी नदरि करे तैसा होइ ।।
   विणु नदरी नानक नही कोइ ।। धनासरी म॰१, पदे, गु॰ना॰र॰366

उसकी कृपा-दृष्टि विपरीत हो जाए तो बड़े-बड़े सुल्तान एवं सम्राट् भी घसियारे के समान कंगाल बन जाते हैं तथा दर-दर की भीख मांगने के लिए बाध्य हो जाते हैं और कई बार तो उन्हें मांगने पर भी भिक्षा प्राप्त नहीं होती ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात हो जाता है कि गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित ईश्वर-कृपा का सिद्धान्त वैदिक विचारधारा के अनुरूप ही है । वैदिक काल में यह धारणा अपने प्रारम्भिक दौर में थी जिसका कुछ निकास उपनिषदों में हो गया तथा गुरु नानक वाणी में वह पूर्णरूपेण विकसित हो गई है ।

= = = = = =

---

1. नदरि उपठी जे करे सुलताना घाहु कराइदा ।।
दरि मंगनि भिख न पाइया ।।
- आसा म॰१, वार, गु॰ना॰र॰ 302

उपसंहार

समस्त भारतीय धर्म एवं दर्शन का उत्स वेद है । चिरकाल से वेदों पर आधारित धर्म एवं दर्शन का यह अजस्र प्रवाह मानव को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख कर उसके जीवन को शान्त और सरस बनाता रहा है । जिस प्रकार कुछ गन्दे नाले सतत प्रवाहित होती हुई नदी के जल को मलिन बना देते हैं उसी प्रकार अनेकों विदेशी आक्रमणकारियों ने इस प्रवाह को रोकने एवं विकृत बनाने के प्रयत्न किए, किन्तु यह महान् भारतभू समय-समय पर ऐसे महापुरुषों को जन्म देती रही है जो इस प्रवाह में आई विसंगतियों का निवारण कर उसे मानव-कल्याण के योग्य बनाते रहे हैं । इसी परम्परा में मध्यकाल में, जब वैदिक धर्म एवं दर्शन अत्यधिक विकृत हो चुका था, गुरु नानक देव जी का प्रादुर्भाव हुआ । वे प्रतिभाशाली, उदारवृत्ति एवं स्वतन्त्र चिंतक थे । धर्म के विषय में वे पक्षपात रहित तथा उदार थे । वे इतने तटस्थ और स्पष्टवादी थे कि उन्होंने प्रत्येक बुराई की आलोचना की, परन्तु उनकी यह आलोचना निन्दा परक नहीं थी । उनकी विचारधारा का मूलाधार वेद तथा उपनिषद् ही रहे हैं । उन्होंने ब्राह्मणकालीन कर्म-काण्ड तथा पुराणों के काल में आई विकृतियों का अनुसरण नहीं किया बल्कि वैदिक धर्म एवं दर्शन को मानव-कल्याण की कसौटी पर परख कर लोगों के सामने प्रस्तुत किया । उन्होंने इस में प्रविष्ट बुराइयों, कुरीतियों एवं आडम्बरों को झटक कर इसमें समयानुकूल संशोधन भी किए । जिससे प्राचीन काल से चला आ रहा यह शाश्वत प्रवाह पुनः मानव-कल्याणकारी एवं मोहक बन गया । गुरु नानक देव जी ने वेश, बाह्याचार, कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, जातिवाद एवं बहुदेववाद आदि मलिनताओं का प्रक्षालन कर उसे आदर्श रूप में प्रस्तुत किया जिससे वह जन-साधारण के लिए भी ग्राह्य हो गया ।

गुरु नानक देव जी के प्रादुर्भाव के समय राजा लोग अपना कर्त्तव्य भूल कर प्रजा की रक्षा करने के स्थान पर शोषण ही करते थे । धक्केशाही, अपव्यय, लड़ाई-झगड़े, चोरी, डकैती एवं बलात्कार आदि राजनैतिक विघटन के सभी तत्त्व वर्तमान थे । असत्यवादिता, घूसखोरी, निर्लज्जता एवं अन्धविश्वासों

के कारण लोग सदाचरण से दूर हो गए थे । समाज में नारी की पतनोन्मुखी स्थिति, जातीय ऊँच-नीच, मूर्तिपूजा, पाखण्ड एवं आडम्बर भारतीय संस्कारों को पतन की ओर ले जा रहे थे । धर्म नाम-मात्र को रह गया था, इसका स्थान बाह्याचार, वेश एवं साम्प्रदायिकता ने ले लिया था । मुसलमान शासक बल पूर्वक धर्म परिवर्तन करवाते थे । ऐसी अवस्था में गुरु नानक देव जी ने भारतीय संस्कृति के गिरते हुए प्रासाद को सहारा दिया । उन्होंने न केवल अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठाई बल्कि गतिहीन एवं रूढ़ियों से जर्जरित परम्पराओं में नई चेतना फूंक कर भारतीय संस्कारों को नया जीवन प्रदान किया । समाज में सभी प्रकार की ज्यादतियों और असमानताओं का उन्होंने कड़ा विरोध किया । जीवन-संघर्ष को त्यागकर वनों की तरफ़ पलायन करने वाले लोगों को उन्होंने गृहस्थ का महत्त्व एवं जीवन-यापन की उचित पद्धति बताई । गुरु नानक देव जी से पूर्व भी कई सुधारवादी आन्दोलन हुए थे । भक्ति-लहर के अन्तर्गत लगभग सभी भारतीय सन्तों ने जातिवाद, कर्मकाण्ड, वेश एवं मूर्तिपूजा आदि का विरोध किया था, किन्तु साम्प्रदायिक एवं विवादग्रस्त होने के कारण इनको विशेष सफलता न मिल सकी । उनके उपदेशों में त्याग-भावना का आधिक्य होने के कारण भी ये समाज में विशेष सुधार न ला सके । गुरु नानक की सफलता का एक कारण यह भी था कि इनका उपदेश बौद्धिक कपोल-कल्पना पर आधारित नहीं था प्रत्युत व्यावहारिकता से पूर्ण था । उन्होंने अपने जीवन में जो कुछ भी लोगों से कहा पहले उसके अनुसार स्वयं जी कर देखा, उसकी उपयोगिता सिद्ध हो जाने पर ही लोगों को उसके अनुसार जीवन-यापन का उपदेश दिया ।

प्रत्येक व्यक्ति पर युगीन परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है । अतः गुरुनानक पर भी तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था । रुग्ण समाज एवं पीड़ित जनता को देखकर गुरु नानक का कोमल हृदय द्रवीभूत हो उठा । उन्होंने जहाँ सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया वहाँ अत्याचारी राजाओं के विरुद्ध भी आवाज़ उठाई । इसलिए धर्म एवं दर्शन के साथ-साथ उनकी वाणी में समाज-सुधार का शब्द भी सुनाई पड़ता है ।

भक्तिकालीन सन्त-कवियों में केवल गुरु नानक ही ऐसे महापुरुष हैं जिन की वाणी में धर्म एवं दर्शन के साथ-साथ राजनैतिक चित्रण भी हुआ है। वस्तुत: गुरु नानक का मुख्य उद्देश्य मानव के दु:खों का निवारण था। इसलिए धर्म के प्रति भी उनका दृष्टिकोण मानववादी रहा है।

गुरु नानक ने किसी भी धर्म की निन्दा नहीं की। हिन्दू को उन्होंने वास्तविक हिन्दू तथा मुसलमान को वास्तविक मुसलमान बनने का उपदेश दिया। वेदों के प्रति उनकी अपार श्रद्धा थी। भारतीय परम्परा के अनुरूप वेदों को अपौरुषेय मानते हुए उन्होंने इन्हें परमात्मा का यशोगान करने वाले एवं "सचिआर" कहा। वेदों के ज्ञान को प्रामाणिक मानते हुए वे इसे ईश्वर-प्राप्ति के लिए सहायक मानते थे।

वेदों की तरह गुरु नानक ने भी धर्म को मानवता का कल्याण करने वाला माना। उनके मतानुसार धर्म मनुष्य को जीवन-यापन की एक ऐसी पद्धति सिखाता है जिसमें सत्यभाषण, जीवों पर अनुकम्पा, सेवाभाव, भाणा (ईश्वरीय इच्छा) मानना, पक्षपातरहित, न्याययुक्त एवं विवेकपूर्ण व्यवहार करना, वासनाओं एवं बहिर्मुखता का परित्याग करना शामिल है। धर्माचरण के द्वारा ही मनुष्य शेष जीवों से श्रेष्ठ माना जाता है।

वेद-प्रतिपादित धर्म के लगभग सभी तत्त्व गुरु नानक को मान्य हैं। सामान्य तत्त्वों के अतिरिक्त धर्म के कुछ विशेष तत्त्व एवं चिह्न भी होते हैं। ये चिह्न मनुष्य को धर्म का स्मरण करवा कर उसे बुराई करने से रोकते हैं। वैदिक काल में इसी प्रकार का एक चिह्न यज्ञोपवीत (जनेउ) धारण किया जाता था। गुरु नानक के समय तक यह मात्र चिह्न बन कर रह गया था। लोग इसको धारण कर भी बुराई करते थे। इसलिए गुरु नानक देव जी ने सूत्र के यज्ञोपवीत के स्थान में एक आध्यात्मिक यज्ञोपवीत धारण करने की प्रेरणा दी, जिसमें दया, संतोष, संयम एवं सत्यादिक गुणों को धारण करना तथा इन्द्रियों को बुराई करने से रोकना ही प्रमुख तत्त्व है।

गुरु नानक देव जी के आविर्भाव के समय समाज में सूतक (अशौच) एवं श्राद्ध आदि का भी प्रचलन था। इन क्रियायों को गुरु नानक वाणी में कोई

मान्यता नहीं प्राप्त हुई । गुरु नानक वाणी में तीर्थों का भी विवेचन हुआ है । गुरु नानक वाणी में मुख्यरूप से धर्म, आत्मा, गुरु एवं प्रभु-नाम को तीर्थ मानते हुए उन्हें संसार रूपी सागर से पार उतारने वाला बताया गया है । इस से स्पष्ट होता है कि गुरु नानक उन्हीं क्रियाओं को स्वीकार करते हैं जिनसे मानव का कल्याण होता हो ।

देववाद के प्रति गुरु नानक का दृष्टिकोण एकेश्वरवादी है । यद्यपि वे बहुदेववाद के विरोधी नहीं थे तथापि उन्होंने देवताओं को परमात्मा के अधीन माना । सभी देवता परमात्मा के दरबार में उसका यशोगान करते हैं तथा उस से विभिन्न प्रकार के दानों की याचना करते हैं । ये उसी के आदेश का पालन करने वाले तथा उसी के भय से अपने-अपने कार्य में रत हैं । गुरु नानक वाणी में इन्हें काल के अधीन मानते हुए इनके स्थान में एक ईश्वर की स्तुति का उपदेश दिया गया है । गुरु नानक की एकेश्वरवाद की धारणा भी मानव-कल्याण एवं समाज सुधार की भावना से प्रेरित है । विभिन्न देवताओं की स्तुति करने वाले लोग अपने देव को दूसरों से श्रेष्ठ मानते थे, जिससे उनमें विवाद खड़े हो जाते थे । इन विवादों को दूर कर समाज को एक सूत्र में बांधने के लिए उन्होंने जनता को एक निर्वैर ईश्वर की उपासना का उपदेश देकर उन के वैर-विरोध समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया ।

कर्मकाण्डवाद अथवा यज्ञवाद के विषय में गुरु नानक औपनिषदिक विचारधारा के अधिक समीप दिखाई पड़ते हैं । उपनिषदों की तरह गुरु नानक वाणी में भी कर्मकाण्डीय विधान को समर्थन न मिल सका । इसके स्थान में गुरु नानक आध्यात्मिक यज्ञ करने का उपदेश देते हैं जिसमें काम एवं क्रोध की अग्नि प्रज्जवलित की जाती है तथा उस में तृष्णा तथा सभी प्रकार के स्वादों की आहुति दी जाती है । इस प्रकार शुद्ध-चित्त होकर हरि-नाम-स्मरण करने से व्यक्ति त्रिविध दु:खों से छूट सकता है ।

धर्म के स्वरूप एवं विविध तत्त्वों को केवल जान लेना ही पर्याप्त नहीं है प्रत्युत उन्हें अपने जीवन में आत्मसात् कर लेने की आवश्यकता है । इसलिए भारतीय संस्कृति में "आचार: परमो धर्म:" कहा जाता रहा है । आचार-शास्त्र

ही व्यक्ति को जीवन-यापन की उत्तम पद्धति सिखाता है । वैदिक आचार की तरह गुरु नानक वाणी में भी सत्याचार को बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है । सत्याचार को सर्वोत्तम मानते हुए सभी धर्म-कर्मों को इस से नीचे माना गया है । इसके अतिरिक्त धर्माचरण, पाप न करना, परोपकार, जीव-दया, धैर्य, संयम, क्षमा, दान, निर्वैरता तथा ज्ञान आदि गुणों को आचार में लाने पर बल दिया गया है ।

गुरु नानक देव जी के प्रादुर्भाव के समय वर्ण-व्यवस्था भी बहुत विकृत एवं कठोर हो गई थी । कर्म से मानी जाने वाली वैदिक वर्ण-व्यवस्था अब जन्म से मानी जाती थी । इसलिए गुरु नानक को इसका भी परिमार्जन करना पड़ा। उन्होंने घोषणा की कि सभी में एक परमात्मा की ज्योति है इसलिए सभी समान हैं । मनुष्य की जाति एवं प्रतिष्ठा उसके कर्मों से होती है । जो प्रभु-नाम को विस्मृत कर चुके हैं वे नीच हैं तथा जो प्रभु-नाम-स्मरण करते हैं वे उच्च ।

आश्रम व्यवस्था के विषय में भी गुरु नानक की दृष्टि समाज-सुधारोन्मुखी रही है । उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों का उन्मूलन न करते हुए उसमें समयानुकूल संशोधन कर दिया । गृहस्थ को उच्चता प्रदान करते हुए उन्होंने सभी आश्रमों के धर्मों का समावेश इसी में कर दिया । गुरु नानक का संन्यासी गृहस्थ जीवन व्यतीत करता हुआ भी सांसारिक विषयों से निर्लेप रह कर श्वास-श्वास प्रभु-नाम-स्मरण करता हुआ चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है ।

मृत्यु, परलोक, स्वर्ग एवं नरक के विषय में भी गुरु नानक वैदिक विचारधारा के अनुगामी हैं । उनका वैशिष्ट्य इस बात में है कि वे स्वर्ग एवं नरक की लोक-विशेष के रूप में कल्पना नहीं करते । लोगों को नरक के भय तथा स्वर्ग के सुख का प्रलोभन देकर उनको सन्मार्ग पर लाने के लिए गुरु नानक वाणी में स्वर्ग एवं नरक शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, परन्तु गुरु नानक चौरासी लाख योनियों में भ्रमण को नरक तथा इन से मुक्ति को स्वर्ग मानते हैं ।

जीव को सुख-दुःख एवं स्वर्ग-नरक की प्राप्ति उसके कर्मानुसार होती है ।

हमारा वर्तमान पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों से संचालित है तथा वर्तमान में किए जाने वाले कर्म भावी जीवन के आधार हैं । किन्तु अहंकार को त्याग कर सभी कर्मों को ईश्वर-आदेशानुसार एवं त्यागभाव से करने से कर्मों के बन्धन को तोड़ा जा सकता है । जो कर्मबन्धन को नहीं तोड़ पाता, उसे इनका फल भोगने के लिए बारंबार जन्म धारण करना पड़ता है ।

सृष्टि रचना के विषय में गुरु नानक वाणी एवं वेदों में असाधारण समानता है । सृष्टि रचना से पूर्व केवल अन्धकार ही अन्धकार था । उस समय केवल निर्गुण ब्रह्म की ही सत्ता थी, उस से परे और कुछ नहीं था । उस की सृष्टि रचना की इच्छा हुई जिस से मात्र उसके "हुकम" से सृष्टि की रचना हो गई । वह ब्रह्म ही इसको धारण करता है और अन्त में वही इसे विलीन भी करता है । इसके आदि और अन्त के समय का ज्ञान भी उसी को है । इस जगत् में पाए जाने वाले सभी सम्बन्ध माया का ही प्रसार हैं । वह ब्रह्म ही माया को उत्पन्न करता है और यह उसी के अधीन रहती है । विभिन्न प्रकार के मनोविकार माया की उपज हैं । माया का स्वरूप सीमा रहित, छलयुक्त, द्वेषी, व्यभिचारी, विघ्नकारी एवं अनिर्वचनीय है । इसका प्रभाव इतना तीव्र है कि देवता भी उस से बच नहीं पाते ।

आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का विवेचन करने में भी गुरु नानक औपनिषदिक विचारधारा के अनुगामी हैं । जीवात्मा और परमात्मा में अंश-अंशी का संबन्ध माना गया है । जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से अनेकों देदीप्यमान स्फुलिङ्ग निकलते हैं और पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार परमात्मा से अनेकों जीवात्माएं निकलती हैं और अन्त में उसी में समाहित हो जाती हैं ।

वैदिक संहिताओं में सांसारिक दुःखों तथा मृत्यु से मुक्ति को मोक्ष माना गया है । मोक्ष के विषय में जो चित्रण गुरु नानक वाणी में हुआ है उसका आधार उपनिषद् है । उपनिषदों की तरह गुरु नानक वाणी में भी आत्म स्वरूप को जानकर ब्रह्म के साथ अभेदता की अवस्था को प्राप्त करना ही मोक्ष माना गया है । यह अवस्था मृत्यु के उपरान्त ही नहीं प्रत्युत जीवनकाल

में भी प्राप्त की जा सकती है । गुरु नानक वाणी में इस प्रकार की जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त करने पर विशेष बल दिया गया है जिसके लिए परमात्मा का "हुक्म" मानना, ज्ञान पूर्वक एवं निष्काम भाव से कर्म करना, गुरु की शरण में जाकर उससे ज्ञान प्राप्त करना, ईश्वर-कृपा तथा सत्संगति आदि आवश्यक साधन माने गए हैं ।

गुरु नानक वाणी में मुख्यत: ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का ही प्रतिपादन हुआ है, किन्तु निर्गुण होते हुए भी उसे "करता पुरख" तथा स्वयंभू कहा गया है । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण वह ब्रह्म एक, ओंकार स्वरूप तथा सत्यनाम वाला है । निर्भय, निर्वैर तथा त्रिकालातीत वह ब्रह्म अगम्य, अगोचर, निरंजन, निर्लिप्त, अलक्ष्य, निराकार एवं ज्योति-स्वरूप है । गुरु नानक का ब्रह्म अनिर्वचनीय, वर्णनातीत एवं स्वानुभूत्येकगम्य है । यद्यपि गुरु नानक वाणी में ब्रह्म की व्यावहारिक सत्ता का प्रतिपादन कर उसके सगुण स्वरूप का वर्णन भी किया गया है तथापि गुरु नानक की मूल आस्था निर्गुण ब्रह्म में ही है । गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप मूलत: वेदों तथा उपनिषदों पर आधारित है । भले ही लोग उस पर इस्लाम का प्रभाव मानते रहें, किन्तु इसका आधार वेद तथा उपनिषद् ही हैं । यह बात उल्लेखनीय है कि इस विषय में गुरु नानक बहुत उदार थे । जहाँ कहीं से भी उन्हें कोई अच्छाई प्राप्त हुई उसको उन्होंने ग्रहण किया तथा अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर उसे जन साधारण के लिए उपयोगी एवं ग्राह्य बना दिया । उनकी वाणी में उनका मौलिक चिंतन स्पष्ट झलकता है तथापि यह बात अधिकारपूर्वक कही जा सकती है कि धर्म एवं दर्शन के विषय में गुरु नानक वाणी में वैदिक विचारधारा ही प्रतिबिम्बित हुई है । गम्भीर-प्रकृति एवं स्वतन्त्र चिंतक गुरु नानक ने उस प्राचीन विचारधारा का परिमार्जन कर इस ढंग से प्रस्तुत किया कि उनकी यह विचारधारा प्राचीन होते हुए भी मौलिक बन गई है ।

उनका उपदेश किसी वर्ग-विशेष के लिए नहीं बल्कि सर्व-साधारण के लिए उपयोगी बन गया है । यही कारण है कि आज भी उनका उपदेश उतना ही उपयोगी है जितना 500 वर्ष पूर्व था । कितना अच्छा होता यदि पंजाब जैसी उलझी हुई समस्याओं का समाधान गुरु नानक वाणी के सन्दर्भ में ढूंढा जाता ।

= = = = = =

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

(क) मूल ग्रन्थ (भाष्य एवं टीका सहित) -

अथर्ववेद संहिता, 2 भाग, राजा राम, बाम्बे मैशीन प्रेस, लाहौर, 1930,31

अथर्ववेद संहिता, सायणभाष्य, संपा, विश्वबन्धु, काण्ड 1-5, 1960, 6-20, 1961, वी·वी·आर·आई·, होश्यारपुर ।

आश्वलायन श्रौतसूत्र, टीका नारायण गर्ग्य, संपा· गणेश शास्त्री, आनन्द आश्रम, पूना, 1917·

ईशादि नौ उपनिषद्, हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर, संव·2040

उपनिषद् 108, श्रीराम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1963

ऋग्वेद भाष्य, दयानन्द सरस्वती कृत संस्कृत एवं हिन्दी अनुवाद, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1973·

ऋग्वेद संहिता, सायण भाष्य, 5 खण्ड, वै·सं· मण्डल, पूना, 1933-51

एकदशोपनिषद्, स्वामी सत्यानन्द, स्वामी सत्यानन्द धर्मार्थ ट्रस्ट, दिल्ली, संव·2022

ऐतरेय आरण्यक, सायण भाष्य, संपा· नरहर शास्त्री आनन्दाश्रम, पूना, 1959

ऐतरेय ब्राह्मण, सायण भाष्य एवं उमाशंकर शर्मा कृत व्याख्या, चौ·सं·वि·, वाराणसी, 1963

कठोपनिषद्, सुरेन्द्र देव शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1976

काण्व संहिता, संपा· श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, संव· 1997

कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, सायण भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1959

गुरु ग्रन्थ-शब्दार्थ, शि·गु·प्र·क·, अमृतसर, 1959

गुरु नानक रचनावली, संपा· रत्न सिंह जग्गी, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1970

गोपथ ब्राह्मण, क्षेमकरण दास त्रिवेदी कृत संस्कृत एवं हिन्दी अनुवाद, प्रयाग, 1924·

छान्दोग्योपनिषद्, शांकर भाष्य सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, संव·2019

जैमिनी ब्राह्मण, संपा· रघुवीर, लोकेशचन्द्र सरस्वती विहार, नागपुर, 1954

ताण्ड्य महाब्राह्मण, सायण भाष्य, संपा· चिन्न स्वामी, चौ·सं·सी·, वाराणसी, संव·1991

तैत्तिरीयारण्यक, सायण भाष्य, संपा॰ बाबा पड़के शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, 1926
तैत्तिरीय ब्राह्मण , सायण भाष्य, संपा॰ नारायण शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, 1938
तैत्तिरीय संहिता, भट्टभास्कर एवं सायण भाष्य सहित, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1938
निरूक्तम्, यास्काचार्य, विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञान मण्डल, वाराणसी, 1966
बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकर भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, संव॰2029॰
ब्रह्मसूत्रम्, शांकर भाष्य, संपा॰ स्वामी विद्यानन्द गिरी, स्वामी पूर्णानन्द आश्रम, ऋषिकेश, 1969
मनुस्मृति, संपा॰ स्वामी तुलसी राम, स्वामी प्रेस, मेरठ, संव॰ 1971॰
महाभारत, संपा॰ श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1968
यजुर्वेद, संपा॰ श्रीराम शर्मा, गायत्री प्रकाशन, मथुरा, 1960
यजुर्वेद संहिता, रुद्राध्याय, सायण एवं भट्टभास्कर कृत भाष्य सहित, महादेव चिमना जी आप्टे, पूना, 1935
शतपथ ब्राह्मण, गंगा प्रसाद उपाध्याय, प्रा॰ वै॰ अनुसन्धान संस्थान, दिल्ली, 1967
श्रीगुरु ग्रन्थ साहिब, शि॰गु॰प्र॰क॰,, अमृतसर
श्रीमद् भगवद्गीता, शांकर भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर ।
षड्दर्शन, सूत्र और हिन्दी अनुवाद, स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1979
सामवेद संहिता, माधव एवं भरतस्वामी कृत भाष्य, अड्यार लायब्रेरी, मद्रास, 1938
सामवेद संहिता, श्रीराम शर्मा, गायत्री प्रकाशन, मथुरा, 1960

(ख) सामान्य ग्रन्थ (हिन्दी) -

अकाली, लाल सिंह कमला, मृत्यु का रहस्य, अनु॰ डा॰ साधु राम शारदा, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1974
अग्रवाल, वासुदेवशरण, उरु ज्योति, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 1953
अमृतसरी, आत्माराम तथा अन्य, सृष्टिविज्ञान, जयदेव ब्रदर्स, बड़ोदा, 1916॰
अंतोनोवा, को॰अ॰ तथा अन्य, भारत का इतिहास, अनु॰ नरेश वेदी, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981
आर्य, श्रीराम, ईश्वर सिद्धि, वैदिक साहित्य प्रकाशन, कासगंज, 1966

उपाध्याय, काशीनाथ, गुरु रविदास, राधास्वामी सत्संग, व्यास, 1983

उपाध्याय, बलदेव, भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1957

उपाध्याय, रामजी, भारत की संस्कृति साधना, रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, 1967

काणे, पी॰वी॰ धर्मशास्त्र का इतिहास, अनु॰ अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1973

काव्यतीर्थ, शिवशंकर, वेद तत्त्व प्रकाश, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, जालन्धर, 1906

कीथ, ए॰बी॰, वैदिक धर्म एवं दर्शन, 2 भाग, अनु॰ सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965

कुजूर, एस॰, वैदिक एवं धर्मशास्त्रीय साहित्य में नारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1982

गुजराती, बी॰एस॰, सिख धर्म के दस गुरु, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 1971

गुरमुख, निहाल सिंह, संपा॰ गुरु नानक: जीवन, युग एवं शिक्षाएँ, गुरु नानक फाउंडेशन, नई दिल्ली, 1970

गोपाल सिंह, गुरु नानक देव, नैशनल बुक ट्रस्ट आफ इंडिया, नई दिल्ली, 1969

गोयल, जयभगवान, संपा॰ संक्षिप्त गुरु प्रताप सूरज, प्रथम खण्ड, पंजाब विश्व-विद्यालय, चण्डीगढ़, 1968

चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा, दर्शन अनुचिन्तन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1964

चतुर्वेदी, परशुराम, उत्तरी भारत की संत परम्परा, भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1966

चतुर्वेदी, शिवदत्त शर्मा, वैदिक वर्णव्यवस्था और श्राद्ध, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, 1976

चौबे, बी॰बी॰, वैदिक वाङ्मय: एक अनुशीलन, प्रथम भाग, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशयारपुर, 1972

जग्गी, रत्न सिंह, गुरु नानक व्यक्तित्व, कृतित्व और चिंतन, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला, 1975

जोध सिंह, भाई, गुरमति निर्णय, अनु॰ डा॰ धर्मपाल मैनी, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1975

जौहर, सुरिन्दर सिंह, गुरु नानक: एक जीवनी, स्टर्लिंग पब्लिशर्ज, नई दिल्ली, 1975
डायसन, पाल, वेदान्त-दर्शन, अनु॰ संगमलाल पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1971
तिवारी, ब्रजगोपाल, दर्शनशास्त्र के मूल तत्त्व, पुस्तक भवन, राजामण्डी, आगरा, 1957
त्रिपाठी, गयाचरण, वैदिक देवता: उद्भव और विकास, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1981
त्रिलोचन सिंह, गुरु नानक का सिक्ख धर्म, श्री तख्त हरिमन्दर, पटना साहिब, 1969
त्रिवेदी, रामगोविन्द, हिन्दी ऋग्वेद, इंडियन प्रेस, प्रयाग, 1954
द्विवेदी, कैलाशनाथ, ऋग्वैदिक भूगोल, साहित्य निकेतन, कानपुर, 1984
द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद, मध्यकालीन धर्म साधना, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1962
दीक्षित, अप्पय्य, कुवलयानन्द, डा॰ भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, 1956
दीक्षित, लक्ष्मीदत्त, वेद मीमांसा, ईस्टर्न बुक लिंक्स, दिल्ली, 1980
दीवानचन्द, उपनिषद् दिग्दर्शन, वी॰वी॰आर॰आई॰, होशयारपुर, 1959
देवराज, नन्दकिशोर (संपा॰) भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1983
दैवरात ऋषि, छन्दोदर्शन, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1968
धर्मानन्त सिंह, वैदिक गुरमति, प्रथम भाग, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधी सभा पंजाब, जालन्धर, 1965
धस्माना, हरिराम, वेदमाता: ऋग्वैदिक भूगोल, लखनऊ, 1954
नारायण स्वामी, मृत्यु और परलोक, वैदिक साहित्य प्रचारिणी सभा, दिल्ली, 1934
〃 〃 , वेद रहस्य, प्रेम पुस्तक भण्डार, बरेली, 1960
नैष्ठिक, बलदेव, तीर्थ सन्देश, वैदिक योगाश्रम, मुजफ्फर नगर, 1971
पदम, गुरचरन सिंह, गुरु नानक: एक विवेचन, के लाल एण्ड कम्पनी, जालन्धर, 1972
परमहंस, सियाराम, मोक्ष-साधन, श्री स्वामी सियाराम पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुलतान, 1933
परमानन्द स्वामी, श्री जप्य जी साहब, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, 1929

परिव्राजक, स्वामी ब्रह्ममुनि, दार्शनिक अध्यात्मतत्त्व, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, 1957

पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मद्रुम, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, 1980

फतह सिंह, वैदिक दर्शन, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, संव॰2019

फ्रैंक थिली, पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, अनु॰ मधुकर, सैंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1954

भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का बृहद् इतिहास, खण्ड 1, भारतीय साहित्य भवन, दिल्ली, संव॰2008

भट्ट, कमलाकर, निर्णय सिन्धु, संपा॰ चण्डिका प्रसाद अवस्थी, तेज कुमार प्रेस, लखनऊ, 1952

भट्ट, नारायण, वेणीसंहार-नाटकम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1983

मिश्र, उमेश, भारतीय दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, 1964

मिश्र, जयराम, श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1960

मिश्र, जयराम, नानक वाणी, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, संव॰2018

मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1968

मैकडानल, ए॰ए॰, वैदिक देवशास्त्र, अनु॰ सूर्यकान्त, मेहरचन्द लछमन दास, नई दिल्ली, 1982

मैनी, धर्मपाल, श्री गुरू ग्रन्थ साहिब: एक परिचय, हिन्दी भवन, जालन्धर, 1962

राजाराम, आर्य-दर्शन, बाम्बे मैशीन प्रेस, लाहौर, 1918

" , उपनिषदों की शिक्षा, वही , " , 1924

" , वेद-शिक्षक, वही , " , 1927

" , वेदोपदेश, वही, " , 1901

राधाकृष्णन्, उपनिषदों की भूमिका, अनु॰ रामनाथ शास्त्री, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 1968

रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय, उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, अनु॰ रामानन्द तिवारी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1971

रामकृष्ण, ऋक्सूक्त-समुच्चय:, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1973

रेड, विश्वनाथ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1967

विकल, वाचस्पति पाण्डेय, ईशावास्योपनिषद्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1965

विद्यालंकार, निरूपण, भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1971

वियोगी, मोहनलाल, महतो, आर्य जीव-दर्शन, बिहार, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1971

वित्खु, सुरेण सिंह, आदि ग्रन्थ के परम्परागत तत्त्वों का अध्ययन, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला, 1978

विश्वबन्धु संपा॰, भारतीय कवि सन्त, वी॰वी॰आर॰आई॰, होशयारपुर, 1962

" मानवता का मान, वही, 1961

" वेद सन्देश, दयानन्द ब्रह्ममहाविद्यालय, लाहौर, दयानन्दाब्द 107

वेदालंकार, जयदेव, उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, भाग 1, प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, हरिद्वार, 1980

वेदालंकार, प्रशान्त, धर्म का स्वरूप, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1983

वेदालंकार, वेदप्रकाश, उपनिषद्-दर्पण, स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन मन्दिर, यमुनानगर, 1969

वैदिकमुनि, स्वामी हरिप्रसाद, वेद सर्वस्व, सद्धर्म्म प्रचारक, यन्त्रालय, दिल्ली, 1916

वैदिकमुनि, स्वामी हरिप्रसाद, जप संहिता, बाम्बे मैशीन प्रेस, लाहौर, 1933

व्यास अम्बिकादत्त, शिवराजविजय, प्रथम विराम, व्याख्याकार देवनारायण मिश्र, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1983

व्यास, रामनारायण, धर्म दर्शन, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1972

व्यासशिष्य, कुंवरलाल, वैदिक दर्शन, इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1980

शर्मा, बी॰पी॰, स्वामी रामानन्द: वैष्णव भक्ति आन्दोलन, विश्वभारती प्रकाशन, चण्डीगढ़, 1985

शर्मा, मुन्शीराम, गुरमत दिवाकर, प्रथम भाग, स्टार प्रेस, दिल्ली, 1920

शर्मा, मुन्शीराम, वेदार्थ-चन्द्रिका, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1967

शंगारी, टी॰आर॰ तथा अन्य, नाम सिद्धान्त, राधास्वामी सत्संग व्यास, 1985

शास्त्री, देवदत्त, संक्षिप्त मनुस्मृति, वी॰वी॰आर॰आई॰, होशयारपुर, 1962

शुक्ल, नित्यानन्द, ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टिविचार, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1983

श्रद्धानन्द स्वामी, मुक्ति-सोपान, आर्य कुमार सभा, दिल्ली, प्रथम संस्करण
सरस्वती, कृष्णानन्द स्वामी, ब्रह्मविद्या, वी·वी·आर·आई·, होशयारपुर, 1950
सरस्वती, दर्शनानन्द स्वामी, दर्शनानन्द-ग्रन्थ संग्रह, प्र· वैदिक आर्य पुस्तकालय, बरेली, संव· 1994
सहगल, मनमोहन, गुरु ग्रन्थ साहिब एक सांस्कृतिक सर्वेक्षण, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला, 1971
संघवी, सुखलाल, धर्म और समाज, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, 1951
सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, स्वाध्याय मण्डल पारडी, मण्डल, 1-1967; 2,3,4,5 - 1970; 6,7,8 -1978·
सांकलेश्वर, विष्णुदेव, वेद के दार्शनिक सूक्त, वेद मन्दिर, अहमदाबाद, 1957
सिद्धान्तालंकार, सत्यव्रत, वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1981
सेठी, विरेन्द्र, सन्त कबीर, अनु· शान्ति सेठी, राधा स्वामी सत्संग, व्यास, 1985
सेवा सिंह, माया और मायावाद, प्रतिभा प्रकाशन, होशयारपुर, 1985
स्टैनले लेनपूल, मध्यकालीन भारत, अनु· सूर्य कुमार जोशी, एस·चन्द्र एण्ड कम्पनी, दिल्ली
हीरा, भगत सिंह, जपु प्रवचन, नैशनल प्रेस आफ इण्डिया, दिल्ली, 1982

(ग) पंजाबी ग्रन्थ -

करतार सिंह, निरंकारी चमत्कार, लाहौर बुक शाप, लुधियाना, 1947
" " , सिक्ख इतिहास, 2 भाग, शि·गु·प्र·क·, अमृतसर, 1981
कवीशर, सरदूल सिंह, सिक्ख धर्म-दर्शन, संपा· बज़ीर सिंह, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, 1969
कृपाल सिंह ज्ञानी, अमीर कथा शान्ति सागर, भाई जवाहर सिंह, कृपालसिंह एण्ड को·, अमृतसर, संव·2038
कृपाल सिंह ज्ञानी, श्री आसा जी दी वार, सटीक, भाई जवाहर सिंह, कृपाल सिंह एण्ड को·, अमृतसर, 1982
कोहली, सुरिन्दर सिंह संपा·, गुरु नानक जीवन, दर्शन अते कवि कला, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, 1969

गरेवाल, हरविन्दर कौर, श्री गुरु नानक देव जी दीआं वारां दी समाजक महत्तता, हजूरिआ एण्ड सन्ज़, जालन्धर, 1976

जग्गी, रत्न सिंह, गुरु नानक दी विचारधारा, नवयुग पब्लिकेशन, दिल्ली, 1969

जन्मसाखी (भाई बाले वाली) भाई जवाहर सिंह कृपाल सिंह एण्ड को., अमृतसर

जागीर सिंह, जपु प्रकाश, रब्बी प्रकाशन, दिल्ली, 1981

जोध सिंह भाई, गुरु नानक ते भारती धर्म दर्शन, पंजाबी विश्व. पटियाला, 1982

" , भगत बाणी सटीक, लाहौर बुक शाप, लुधियाना, 1957

ढिल्लों, जसविन्दर कौर, गुरु नानक दी कीमत-मीमांसा, गुरु नानक देव विश्व., अमृतसर, 1982

तारन सिंह, गुरु नानक चिंतन ते कला, न्यू बुक कम्पनी, जालन्धर, 1969

तारन सिंह, संपा. गुरु नानक बाणी प्रकाश, 2 भाग, पंजाबी विश्व. पटियाला, 1969

तिवाड़ी, विश्वानाथ, क्रांतीकार गुरु नानक, पंजाब विश्व., चण्डीगढ़, 1969

त्रिपाठी, आर.एस; प्राचीन भारत दा इतिहास, अनु. गुरबचन सिंह सेठी, पंजाबी विश्व. पटियाला, 1977

त्रिलोचन सिंह, जीवन चरित्र गुरु नानक देव, दिल्ली सिक्ख गुरद्वारा बोर्ड, दिल्ली, 1972

दलजीत सिंह, गुरु नानक: जोत ते सरूप, देव-दूत प्रकाशन, लुधियाना, प्रथम संस्करण

दित्त सिंह ज्ञानी, मेरा अते साधु दयानन्द जी दा संवाद, डा. बलदेव सिंह, लाहौर, 1916

दीप, मिसज़ देविन्दर, गुरु ग्रन्थ साहिब विच संकलित गुरु नानक बाणी विच भारती सभिआचार दा चित्रण, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1983

नरैण सिंह, करम, भगत पूरन सिंह, पिंगलवाड़ा, अमृतसर, 1984

नाभा, कान्ह सिंह भाई, गुरमत प्रभाकर, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1970

" " , गुरमत सुधाकर, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1970

निरमले, जगजीत सिंह, भानू प्रकाश, सुलतानपुर कोकरी, 1984

पदम, प्यारा सिंह संपा. गुरु ग्रन्थ विचार कोश, पंजाबी विश्व. पटियाला, 1969

प्रीतम सिंह, संपा॰ सिक्ख फलसफे दी रूप-रेखा, गुरु नानकदेव विश्व॰, अमृतसर, 1975
प्रीतम सिंह, सिक्ख विचारधारा, शि॰गु॰प्र॰क॰, अमृतसर, 1981
प्रीतम सिंह, गुरु नानक विचार अध्ययन, वही, 1969
पुरी, जे॰आर॰, गुरु नानक दा रूहानी उपदेश, राधास्वामी सत्संग, व्यास, 1983
पुरी, जे॰आर तथा शंगारी, टी॰आर॰, साईं बुल्लेशाह, वही, 1963
प्रेम प्रकाश सिंह, गुरु नानक अते निर्गुणधारा, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1973
बरहमी, सन्ता सिंह, करणी प्रधान, लाहौर बुक शाप, लुधियाना, 1978
बाहरी, सीताराम, नानक बाणी विच फलसफा, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1963
भगती कावि, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1970
मैकालिफ, एम॰ए॰, सिक्ख इतिहास, प्रथम भाग, अनु॰ अजायव सिंह, लाहौर बुक शाप, लुधियाना, 1971
लाल सिंह, संपा॰, गुरु नानक दा सन्देश, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1970
बज़ीर सिंह, नानक बाणी चिंतन, लाहौर बुक शाप, लुधियाना, 1969
वारां भाई गुरदास, शि॰गु॰प्र॰क॰, अमृतसर, 1952
विनोवा भावे, जपु जी, अनु॰ सीताराम बाहरी, पंजाबी विश्व॰, पटियाला, 1981
वीर सिंह भाई, श्री गुरु नानक चमत्कार, 2 भाग, साहित्यसदन, दिल्ली, 1964
शान, हरनाम सिंह, वाणी भगत रविदास जी की, सूचना ते लोक सम्पर्क विभाग, पंजाब सरकार, चण्डीगढ़, 1984
शेर सिंह ज्ञानी, गुरमति दर्शन, शि॰गु॰प्र॰क॰, अमृतसर, 1982
" , विचारधारा, लाहौर बुक शाप, लुधियाना
सन्त निरंकार सिंह, पद-अर्थ-विचारसागर और निरंकार ज्ञान विवेक, देवीदास प्रिंटिंग प्रेस, अमृतसर, 1939
ब्रह्मदी, करतार सिंह ज्ञानी, गुरु फिलासफी, जे प्रिंटिंग प्रेस, यमुनानगर, प्रथम संस्करण
सावन सिंह, महाराम, गुरमत सिद्धान्त, 2 भाग, राधा स्वामी सत्संग व्यास, 1984
साहिब सिंह, रब्बी वाण नं॰2, गुरुरामदास प्रिंटिंग प्रेस, अमृतसर, 1937

साहिब सिंह, गुरबाणी व्याकरण, सिंह ब्रदर्ज़, अमृतसर, 1982

सोढी, तेजा सिंह, कथा सागर, भाई चतर सिंह जीवन सिंह, अमृतसर, 1978

हीरा सिंह, सटीक जपुजी ते शब्द हज़ारे, मोती प्रिंटिंग प्रेस, होशयारपुर, 1939

(घ) English Books -

Aguilar, E., Sacrifice in the Rgveda: Doctrinal Aspect, Bhartiya Vidya Prakashan, 1976.

Anand, B.S. Guru Nanak Religion and Ethics, Punjabi Uni., Patiala, 1968.

Bandyopadhyay, A.C. Studies in the Brahmanas, Motilal Banarsi Dass, Delhi, 1963.

Bandhyopadhyaya, N.V., ~~N.V.~~ The Future of Religion, Munshiram Manoharlal, Publishers, Pvt. Ltd., Delhi, 1981.

Banerjee, I.B., Evolution of the Khalsa, Vol. I, University of Calcutta, 1936.

Bloomfield, M., The Religion of the Veda, Indological Book House, Delhi, 1972.

Chattopadhyaya, B.K. The Teachings of the Upnishads, University of Calcutta, 1952.

Chaubey, B.B.: Treatment of Nature in the Rgveda, Vedic Sahitya Sadan, Hoshiarpur, 1970.

Cunnigham, J.D.A. History of the Sikhs, S. Chand & Co., Delhi, 1966.

Dandekar, R.N., Vedic Religion and Mythology, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

Desai, G.G. Thinking with the Yajurveda, Asia Publishing House, Bombay, 1967.

Devasthali, G.V. Religion and Mythology of the Brahmana, University of Poona, 1965.

Gupta, B.S., Edi. Religion: A Solution of Modern Problems, D.S. College Publications, Aligarh, 1982.

Griswold, H.D.: The Religion of the Rgveda, Motilal Banarsidass, Varanasi, 1972.

Hopkins, E.W.; Origin and Evolution of Religion, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi.

Jodh Singh Bhai, Some Studies in Sikhism, Lahore Book Shop, Ludhiana, 1953.

Keith, A.B., Religion and Philosophy of the Veda and Upanisads, Harvard University Press, 1925.

Kohli, S.S., A Critical Study of Adi Granth, The Punjabi Writers Cooperative Industrial Society, N. Delhi, Ist Ed.

" , Philosophy of Guru Nanak, Panjab University, Chandigarh, 1969.

Macculiffe M. and others, The Sikh Religion, Sushil Gupta Pvt. Ltd., Calcutta, 1958.

Macdonell, A.A., A History of Sanskrit Literature, Motilal Banarsidass, Varanasi, 1962.

" , Vedic Mythology, Oxford University Press, Strassburg, 1897.

" and Keith, A.B., Vedic Index of Names and subjects, 2 Vols., Motilal Banarsidass, Delhi, 1958.

Miriyanna, M.A., Outlines of Indian Philosophy, George Allen & Unwin Pvt. Ltd., Bombay, 1973.

Mohan Singh, Shri Guru Nanak Dev and Nation Building, The Sikh Religious Tract Society, Tarantarn, 1934.

Narang, G.C., Transformation of Sikhism, New Book Society of India, N. Delhi, 1950.

Sagar, S.L., Hindu Culture & Cast System in India, Uppal Book Store, Delhi, 1975.

Sharma, D.R., The Concept of Atman in the Principal Upanisads, Dinesh Publication, New Delhi, 1972.

Sikka, A.S., Facets of Guru Nanak's Thought, Bee Key Publications, Ludhiana, 1972.

Taran Singh, Ed. Guru Nanak and Indian Religious Thought, Punjabi University, Patiala, 1970.

Wazir Singh, Aspects of Guru Nanak's Philosophy, Lahor, Book Shop, Ludhiana, 1969.

(ङ) कोश -

अमरकोश, अमर सिंह, टीका विश्वनाथ झा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

गुरु शब्द रत्नाकर, महान कोश, भाई कान्ह सिंह नाभा, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1981

पंजाबी-हिन्दी कोश, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1974.

बृहत् हिन्दी कोश, संपा. कालिका प्रसाद, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, संव.2020

ब्राह्मणोद्धार कोश, संपा॰ विश्वबन्धु, वी॰वी॰आर॰आई॰, होश्यारपुर, 1966

वाचस्पत्यम्, संपा॰ तारकनाथ तर्क वाचस्पति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बाराणसी, 1962

वैदिक पादानुक्रम कोश, संपा॰ विश्वबन्धु, वी॰वी॰आर॰आई॰, होश्यारपुर

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी तथा अन्य रामनारायण लाल बेनी प्रसाद, इलाहाबाद, 1957

संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1969

हिन्दी-पंजाबी कोश, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, प्रथम संस्करण

हिन्दी विश्व कोश, संपा॰ रामप्रसाद त्रिपाठी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1966

हिन्दी साहित्य कोश, संपा॰ धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, संव॰2020

हिन्दु धर्म कोश, राजबली पाण्डेय, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1978

Encyclopadia Britanica, Edinburgh, Adam and Charls Black, Willian Benton, London, 1963.

Encyclopadia of Religion and Ethics, James Hastings, New York, 1964.

Oxford Dictionary, S. Kumari, New Standard Publication, Delhi.

(च) पत्र-पत्रिकाएँ -

आलोचना, पंजाबी साहित्य अकादमी, लुधियाना (गुरु नानक अंक)

कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर

खोज-पत्रिका, गुरु नानक विशेष अंक, पंजाबी विश्व॰ पटियाला, 1969

गुरु नानक सम्बन्धी तिन खोज पत्र, पंजाबी विश्व॰ पटियाला, 1970

जन-साहित्य, गुरु नानक अंक, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1969

पंजाब सौरभ, गुरु रविदास विशेषांक, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1977

पंजाबी दुनियां, गुरु नानक अंक, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1969

भारतीय दर्शन एवं धर्म-मतों के सन्दर्भ में गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित जीव-स्वरूप का विवेचन, डा॰ हरवंशलाल, पंजाब विश्व॰, चण्डीगढ़, 1968

विश्वज्योति, वी॰वी॰आर॰आई॰, होश्यारपुर

Journal of Sikh Philosophy, Sikh Studies Foundation, Patiala.

Journal of Sikh Studies, G.N.D. University, Amritsar.

Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland, London.

Sikh Review, July 1966, Calcutta.

Vishveshvaranand Indological Journal, V.V.B.I.S. & I.S. P.U., Hoshiarpur.

= = = = = =